प्राक्कथन

अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद के जबलपुर अधिवेशन मे पारित प्रस्ताव के आधार पर प० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री वाराणसी ने जो "जैनतत्त्वमीमासा" पुस्तक लिखो थी और जिसका वाचन बीना (सागर) मे हुई विद्वद्गोष्ठी मे हुआ था उसके सम्बन्ध मे उसी अवसर पर विद्वत्परिपद् की कार्यकारिणी ने निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया था।

"भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् के जबलपुर अधिवेशन के प्रस्ताव सख्या २ से प्रेरणा पाकर माननीय प० फूलचन्द्र जी शास्त्री वाराणसी ने निमित्त-उपादान आदि विषयो पर शोधपूर्ण पुस्तक लिखो है। शास्त्री जी की इच्छा थी कि इस पुस्तक पर भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद के द्वारा आयोजित विद्वद्गोष्ठी मे विचार विनमय हो। तदनुसार दि० जैन समाज बीना (सागर) ने श्रुत पञ्चमी से ज्येष्ठ शुक्ला १२ (३० मई से ६ जून) तक अपने यहाँ विद्वद्गोष्ठी का आयोजन किया। दि० जैन समाज के वर्तमान इतिहास मे यह पहला अवसर था जब इतने समय तक ५ घण्टे प्रतिदिन सब विचारो के विद्वानो ने मतभेद होने पर भी महत्वपूर्ण विषयो पर गम्भीरता, तत्परता तथा सौहार्द पूर्वक विवेचन दिये और उस अवसर पर अनेक सुझावो का आदान-प्रदान किया गया। यह कार्यकारिणी शास्त्री जो द्वारा पुस्तक लेखन मे किये गये अथक परिश्रम की सराहना करती है।"

यह प्रस्ताव स्पष्ट बतला रहा है कि प० फूलचन्द्रजी की उक्त पुस्तक पर विद्वानो मे सैद्धान्तिक मतभेद था। इसी मत-भेद के कारण मैंने तभी यह निर्णय किया था कि जैन सिद्धात के सरक्षणार्थ मैं उक्त पुस्तक की मीमासा करने का प्रयत्न करूँगा। तदनुसार उस पुस्तक के प्रकाश मे आने पर मैंने "जैनतत्त्वमीमासा की मीमासा" नाम से उस पुस्तक की समालोचना के रूप मे एक लेखमाला प्रारम्भ की थी जो २३ फरवरी १९६१ से जैनगजट पत्र मे प्रकाशित होती रही। इस लेखमाला के लिखने मे मेरा क्रम यह था कि जो मैं लिखता था वह जैन-गजट मे प्रकाशनार्थ भेज देता था और तब आगे का लिखना प्रारम्भ करता था। यह क्रम करीब १½–२ वर्ष तक चला, लेकिन पश्चात् जैनगजट की उपेक्षावृत्ति के कारण मुझे आगे लिखना बन्द कर देना पडा जो अभी तक बन्द है।

प० फूलचन्द्र जी द्वारा "जैनतत्त्वमीमासा" लिखी जाने के पूर्व से ही जैन मान्यताओ के सम्बन्ध मे कानजी स्वामी के साथ विद्वानो का तीव्र मतभेद था जिसे समय-समय पर विद्वत्परिषद ने प्रगट किया और इसी विरोध के कारण विद्वत्परिषद ने दूसरी मे कानजी स्वामी से सैद्धान्तिक चर्चा करने की योजना बनाने के लिये पूज्यपाद प० गणेश प्रसाद जी वर्णी के तत्त्वावधान मे विद्वत्सम्मेलन बुलाया था, लेकिन इसके पश्चात् जब प० फूलचन्द्र जी की 'जैनतत्त्वमीमासा' पुस्तक प्रकाश मे आयी तो सम्मेलन द्वारा किया गया निर्णय कार्यकारी नही हो सका तथा प० फूलचन्द्र जी के साथ चर्चा करने की बात तीव्रता के साथ सामने आई, लेकिन वह भी शिथिल पड़ गयी।

मैं तो किसी के साथ भी चर्चा का अत्यन्त विरोधी था क्योंकि मैं जानता था कि विद्वानो की कषाय पूर्ण भावना चर्चा को सफल नही होने देगी। यही कारण था कि करीब सन् १९६१ के मध्य जैन सघ मथुरा की कार्यकारिणी की जो बैठक होटल शाकाहार दिल्ली मे हुई और जिसमे प० राजेन्द्र कुमार जी मथुरा, प० फूलचन्द्र जी वाराणसी और मैं भी सम्मिलित हुए थे, उस बैठक के अवसर पर जब पं० राजेन्द्र कुमार जी और प० फूलचन्द्र के मध्य चर्चा की बात चली तो मैंने दृढता के साथ उसका विरोध किया था।

यद्यपि उस समय मेरी लेखमाला की शुरूआत ही थी, लेकिन जब उस लेखमाला का जैन गजट मे प्रकाशन बन्द हो गया और प० फूलचन्द्र जी ने पुन चर्चा करने का मुझसे अनुरोध किया और विश्वास दिलाया कि उनकी ओर से चर्चा वीतराग भाव से तत्त्व फलित करने की दृष्टि से ही होगी तो मै तैयार हो गया तथा जब मेरे व प० फूलचन्द्र जी के हस्ताक्षरो से एक वक्तव्य चर्चा करने के उद्देश्य से समाचार पत्रो मे प्रकाशित हुआ तो उसे लक्ष्य मे रखकर श्री १०८ आचार्य शिव सागर के तत्त्वावधान मे जयपुर (खानिया) मे तत्त्व चर्चा का आयोजन ब्र० सेठ हीरालाल जी पाटनी निवाई वालो के आर्थिक सहयोग से ब्र० लाडमल जी जयपुर वालो ने किया और अक्टूबर सन् १९६३ मे वह चर्चा जयपुर (खानिया) मे की गई। दु.ख की बात यह रही कि जैसी मेरी आशका थी, चर्चा प्रारम्भ होने से पूर्व सोनगढ ने चालबाजी से काम लिया और प० फूलचन्द्र जी उस बहाव मे बहकर चर्चा के मूल आधार से पीछे हट गये जो उन्होने स्वय मेरे समक्ष प्रस्तुत किया था, तब जिस रूप मे वह चर्चा हुई वह समाज के सामने है।

यद्यपि इस सम्बन्ध मे विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता है, परन्तु यदि कभी जयपुर (खानिया) तत्त्व चर्चा की समीक्षा लिखी गई और उसके प्रकाशन की व्यवस्था हुई तो उसके सम्बन्ध मे प्रकाश अवश्य डाला जायगा। यह अवसर उसके सम्बन्ध मे प्रकाश डालने का नही है। यहाँ पर तो तत्त्व चर्चा के सम्बन्ध मे जो उल्लेख किया है वह इस प्रसग मे किया है कि तत्त्व चर्चा मे भाग लेने के लिये प० राजेन्द्र कुमार जी और मैं भी पहुँचे थे और वहाँ पर हम लोगो ने ऐसा विचार विनमय किया था कि सोनगढ से जैन सस्कृति का सरक्षण करने के लिये एक सुदृढ सगठन बनाया जाव। आगे चलकर प० राजेन्द्र कुमार जी ने जो "सस्कृति सेवक समाज" की स्थापना की उसका आधार हम दोनो का वह विचार-विनमय ही था।

प० राजेन्द्र कुमार जी की तीव्र अभिलाषा थी कि 'जैन-तत्त्वमीमासा की मीमासा' पुस्तक रूप मे जैन सस्कृति सेवक समाज की ओर से प्रकाशित हो, परन्तु आर्थिक कठिनाइयो के कारण यह कार्य अभी तक सम्पन्न नही हो सका।

वास्तव मे यह बात तथ्य पूर्ण है कि दि० जैन समाज मे सोनगढ से जो विचारधारा प्रवाहित हुई है उसके प्रति एक ओर तो बहुत सा विद्वद्वर्ग और धनिक वर्ग झुक गया है ओर दूसरी ओर जिनका लगाव उसके प्रति नही है वे विद्वान और धनिक भी उदासीन बने हुए हैं, यही कारण है कि न तो विद्वान सोनगढ विचार के विरुद्ध ठोस साहित्य तैयार कर रहे हैं, और न धनिक भी आवश्यक साहित्य के प्रकाशन की ओर ध्यान दे रहे हैं जबकि सोनगढ का लक्ष्य अपनी ओर से साहित्य

का प्रकाशन करके समस्त जैन समाज मे भर देना चाहता है। जैन समाज की तो यहाँ तक दशा हो रही है कि जो व्यक्ति सोनगढ विचारधारा के विरोधी भी हैं तो वे भी सस्ता होने की वजह से सोनगढ से प्रकाशित साहित्य ही खरीदना चाहते हैं और खरीद करते हैं जिसका प्रभाव मनोवैज्ञानिक ढग से समाज पर बहुत ही बुरा पड रहा है।

माना कि कानजी स्वामी के चरणो मे समाज की ओर से हजारो और लाखो की सख्या मे रुपया बहता चला आ रहा है परन्तु इसका आशय यह नही कि सोनगढ से सिद्धान्त सरक्षण के लिये पैसे की कमी समाज मे हो गई है। बात केवल यह है कि धनिक वर्ग की रुचि जो अनावश्यक कार्यों की ओर हो रही है उसकी अपेक्षा अन्य आवश्यक कार्यो की ओर हो जावे।

भगवान महावीर के पश्चात् जैन समाज का जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दो वर्गों मे और फिर उपवर्गो मे विभाजन अब तक होता आया है उनमे से किसी भी वर्ग या उपवर्ग ने जैन सस्कृति की सैद्धातिक मान्यता पर इस तरह का कुठाराघात नही किया है जैसा कि सोनगढ की ओर से किया जा रहा है। इसलिये इस सम्बन्ध मे समाज जितना और जितने शीघ्र सचेत हो जावे उतना ही उत्तम होग।

अस्तु! 'जैनतत्त्वमीमासा की मीमासा' का अभी तक एक भाग ही प्रकाशित हो रहा है, लेकिन इसे दश वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हो जाना चाहिये था। वास्तव मे यदि यह दश वर्ष पूर्व प्रकाशित हो जाता तो अब तक और भी साहित्य निर्मित होकर प्रकाशित हो सकता था। अब भी यदि अनुकूलता रही

और हुई तो 'जैनतत्त्वमीमांसा की मीमांसा' का द्वितीय भाग और 'जयपुर (खानिया) तत्त्व चर्चा' की समीक्षा भी निर्मित होकर प्रकाश मे आ जावेंगे।

मेरा निवेदन सक्षम विद्वानो से तो यह है कि वे जैन सिद्धान्त के लिये घातक सोनगढ विचारधारा को प्रभावहीन वनाने के अनुकूल ठोस साहित्य का उचित ढग से निर्माण करें और धनिको से यह है कि वे आज के समय मे अनुकूल रुचि परिवर्तन करके आवश्यक कार्यों मे ही अपने धन का उपयोग करें जिससे जैन सस्कृति का सरक्षण हो सके।

'जैनतत्त्वमीमासा की मीमासा' जैन संस्कृति सेवक समाज की ओर से हो रही है इसके लिये मैं उसका अत्यन्त आभारी हूँ। जैन सस्कृति सेवक समाज के प्रधान मन्त्री प० राजेन्द्र कुमार जी के अदम्य उत्साह और पुरुषार्थ का ही यह फल है। प० वालचन्द्र जी शास्त्री साहित्य सम्पादन विभाग वीर सेवा मन्दिर के सुझाव के अनुसार आवश्यक विषय सूची भी तैयार करके इसमे जोड दी है जिससे विषय को ग्रहण करने मे पाठको को सुविधा प्राप्त होगी। यद्यपि पुस्तक के अन्त मे मुझे आवश्यक शुद्धि पत्र जोडना पडा है तथा ऐसी अशुद्धियाँ अव भी इसमे हैं या हो सकती हैं जिनका सुधारना उचित था, परन्तु प्रूफ सशोधन कर्ता के प्रयास की सराहना किये विना मैं नही रह सकता हूँ क्योकि सशोधन मे किये गये उनके प्रयास से मुझे अत्यन्त सतोष है। प्रेस परिवार को भी मैं धन्यवाद देता हूँ।

पाठको को मैं यह सूचना देना आवश्यक समझता हूँ कि जिस रूप मे लेखमाला जैनगजट मे प्रकाशित हुई थी उसके

संशोधित और परिवर्धित रूप मे यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है, फिर भी इसमे किसी प्रकार त्रुटि रह गई हो या आगम का विपर्यास हो गया हो तो पाठको के सुझाव पर मै ठीक करने के लिये सदा तैयार रहूँगा।

अन्त मे इतना और कहना चाहता हूँ कि इस पुस्तक के प्रागूरूप लेखमाला को तब प्रारम्भ किया था जब पूज्यपाद प्रात. स्मरणीय श्री १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी, जो अन्त मे श्री १०८ गणेश कीर्ति महाराज के नाम से सबोधित हुए थे—हमारे मध्य विराजमान थे। उनका इसके प्रति आकर्षण था जो मेरे लिये गौरव की बात थी, परन्तु दु ख है कि मेरी लेखमाला प्रारम्भ होने से थोडे समय पश्चात् हो वे स्वर्गस्थ हो गये थे। मैं तो यही समझता हूँ कि उनके आशीर्वाद का ही फल यह पुस्तक है और अब यदि इस पुस्तक से पाठको को लाभ हुआ तो मुझे प्रसन्नता होगी।

दिनांक २४।१०।७२
स्थान–बीना

निवेदक—
बंशीधर शास्त्री
(व्याकरणाचार्य)

प्रकाशकीय वक्तव्य

(मीमांसा की मीमांसाका)

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान महावीर के निर्वाण के वाद उनके अनुयायी एक रूप मे न रह सके और उनमे सघभेद होगया पहिले यह भेद दिगम्बर और श्वेताम्वरके रूपमे हुआ और वादमे इनमे भी विभाजन हुआ है, श्वेताम्वरो मे मूर्तिपूजक और स्थानवासी के रूपमे भेद हुए और आगे चलकर स्थानकवासी भी तेरहपक्षी और वाईसटोले के रूपमे विभक्त होगये हैं ।

यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि इन भेदोका मूल कारण साधुका वस्त्ररहित और वस्त्र सहित होना ही है। महावीर की परम्परा मे भेदो और प्रभेदोके होनेपर भी परिग्रह की व्याख्या और उस सम्वन्धी चर्चाको छोडकर तात्विक मान्यतामे अन्तर नही के वरावर ही हुआ है यही कारण है कि एकादि सूत्रकी व्याख्या को छोडकर समूचे तत्त्वार्थ सूत्रको सवही ने प्रमाण रूप माना है तत्त्वार्थ सूत्रकी तरह भक्तामर स्तोत्रको मान्यता भी प्राय जैन परम्पराकी सवही शाखाओ मे है सवही शाखायें कर्मवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करती है । मोक्षमार्ग की प्रणाली मे व्यवहार निश्चयके साधन साध्य भाव को भी सवही स्वीकार करते है । सत्ता के ध्यान से सवही द्रव्योको स्वतत्र मानने पर भी उनमे पारस्परिक सहयोग को भी सवही ने स्वीकार किया है । इस ही के आधार से वस्तुके उत्पाद मे

उपादान और निमित्त दोनो ही कारणो को स्वीकार किया गया है यह भी स्पष्ट है कि छह द्रव्यो मे से जीव और पुद्गलको छोडकर शेष चार द्रव्य शुद्ध ही रहते है, जीव और पुद्गल को ही शुद्ध और अशुद्ध स्वीकार किया गया है इन दोनो की अशुद्ध अवस्था हो इनकी पराधीन स्थिति है इससे स्पष्ट है कि ये दोनो ही सत्ताके दृष्टिकोण से स्वतत्र होने पर भी स्थिति की द्रष्टिसे पराधीन हैं । जीव द्रव्य की ऐसी स्थिति तबतक रहती है जब तक वह ससार मे रहता है अर्थात् ससारीजीव ही पराधीन है और मुक्तजीव चारो शुद्ध द्रव्योकी तरह स्वाधीन है। इस पराधीनता का नाम ही ससार और इससे छूटने का नाम ही मोक्ष है, जीव को यह स्वाधीनता अर्थात् मोक्ष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र से प्राप्त होती है, तथा इस ही लिए ये मोक्षमार्ग कहलाते है जब तक मोक्षमाग अपूर्ण रहता है अर्थात् साधन के रूपमे रहता है वह व्यवहार मोक्षमार्ग कहलाता है और जब वह पूर्ण हो जाता है अर्थात् ससारी जीव मुक्त हो जाता है तब वही मोक्षमार्ग पूर्ण मोक्षमार्ग हो जाता है इस ही का पडित प्रवर टोडरमलजा ने मगलमय और मगलकरण के रूपसे कथन किया है, जोवद्रव्यके पराधीनता से छूटकर स्वाधीन होने के मार्ग को व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग को साधन और साध्य के रूपमे महावीर परम्परा की सब ही शाखाओ ने एक स्वर से स्वीकार किया है उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि जहॉ तक तत्त्वज्ञान की बात है महावीर के अनुयायियो मे भेद और प्रभेद होने पर भी तत्त्वज्ञान की दृष्टि से वे सब ही एक मत है इनमे अन्तर तो केवल आचार मार्ग मे ही हुआ है और वह भी केवल मुनि मार्ग तक ही। जहॉ तक ग्रहस्थाश्रम की बात है महावीर परम्परा के सब ही अनुयायी एक मत हैं ।

महावीर की परम्परा मे आज एक ऐसे वर्ग (सोनगढी) का भी उदय हुआ है जो अपने को महावीर का उपासक कहता ही नही है किन्तु उनकी उपासना भी करता है, शब्दो मे अपने को महावीर परम्परा की दिगम्बर शाखा का अनुयायी मानता है तथा मूल दिगम्बराचार्यो की रचनाओं को भी प्रमाण रूप से स्वीकार करता है किन्तु इस वर्ग की शब्दों की और वास्तविक स्थिति मे अन्तर है शब्दो मे तो इस वर्ग का नारा रहा है कि भये हैं न होयगे मुनिन्द्र कुन्दकुन्द से किन्तु मान्यता के रूप मे इस वर्ग ने जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया है वह महर्षि कुन्दकुन्द और अमृतचद के भी प्रतिकूल है।

इस वर्ग की निम्नलिखित मान्यतायें है—

(१) सब ही द्रव्य परस्पर निरपेक्ष है अर्थात् सत्ता की तरह उनका परिणमन भी परनिरपेक्ष ही होता है साथ ही द्रव्योका परिणमन क्रमनियमित भी है शास्त्रो मे बहुचर्चित निमित्तकारण को इसने शब्दो मे मानकर भी अकिंचित्कर माना है इस ही का परिणाम है जो इसने जीव पर कर्म के प्रभाव को भी अस्वीकार किया है जीवका परिणमन चाहे वह स्वाभाविक हो या वैभाविक जीव के ही द्वारा होता है इस ही प्रकार कर्म की रचना भी अकेले पुद्गल का ही कार्य है कर्मोदय से जीवके विभावभाव एव जीव के विभावभाव से कार्मण वर्गणाओ का कर्मरूप परिणमन भी इसकी मान्यता के बाहर है, यह वर्ग अकालमरण को भी नही मानता।

(२) द्रव्यों के परस्पर निरपेक्षता की दशा मे कालद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश द्रव्य के कार्यों को भी इसने स्वीकार नही किया है।

(३) तीर्थंकर की दिव्यध्वनि और उनके ज्ञान मे कार्य-कारण सम्बन्ध नही है ।

(४) जीवद्रव्य पर किसी भी परद्रव्यका प्रभाव न मानकर इस वर्ग ने देव, शास्त्र और गुरुओ से लाभ एव मादक द्रव्यो के जीवपर प्रभाव को भी अस्वीकार किया है ।

(५) महर्षि अमृतचद ने स्वाश्रित के निश्चय तथा पराश्रित को व्यवहार माना है तथा जब यह वर्ग जीवपर कर्म के प्रभाव को ही नही मानता तब इसकी मान्यता मे व्यवहारका स्थान ही सभव नही है किन्तु आचार्य परम्परा मे जिसको व्यवहार माना गया है उस हो के आधार से यह वर्ग अणु व्रत, महाव्रत, त्याग और तपादिक को रागरूप मानकर उनको सवर और निर्जरा का कारण न मानकर केवल आश्रव और बधका ही कारण मानता है और इस प्रकार इस वर्ग ने व्यवहार मात्र को हेय एव त्याज्य वतलाया है ।

(६) इस प्रकार इस वर्ग ने द्रव्योको परस्पर निरपेक्ष मानकर द्रव्यो तथा सप्ततत्त्वोके लोपका प्रसग उपस्थित किया है तथा परिणमन को क्रमनियत मानकर पुरुषार्थ के अभाव का प्रसग उपस्थित किया है उसही प्रकार व्यवहार को हेय तथा त्याज्य बतलाकर महावीर परम्परा मे चले आरहे मोक्षमार्ग के लोपकी समस्या भी उत्पन्न करदी है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस नवोदित वर्ग की तत्त्व मान्यता एव आचार मान्यता दोनो ही महावीर परम्परा के आचार्योंकी मान्यता से मेल नही खाती । इस प्रकार यह एक ऐसा वर्ग है जिसने महावीर के शासन का नाम लेकर उसके

-रूप को ही बदलने की चेष्टा की है महावीर काल से अब तक ढाई हजार वर्ष के समय मे यह एक सर्वप्रथम वर्ग है जिसने महावीर के शासन को पलटने की चेष्टा की है।

दिगम्बर जैन-सस्कृति सेवक समाज का उदय और उसका कार्यक्रम

क्रान्तियाँ दो प्रकार की होती है, एक बाहरी तथा दूसरी भीतरी। वाहिरी क्रान्ति का रूप उसके खडन का होता है इससे जनता अपनी परम्पराकी रक्षामे सचेत हो जाती है और इसके लिए वह उससे अपनी परम्परा की रक्षा के लिए हर सभव प्रयत्न करतो है, भीतरी क्रान्ति का रग और रूप, बाहर से परम्परा के रूप का हो प्रतीत होता है किन्तु वास्तव मे वह परम्परा के रूपका न होकर उसकी आत्मा को कुचलने की चेष्टा ही होती है। यह चेष्टा जनता की निगाह मे बहुत देर से आतो है। पहिले तो जनता भीतरो क्रान्ति को क्रान्ति न मानेकर परम्परा की मान्यताओ की व्याख्या मात्र मानती है और विचारशील व्यक्ति भी मानते हैं कि ऐसा करने का प्रत्येक विचारक को अधिकार है।

हमारे सामने भो यह प्रश्न आया है तथा हमारे महामन्त्रीजी ने इसका निम्न प्रकारसे स्पष्टीकरण किया है—

(१)

हमारे मन्तव्य एव कार्यक्रम के सम्बन्ध मे हमारे एक माननीय एव विचारक सहयोगी ने हमको लिखा है कि सोनगढ का कार्यक्रम आर्य-समाज के कार्यक्रम से भिन्न है सोनगढ के विद्वान विचारको ने तो पूर्वाचार्यों की मात्र व्याख्या ही की

है तथा ऐसा करने का प्रत्येक विचारक को अधिकार है, इस सम्बन्ध मे हम अपने माननीय सहयोगी से पूर्णतया सहमत है कि अपनी-अपनी व्याख्या उपस्थित करने का प्रत्येक विचारक को अधिकार है किन्तु यदि स्वामी जी की कथनी मात्र पूर्वाचार्यों की मान्यताओ की व्याख्या होती, तव तो इस ही वात पर चर्चा चल सकती थी कि क्या स्वामी जी की व्याख्या ठीक है या नही।

हम ही क्या भारत के न्याय विभाग का भी यही कार्य है भारतीय विधान की व्याख्या की अनुकूलता और प्रतिकूलता को लेकर, व्याख्या का प्रश्न भारत के उच्चतम न्यायालय तक पहुँचता है व्याख्या की सीमा व्याख्या तक ही सीमित है व्याख्या के रूप मे धारा के रूप को ही रूपान्तरित नही किया जा सकता।

जहाँ तक स्वामी जी कथनी है वह पूर्वाचार्यों के प्रतिपादन की व्याख्या मात्र नही हे किन्तु स्पष्ट उसका खण्डन है।

दूसरे के आक्रमण से अपनी परम्परा की रक्षा एक सरल कार्य है किन्तु भीतरी क्रान्ति से परम्परा की रक्षा का कार्य एक गुरुतर कार्य है इसकी सफलता के लिये कठोर सकल्प एव लगातार प्रयत्न की आवश्यकता जरूरी है। इस ही लक्ष्य को लेकर दिगम्बर जेन-सस्कृति सेवक समाज की स्थापना हुई है। जहाँ तक सेवक समाज के कार्यक्रम की बात है इसके सम्वन्ध मे हमारे महामन्त्रीजी ने निम्नलिखित रूपरेखा रक्खी है।

(२)

जिस समय आर्य समाज ने जैन धर्म पर आक्रमण किया था तब उसके बचाव के लिये हमने तीन कार्य किये थे एक

उनकी मान्यता का गम्भीर अध्ययन, दूसरे उनकी मान्यता सम्बन्धी विभिन्न विषयो पर पुस्तको की रचना तथा प्रकाशन, तीसरे प्रचार कार्य। ऐसी ही व्यवस्था हमने सोनगढ की मान्यता के सम्बन्ध मे की है। सोनगढ की मूल मान्यता का अध्ययन तथा उसका आचार्य परम्परा से मिलान तो पूर्ण हो चुका है, अब इस ही आधार से साहित्य का निर्माण होना है। इसको भी हमने दो भागो मे रक्खा है एक प्रचारोपयोगी साहित्य तथा दूसरा स्थायी साहित्य। प्रचारोपयोगी पुस्तकें भी तैय्यार हो चुकी हैं। पण्डित फूलचन्द जी की जैनतत्वमीमासा की मीमासा यही पुस्तक है। शेष सात आठ पुस्तको के भी शीघ्र प्रकाशन का सकल्प है। इस प्रचारोपयोगी साहित्य के प्रचार के साधन प्रेस को मजबूत करके फिर प्लेट-फार्म से भी प्रचार का व्यापक कार्यक्रम शुरू किया जायगा।

जहाँ तक स्थायी साहित्य की बात है इसके सम्बन्ध मे सेवक समाज मोक्षमार्ग प्रकाशक, पण्डित प्रवर और स्वामी जी की मान्यताओ के तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका के साथ, समयसार और कलश, मोक्षमार्ग प्रकाशक की तरह महर्षि कुन्द कुन्द और महर्षि अमृत चन्द की मान्यताओ का स्वामी जी की मान्यता से तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका के साथ, खानिया चर्चा के निमित्तोपादान तथा व्यवहार निश्चय सम्बन्धी अध्याय, उचित भूमिका के साथ प्रकाशित करेगी।

जैसा कि महामन्त्रीजी के स्पष्टीकरण मे चर्चा है पुस्तको का प्रकाशन शुरू हो रहा है और सर्वप्रथम यह पहिली पुस्तक है।

श्री प० फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री ने नवोदित वर्ग की मान्यताओ को तार्किक रूप देने के लिये जैनतत्त्वमीमासा के नाम

से एक पुस्तक लिखी है उसकी मीमांसा के रूप मे व्याकरणाचार्य प० वशीधर की वीना एक पुस्तक लिख रहे है उस ही का यह प्रथम भाग है। मीमासा की मीमासा के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना मात्र अपने मुख से अपनी प्रशसा करना होगा अत ऐसा न करके इसका उत्तरदायित्व हम पुस्तक के पाठकों पर छोडते है तथा उनसे साग्रह निवेदन करते है कि वे इसका मनन की द्रष्टि से पढने का कष्ट करे।

अब रह जाती है व्याकरणाचार्यजी की भावना एव उनके प्रयत्नो की बात। इसके सम्बन्ध मे कुछ भी लिखना व्याकरणाचार्य जी की भावना एव उनके प्रयत्नो को हलका करना होगा व्याकरणाचार्यजी इन दिनो बीमार रहे है किन्तु ऐसी स्थिति मे उनको बीमारी के कष्ट से भी अधिक कष्ट इस बात का रहा है कि परम्परा को बिगाड़ा जा रहा है और पण्डितजन भी किसी भी आनिवर्चनीय कारण से ऐसे वर्ग की सारहोन मान्यताओको भी तार्किक रूप देने जा रहे हैं व्याकरणाचार्य जी की इस ही वेदना का परिणाम है जो उन्होने ऐसे वर्ग की मूल मान्यताओ के सम्वन्ध मे तर्क एवं शास्त्राधार से आचार्य मान्यताओ के समर्थन मे अनेक पुस्तकें लिखी है यह उनमे पहली पुस्तक है उनकी शेष रचनायें भी निकट भविष्य मे ही सामने आ जायेगी।

जहाँ तक दिगम्बर जैन सस्कृति सेवक समाज का सम्बन्ध है व्याकरणाचार्यजी उसके एक अभिन्न अग है अतः यह हम

खुले शब्दो मे कहते है कि उन्होने यह कार्य कर्तव्यपालन एव आत्म सन्तोष के लिए ही किया अत उनके सम्बन्ध मे हमारे लिए इससे अधिक कुछ भी लिखना एक अनुचित ही चर्चा होगी।

जहाँ तक ग्रन्थमाला के सज्ञा करण की वात रही है कार्य समिति की भावना इसके साथ किसी ऐसे महापुरुष का नाम जोडने की थी कि जिसने योगत्रयसे जैन सस्कृति की सेवा एव प्रचार का कार्य किया हो, ऐसे नामो मे सर्वप्रथम प्रात स्मरणीय गुरु गोपालदासजी वरैया का नाम ही रहा है अत उसके नाम से ही ग्रन्थमाला का सज्ञा करण किया गया है। जहाँ तक ग्रन्थमाला से प्रकाशित पुस्तको की वात है हम इनको भेंट स्वरूप सिर्फ त्यागी वर्ग एव सेवक समाज के आजीवन सदस्य एव सरक्षक सदस्यो को ही दे सकेंगे।

यह कार्य इसलिए कि जिनकी सहायता से पुस्तको का प्रकाशन होगा, उसको पुस्तको को विना मूल्य वितरण करके उसी प्रकाशन के साथ समाप्त न किया जाय। किन्तु जो भी पुस्तकें प्रकाशित होगी उनके विक्री मूल्य से सहायता को सुरक्षित किया जाय—जिससे इस ही पुस्तक के प्रकाशन मे दूसरी सहायता की जरूरत न पडे। पुस्तको का हिसाव नियमित रखा जायेगा जिससे कि भेंट मे दी जाने वाली या विक्री से दी जाने वाली प्रत्येक पुस्तक की जाँच की जा सके।

(जहा तक अपनी भावना की बात है हम इसको तीर्थ रक्षा का एक प्रयत्न मानते है तथा यह कार्य किसी भी कार्य से कम महत्वशाली नही है।)

विनीत—
कुंजीलाल जैन शास्त्री M. A.
मत्री—
चरैया ग्रन्थमाला—प्रकाशन विभाग
दि० जैन सस्कृति सेवक समाज

आर्थिक-सहयोग

(१)

श्री सेठ प्रकाशचन्द जी जैन लुहाड्या सासनी का उत्तर भारत की समाज मे उच्च स्थान है, आप सासनी के प्रसिद्ध खण्डेलवाल ग्यास वर्क्स के मालिक है, आप धार्मिक भावना एव आचरण के व्यक्ति हैं।

आप ही के अनुरूप आपकी धर्मपत्नी श्रीमती अमरो बाई जी जैन लुहाड्या हैं दिगम्बर जैन सस्कृति सेवक समाज के कार्यकारी अध्यक्ष श्री प० इन्द्रमणि जी की प्रेरणा मे आपने सेवक समाज को तीस रिम कागज का अनुदान दिया है, इस ही का उपयोग इस पुस्तक के प्रकाशन मे हुआ है।

इस सहयोगी के लिए वरैया ग्रन्थ-माला की तरफ से आपका हृदय से आभारी हूँ।

(२)

श्री माणिकचन्द जी जैन कासलीवाल, कलकत्ता के एक उदीयमान नवयुवक है आप अपने जीवन में एक साधारण व्यापारी के स्थान से मिल मालिक हुए है यह सब आपके ही व्यक्तिगत परिश्रम एवं पुरुषार्थ का परिणाम है। आपकी उद्योगपति होने के साथ ही साथ धार्मिक भावना एवं रुचि भी उल्लेख योग्य हैं।

हमारे महामत्री जी पर्यू षण मे कई वर्ष हुए जब मैं कलकत्ता गया था आपसे जब उनको एक पुस्तक के प्रकाशन की सहायता स्वीकार की थी इसके बाद भी जब-जब उनसे आपके इस विषय की चर्चा हुई तब भी आपकी भावना उत्तरोत्तर प्रगतिशील ही मिली।

जब वरैया-ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के प्रकाशन का समय आया, इसके निमित्त कागज का सहयोग तो सासनी वालो से प्राप्त हो चुका था, सिर्फ छपाई आदि सम्बन्धी प्रेस के बिल के पेमेन्ट की बात ही शेष थी।

आप दिगम्बर जैन सस्कृति सेवक समाज के सरक्षक सदस्य हैं तथा हमारे महामत्री जी से आपका व्यक्तिगतत्त्व है आपने ही अपनी पूज्य माता जी श्रीमती पतासी देवी जी जैन धर्म पत्नी श्री रमनलाल जी जैन कासली बाल अलनियावास

नागोर के स्मरणार्थ वर्णी ग्रन्थमाला को यह सहयोग दिया है इसके लिए आपका हृदय से आभारी हूँ।

विनीत .

गिरीडीह
१२-१०-७२

कुञ्जीलाल जैन शास्त्री एम ए.
मंत्री वर्णी ग्रन्थ-माला

विषय-सूची

क्रम स०　　नाम　　पृ० सं०

जैनतत्त्वमीमांसा की मीमांसा

भाग १

जैनतत्त्वमीमांसा की मीमांसा

(ले० वशीधर व्याकरणाचार्य वीना)

(१) विषय-प्रवेश

१—श्री प० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी ने 'जैनतत्त्वमीमासा' नाम से एक पुस्तक स्वय लिखकर और स्वय सपादित कर अशोक प्रकाशन मदिर २।३८ भदैनी वाराणसी से प्रकाशित कराई है। प० जी की गणना समाज के उच्चकोटि के विद्वानो मे की जाती है। इनका जीवन साहित्य सेवा मे ही व्यतीत हुआ है और हो रहा है। साहित्य सेवा मे इनकी लगन और श्रम वेजोड माने जा सकते है। अत इसमे सदेह नही, कि 'जैनतत्त्वमीमासा' इनके अटूट परिश्रम का परिणाम है।

इस पुस्तक के विषय-प्रवेश, वस्तु-स्वभाव मीमांसा, निमित्त की स्वीकृति, उपादाननिमित्तमीमासा, कर्तृकर्ममीमासा, षट्कारकमीमासा, क्रमनियमितपर्यायमीमासा, सम्यग्नियति-स्वरूपमीमासा, निश्चयव्यवहारमीमासा, अनेकान्तस्याद्वाद-मीमासा, केवलज्ञानमीमासा और उपादाननिमित्त सवाद—ये वारह अधिकार है। इन अधिकारो मे जिन विपयो की मीमासा

की गयी है वे विषय अधिकारों के नामकरण से ही समक्ष में आ जाते हैं अत. यहा पर उनका स्पष्टीकरण नही किया जा रहा है।

पं. फूलचन्द्र जी ने पुस्तक प्रारम्भ करने से पूर्व अपने 'आत्मनिवेदन' प्रकरण मे यह भी सकेत किया है कि वे अनुकूलता रहने पर कविवर बनारसीदासजी, कविवर भूधरदासजी, कविवर दौलतरामजी, कविवर भैया भगवतीदासजी, कविवर भागचन्द्रजी आदि प्रौढ अनुभवी विद्वानो के आध्यात्मिक साहित्य को भी सकलित और सपादित करके प्रकाशित करना चाहते हैं। हमारी धारणा है कि प० जी ने 'जैनतत्त्वमीमासा' के लिखने मे अपनी जिस विचारधारा को आधार बनाया है उसी विचारधारा का अवलम्बन वे कविवर बनारसीदासजी आदि उक्त प्रौढ विद्वानो के आध्यात्मिक साहित्य के सकलन और सपादन मे करेंगे। उसका अभिप्राय यह है कि अब वे अपनी विचारधारा को दृढता के साथ प्रसारित करने की तैयारी मे लगेंगे और यह निश्चित है कि प० जी को अपने इस प्रयास मे सफलता मिल जायगी क्योकि प० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री कटनी ने जिस ढग से जैनतत्त्वमीमासा का प्राक्कथन लिखा है उससे स्पष्ट है कि वे प० जी की विचारधारा मे पूर्णत सहमत हैं। साथ ही इसमे सदेह नही कि प० जी बहुत से दूसरे विद्वानो को भी सरलता के साथ अपनी विचारधारा का अनुयायी बना लेंगे, कारण कि जैन-सस्कृति के तत्त्वज्ञान के विषय मे विद्वद्वर्ग मे भी साधारण समाज की तरह प्राय. चिन्तनशक्ति की न्यूनता और गतानुगतिकता पायी जाती है।

२—आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी का समयसार उच्चकोटि का आध्यात्मिक ग्रन्थ है, परन्तु वह इतना गहन है कि

उसके रहस्य को समझकर हृदयङ्गम कर लेना उच्चकोटि के तर्कशास्त्रियो के लिये भी सरल नही है। अत' उसके पठन-पाठन से कोई भी व्यक्ति प्राय प्रकाश न पाकर अन्धकार मे ही भटक सकता है। यही कारण है कि आज से कुछ वर्ष पूर्व तक इसके पठन-पाठन और स्वाध्याय के प्रति समाज के सभी वर्गो की रुचि एव प्रवृत्ति प्राय नाममात्र को थी। परन्तु वर्तमान मे एक ओर तो सोनगढ के सत कानजी स्वामी के प्रभावपूर्ण प्रवचनो को सुन कर सौराष्ट्र और गुजरात आदि प्रान्तो के गृहस्थ वर्ग की रुचि एव प्रवृत्ति समयसार के स्वाध्याय की ओर बढी है व दूसरी ओर उत्तरभारत मे श्री १०५ क्षुल्लक गणेश-प्रसादजी वर्णी के सपर्क से त्यागि-वर्ग का झुकाव भी समयसार के पठन-पाठन और स्वाध्याय की ओर हुआ है।

यहा यह बात अवश्य ध्यान मे रखने योग्य है कि जहा कानजी स्वामी के अल्प सपर्क मे आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपने को समयसार का वेत्ता एव सम्यग्दृष्टि समझने लगता है वहा पूज्यपाद वर्णी जी के सपर्क मे आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्त करण मे तत्त्वजिज्ञासुता का ही भाव उत्पन्न करता है, परन्तु यह निश्चित है कि पूज्यपाद वर्णीजी का सपर्क समाज को अब अधिक समय के लिये प्राप्त रहने वाला नहीं है इसलिये इनके पश्चात् समयसारी त्यागि-वर्ग का झुकाव किस ओर हो जायगा ? यह बतलाना आज कठिन है। प० फूलचन्द्र जी की 'जैनतत्त्वमीमासा' के प्रकाशन से इस समस्या का और भी जटिल बन जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त अब मुझे यह भी भान होने लगा है कि जैन समाज का विद्वद्वर्ग भी जैन-सस्कृति की सैद्धान्तिक मान्यता के विषय मे बिना चिन्तन किये धीरे-धीरे सोनगढ से प्रवाहित विचारधारा का अनुयायी बन जाने वाला है।

यह सब मैं इस आधार पर लिख रहा हूं कि 'जैनतत्त्व-मीमासा' मे प० फूलचन्द्रजी ने अपनी जिस विचारधारा की झलक दी है वह कानजी स्वामी की विचारधारा से मिलती हुई ही है।

३—माना, कि कानजी स्वामी जैनसस्कृति के व्यावहारिक धर्म की कुछ-कुछ क्रियाये यथाशक्ति करते है और प० फूलचन्द्रजी ने भी 'जैनतत्त्वमीमासा' मे स्थान-स्थान पर निमित्त तथा व्यवहार की प्रतिष्ठा की है। इसलिये यद्यपि यह कहा जा सकता है कि कानजी स्वामी जो कुछ आर्ष-विरुद्ध कहते हैं और प० फूलचन्द्र जी ने 'जैनतत्त्वमीमासा' मे जो आर्षविरुद्ध कथन किया है उसमे उनको प्रेरणा देने वाली दुर्भावनाये नही है परन्तु दोनो के कथनो मे उनकी दार्शनिक वुद्धि की कमी का आभास अवश्य मिलता है।

४—यद्यपि कानजी स्वामी लम्वे समय से जैन-सस्कृति की सैद्धान्तिक मान्यता के सम्वन्ध मे अपनी विचारधारा का प्रचार करते आ रहे हैं, परन्तु मेरा अव तक यह विचार रहा कि उनकी विचारधारा का प्रचार समाज मे कितना भी क्यो न हो जावे ? फिर भी उसका असर जैन-सस्कृति की मूलसैद्धान्तिक मान्यता पर तव तक पडने वाला नही है, जव तक जैन-समाज का विद्वद्वर्ग उसकी पुष्टि नही करता है। अभी तक तो अ० भा० दि० जैन वि० परिषद् ने कानजी स्वामी का पूर्ण सम्मान करते हुए उनकी सैद्धान्तिक विचारधारा के प्रति अपनी असहमति ही प्रगट की है। इतना ही नही, उसने उनके साथ जैन-सस्कृति की सैद्धान्तिक मान्यता के सम्वन्ध मे विचार-विमर्श करने के लिये एक विद्वत्सगठन की भी स्थापना की है और यह एक कारण है कि मै अभी तक कानजी स्वामी की विचारधारा के विपय मे कुछ लिखने का लोभ सवरण करता

रहा हू। उक्त विषय मे कुछ नही लिखने का दूसरा कारण यह है कि वि० परिषद् की उपेक्षा करके व्यक्तिगत रूप से आगे कदम बढाना मेरे लिये उचित भी नही है, लेकिन अव प० फूलचन्द्रजी की 'जैनतत्त्वमीमासा' के प्रकाशित हो जाने से एक तो मेरा यह विचार शिथिल पड गया है कि कानजी स्वामी की विचारधारा का असर जैन-सस्कृति की मूल मान्यता पर पडने वाला नही है, दूसरे प० जी की विचारधारा का कानजी स्वामी की विचारधारा के साथ मेल हो जाने से वि० परिषद् उनके साथ विचार-विमर्श के लिये अपने निर्णीत मार्ग पर अग्रसर रहेगी—इसमे मुझे सदेह होने लगा है।

इन सब कारणो की वजह से मुझे उक्त विषय मे कुछ लिखना आवश्यक हो गया है। यह सोच कर सर्वप्रथम मैं जैनतत्त्वमीमासा की मीमासा लिखने जा रहा हू।

१—वैसे तो जैनतत्त्वमीमासा की मीमासा मे सभी विषय विस्तार से सर्वागीण लिखा जाना चाहिये परन्तु समय और शक्ति के अनुसार जितना सभव होगा मैं उतना ही लिखने का प्रयत्न करूगा।

२—मैं 'जैनतत्त्वमीमासा' के सम्बन्ध मे जितना भी सोचता हू उससे मुझे ऐसा लगता है कि प० फूलचन्द्रजी ने इसके लेखन मे वहुत ही उतावली से काम लिया है क्योकि प० जी की जैनतत्त्वमीमासा का परिणाम जैन-सस्कृति के लिये अच्छा होने वाला नही है। हो सकता है मेरा ऐसा लिखना भावुकता का कार्य समझा जावे, परन्तु यह मैं अपने अन्तकरण की आवाज के रूप मे ही लिख रहा हू।

३—मुझे इस बात का दु'ख है कि जैनतत्त्वमीमासा की इस मीमासा के प्रकाशन मे मुझे जैन-सदेश और जैन-मित्र इन

दोनो पत्रो से सहयोग नही मिल सका है। इस सम्बन्ध मे एक सभावना तो यह है कि इन पत्रो के मालिको ने जैनतत्त्वमीमासा से होने वाले दुष्परिणाम को गभीरता से नही समझा है। दूसरे यह भी कहा जा सकता है कि जैनतत्त्वमीमासा की मीमासा के प्रकाशन को इन्होने अपने पत्रो के लिये आर्थिक घाटे का कारण समझ लिया हो। जैन-सदेश के विषय मे तो यह भी सोचा जा सकता है कि इसके एक सपादक प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री का समर्थन जैनतत्त्वमीमासा को प्राप्त है अत वे स्वाभाविक रूप से अपने पत्र मे जैनतत्त्वमीमासा के प्रतिकूल कुछ भी प्रकाशित करना नही चाहेगे।

४—मुझे यह भी मालूम पडा है कि जैनतत्त्वमीमासा की मीमासा करने मे वहुत से विद्वान सचेष्ट है जो यद्यपि प्रसन्नता की वात है, परन्तु इतना अवश्य है कि प्रत्येक लेखक को यह वात ध्यान मे रखनी चाहिये कि उसको अपने लेखन कार्य मे तत्त्वविमर्श की दृष्टि रखना ही उपयोगी होगा क्योकि यदि कोई लेखक तत्त्वविमर्श की दृष्टि को ओझल करके व्यक्तिगत समा-लोचना मे भटक गया अथवा भाषा की उग्रता को अपनाया तो इससे लाभ के वजाय हानि होने की ही सभावना रहेगी।

मुझे विश्वास है कि तत्त्वविमर्श की दृष्टि से लिखे गये ठोस तात्विक लेख अवश्य ही प० फूलचन्द्रजी का मार्गदर्शन करेंगे।

—※—

(२) जैनतत्त्वमीमांसा के लेखन में पं० फूलचन्द्र जी की दृष्टि !

जैनतत्त्वमीमासा प्रारम्भ करने से पूर्व मुझे यह आवश्यक प्रतीत होता है कि तत्त्वमीमांसा के लेखन मे निहित पं० फूलचन्द्र जी की दृष्टि को समझ लिया जाय अत· सर्वप्रथम प० जी की दृष्टि को ही यहाँ तत्त्वमीमासा के आधार पर निबद्ध किया जा रहा है।

(१) क—वस्तु मे प्रतिक्षण यथायोग्य स्वभाव अथवा विभाव रूप जो भी परिणमन हो रहा है वह सब परनिरपेक्ष केवल वस्तु के स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाव के बल पर ही हो रहा है। यद्यपि वस्तु का परिणमन स्वभाव स्वत सिद्ध होने से अनादि है, परन्तु उसके आधार पर होने वाला कोई भी परिणमन तभी होता है जब वह वस्तु उस परिणमन से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती परिणमन मे पहुँच जाती है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु मे उसकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायें (परिणमन) अनादिकाल से शक्ति (अव्यक्त) रूप मे विद्यमान हैं इसे उपादान शक्ति कहते है। इस तरह प्रत्येक वस्तु मे उसकी अपनी उक्त सपूर्ण पर्यायो की उपादानता

अनादि से है, परन्तु विवक्षित वस्तु मे विवक्षित परिणमन, जो कि कार्य कहलाता है, तभी उत्पन्न होना है जब वह वस्तु उस विवक्षित परिणमन की उत्पत्ति के क्षण से अव्यवहितपूर्वक्षण-वर्ती परिणमन मे पहुँच जाती है।

(१) ख—कार्य से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती परिणमन मे वस्तु के पहुँच जाने पर वह वस्तु उस परिणमनरूप कार्य की समर्थ उपादान कहलाने लगती है क्योकि तब उस वस्तु मे वह कार्य नियम से उत्पन्न होता है।

(१) ग—चूंकि वस्तु का यथायोग्य स्वभाव अथवा विभावरूप परिणमन प्रतिक्षण हुआ करता है अत यह मानना उचित है कि काल के भूत, वर्तमान और भविष्यत् जितने अविभागी क्षण सभव हो उतने ही परिणमन प्रत्येक वस्तु के नियत हैं और प्रत्येक वस्तु अपने परिणमन स्वभाव के बल पर परिणमन करती हुई अर्थात् भविष्यत् से वर्तमान होती हुई भूत का रूप धारण करती जा रही है तथा यह प्रवाह अनन्त काल तक इसी रूप मे चलता जायगा।

(१) घ—पर्यायो (परिणमनो) के उक्त प्रवाह मे जिस वस्तु की जो भविष्यत् पर्याय जिस क्षण मे वर्तमानता (व्यक्तता) को प्राप्त होती है उस वस्तु की वह पर्याय उस क्षण मे अपनी अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट उसी वस्तु का कार्य कहलाती है और कार्यरूप उस पर्याय से विशिष्ट वही वस्तु उसी क्षण मे उस कार्यरूप पर्याय से अव्यवहित उत्तरक्षणवर्ती पर्याय का उपादान कहलाती है।

इस प्रकार कार्योत्पत्ति के सम्बन्ध मे प० फूलचन्द्र की दृष्टि के अनुसार निम्नलिखित सिद्धान्त फलित होते है—

क—प्रत्येक वस्तु मे पर्याय या परिणमन रूप कार्य की

उत्पत्ति केवल उसकी स्वत सिद्ध स्वभावभूत नित्य उपादान शक्ति और कार्योत्पत्तिक्षण से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायरूप अनित्य उपादानशक्ति के बल पर ही होती है ।

ख—अनित्य उपादान शक्ति का अपर नाम समर्थ-उपादान है । ये समर्थ उपादान प्रत्येक वस्तु मे उतने ही माने जा सकते है जितने काल के त्रैकालिक समय है ।

ग—प्रत्येक वस्तु की अमुक पर्याय के अनन्तर ही अमुक पर्याय उत्पन्न होती है और वह नियम से होती है ।

घ—प्रत्येक वस्तु की प्रत्येक पर्याय की उत्पत्ति का समय नियत है ।

इसका फलितार्थ यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु की निश्चित त्रैकालिक पर्यायो मे से प्रत्येक पर्याय नियत क्रम से अपने-अपने काल मे अपने आप कार्यरूपता (अव्यक्तरूपता से व्यक्तरूपता) को प्राप्त होकर अर्थात् भविष्यद्रूपता से वर्तमान रूपता को प्राप्त होकर विनष्ट (भूतरूपता को प्राप्त) होती जा रही है । उपर्युक्त सपूर्ण कथन की पुष्टि प० फूलचन्द्र के निम्नलिखित कथनो से होती है । यथा—

" इस प्रकार इतने विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक उपादान अपनी-अपनी स्वतत्र योग्यता सम्पन्न होता है और उसके अनुसार प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होती है तथा इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रत्येक समय का उपादान पृथक्-पृथक् है इसलिये उनसे क्रमश जो-जो पर्यायें उत्पन्न होती है वे अपने-अपने काल मे नियत है । वे अपने-अपने समय मे ही होती है आगे पीछे नही होती ।" (जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ १६२)

"स्वभाव और समर्थ उपादान मे फर्क है । स्वभाव सार्व-कालिक होता है । इसी का दूसरा नाम नित्य उपादान है और

समर्थ उपादान जिस कार्य का वह उपादान होता है उस कार्य के एक समय पूर्व होता है कार्य समर्थ उपादान के अनुसार ही होता है। " समर्थ उपादान प्रत्येक समय का अन्य होता है।" (जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ ४१ की टिप्पणी)

(२) यद्यपि प० फूलचन्द्रजी ने अपनी उल्लिखित दृष्टि के समर्थन मे शास्त्रीय उद्धरणो का 'जैनतत्त्वमीमासा' पुस्तक मे भण्डार भर दिया है परन्तु इसके साथ यह समम्या भी विचारणीय वन कर उनके सामने उपस्थित हुई मालूम देती है कि आगम ग्रन्थो मे कार्योत्पत्ति की पद्धति पर विचार करते समय निमित्तो की स्थिति को भी स्वीकार किया गया है। इसलिये आगम के साथ अपनी दृष्टि का सामजस्य स्थापित करने के लिये उनका कहना है कि कार्य तो अपने स्वकाल मे केवल उपादान की अपनी योग्यता के आधार पर ही उत्पन्न होता है फिर भी जव जो कार्य उत्पन्न होता है तव निमित्त भी वहा पर तदनूकूल विद्यमान रहते हैं। इसका आशय यह हुआ कि कार्य जव भी उत्पन्न होगा तव वह निमित्तो के सद्भाव मे ही होगा। इस तरह यह समस्या कभी उत्पन्न नही होगी कि निमित्तो का अभाव होकर कार्योत्पत्ति रुक जायगी क्योकि उस अवसर पर निमित्तो का सद्भाव सदा बना ही रहेगा।

कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्तो की स्थिति के सम्वन्ध मे प० फूलचन्द्र जी की उक्त दृष्टि का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सिनेमा फिल्मो मे मानव चित्रो मे दिखाई देने वाली ओष्ठादि की हलन-चलन रूप क्रिया के साधन अन्य होते है और दर्शको को श्रवण मे आने वाली आवाज के साधन अन्य होते है, फिर भी एक ही साथ उत्पन्न होने के कारण वहा पर दर्शक की समझ मे एकाएक यह आता है कि मानव चित्रो मे

दिखाई देने वाली ओष्ठादि की हलन-चलन रूप क्रिया मे से ही आवाज निकल रही है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु यद्यपि अपने-अपने स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाव के बल पर ही नियत समय मे नियत कार्यरूप परिणत होती है लेकिन साथ ही निमित्त भी अपने परिणमन स्वभाव के आधार पर नियत समय मे नियत कार्यरूप परिणत होते रहते हैं अत निमित्तो का उपादान से जन्य कार्य के साथ अन्वयीपना समझ मे आने के कारण कार्य-कारणभाव न रहते हुए भी लोक मे ऐसा बोला जाता है कि अमुक कार्य मे अमुक निमित्त है। वस्तुत कार्य तो सर्वदा केवल उपादानभूत वस्तु के स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाव के बल पर ही उत्पन्न होता है निमित्त वहा अकिंचित्कर ही बना रहता है। इस सम्वन्ध मे प० फूलचन्द्र जी ने जैनतत्त्वमीमासा में वहुत लिखा है उसमे से कुछ को यहा उद्धृत किया जा रहा है।

१—" रूढिवश जो जिस कार्य का निमित्त कहा जाता है उसके सद्भाव मे भी तब तक कार्य की सिद्धि नही होती जव तक जिस कार्य का वह निमित्त कहा जाता है उसके अनुरूप उपादान की तैयारी न हो। अतएव कार्य की सिद्धि मे निमित्तो का होना अकिंचित्कर है।"

(जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ २५२)

२—"उपादान के ठीक होने पर निमित्त मिलते ही हैं उन्हे मिलाना नही पडता। निमित्त स्वय कार्यसाधक नही है किन्तु उपादान के कार्य के अनुकूल व्यापार करने पर जो बाह्य सामग्री उसमे हेतु होती है उसमे निमित्तपने का व्यवहार किया जाता है।" (जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ २५३)

३—"इस प्रकार कार्योत्पत्ति के पूरे कारणो पर दृष्टिपात करने से ही यह फलित होता है कि जहा पर कार्य के अनुकूल

द्रव्य की स्ववीर्य और उपादान शक्ति होती है वहा अन्य साधन सामग्री स्वयमेव मिल जाती है।" (जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ ६७)

४—कार्योत्पत्ति मे निमित्त की अकिंचित्करता को प० फूलचन्द्रजी केवलज्ञान के आधार पर भी सिद्ध करते हैं[1] तथा वे यह तर्क भी उपस्थित करते हैं कि लोक मे मनुष्य जैसा सोचता है और उसके अनुसार जैसा प्रयत्न करता है वैसा कार्य न होकर बहुत बार उसके प्रतिकूल भी कार्य हो जाया करता है,[2] तीसरे उनका कहना है कि जब वस्तु परिणमनशील है तो निमित्तो के अभाव मे अथवा बाधक निमित्तो के सद्भाव मे उसका एक क्षण के लिये भी परिणमन रुक जाना असभव है अत कार्योत्पत्ति मे निमित्तो को बल देना युक्ति सगत नही है। केवल इतना ही स्वीकार करना उचित है कि जब कार्य अपने उपादान के बल पर उत्पन्न हो रहा हो तब उसके अनुकूल निमित्त रहते ही हैं।[3]

इस प्रकार मैने कार्यकारणभाव के सम्बन्ध मे प० फूलचन्द्रजी की दृष्टि को यहा आवश्यकतानुसार सक्षेप से सग्रहीत करने का प्रयत्न किया है। इसमे यदि अतिरेक या विपर्यास जैसी स्थिति पैदा होगयी हो तो मैं प० जी से व पाठको से निवेदन करता हू कि वे उसकी सूचना मुझे देने की कृपा करें मैं अपनी दृष्टि मे सशोधन कर लूगा। मतभेद कहा-कहा है ?

---

१ इस सम्बन्ध में जैनतत्त्वमीमासा का 'केवलज्ञानस्वभावमीमासा' प्रकरण देखो।

२ इसका समर्थन प० जगन्मोहनलालजी ने जैनतत्त्वमीमासा के प्राक्-कथन में प्रारम्भिक पृष्ठ पर किया है।

३ इसका भी समर्थन प० जगन्मोहनलालजी ने जैनतत्त्वमीमासा के प्राक्कथन में पृष्ठ १२ पर किया है।

ऊपर जो पं० फूलचन्द्रजी की दृष्टियो का सग्रह किया गया है उनमे कहा-कहा मतभेद है ? इसे स्पष्ट किया जा रहा है।

(१) वस्तु मे प्रतिक्षण जो यथायोग्य स्वभाव अथवा विभाव रूप परिणमन होता है वह वस्तु की अपनी स्वभावगत योग्यता के आधार पर ही होता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु मे होने वाला कोई भी परिणमन ऐसा नही है जो उस वस्तु की अपनी स्वभावगत योग्यता के अभाव मे केवल पर द्वारा निष्पन्न किया जाता हो प० फूलचन्द्रजी की यह दृष्टि निर्विवाद है, परन्तु वस्तु के सभी परिणमन केवल उस वस्तु की स्वभावगत योग्यता के वल पर ही निष्पन्न होते हो—ऐसा नही है क्योकि आगे युक्ति, अनुभव और आगम के आधार पर यह वतलाया जायगा कि प्रत्येक वस्तु मे दो प्रकार के परिणमन हुआ करते हैं । उनमे से एक प्रकार के परिणमन तो वे है जो केवल वस्तु की स्वभावगत योग्यता के वल पर ही निष्पन्न होते हैं। इन्हे आगम मे 'स्वप्रत्यय परिणमन' नाम दिया गया है। दूसरे प्रकार के परिणमन वे हे जो वस्तु की स्वभावगत योग्यता के आधार पर निष्पन्न होकर भी अनुकूल परवस्तु की सहायता से ही निष्पन्न होते हैं। इन्हे आगम मे 'स्वपरप्रत्यय परिणमन' नाम दिया गया है। कोई भी परिणमन केवल परप्रत्यय नही होता—यह निर्विवाद है।

(२) प० फूलचन्द्रजी की जो यह दृष्टि है कि वस्तु का परिणमनस्वभाव स्वत सिद्ध होने से अनादि है यह दृष्टि भी निर्विवाद है और वे जो कहते है कि वस्तु मे उस स्वत सिद्ध और अनादि परिणमन स्वभाव के आधार पर होने वाला विवक्षित परिणमन तभी निष्पन्न होता है जव वह वस्तु उस विवक्षित परिणमन से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय मे पहुँच जाती है सो

उनका यह कहना भी निर्विवाद है, परन्तु जहा प० जी का यह कहना है कि वस्तु विवक्षित परिणमन से अव्यवहित पूर्वक्षण-वर्ती पर्याय मे कालक्रम से अपने-आप पहुँच जाती है वहा अनु-भव, युक्ति आर आगम के आधार पर आगे यह बतलाया जायगा कि उनका यह कथन केवल वस्तु के स्वप्रत्यय परिणमन के सम्बन्ध मे ही लागू होता है वस्तु के स्वपरप्रत्यय परिणमन के सम्बन्ध मे नही, क्योकि आगे स्पष्ट किया जायगा कि वस्तु का विवक्षित स्वपरप्रत्यय परिणमन भी यद्यपि स्वप्रत्यय परिण-मन की तरह उससे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय मे वस्तु के पहुँच जाने पर ही होता है, परन्तु वस्तु विवक्षित स्वपरप्रत्यय परिणमन से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय मे अनुकूल परवस्तु की सहायता से ही पहुँच सकती है स्वप्रत्यय परिणमन की तरह काल क्रम से अपने-आप नही और न उसके अनन्तर होने वाला वह कार्य भी अपने-आप होता है ।

यद्यपि प० फूलचन्द्रजी का कहना है कि जिस प्रकार वस्तु के त्रैकालिक स्वप्रत्ययपरिणमन केवलज्ञान मे युगपत् प्रति-भासित होते हैं उसी प्रकार वस्तु के त्रैकालिक स्वपरप्रत्यय परिणमन भी केवलज्ञान मे युगपत् प्रतिभासित होते है अत वस्तु के स्वप्रत्यय परिणमनो की तरह वस्तु के स्वपरप्रत्यय परिणमनो मे भी काल की नियत पर्याय से सम्बद्ध रहने के कारण नियतपना सिद्ध होता है, परन्तु प० जी ने स्वय ही जैनतत्त्वमीमासा मे इसके विरुद्ध कथन किया है जैसा कि वे जैनतत्त्वमीमासा के पृष्ठ २६१ पर लिखते हैं—

"यद्यपि हम मानते है कि केवलज्ञान को सब द्रव्यो और उनकी सब पर्यायो का जानने वाला मान कर भी क्रमबद्ध

पर्यायों की सिद्धि मात्र केवल ज्ञान के अवलम्बन से न करके कार्यकारण परम्परा को ध्यान मे रखकर की जानी चाहिये।"

इसके अतिरिक्त जैनतत्त्वमीमासा के पृष्ठ २६७ पर भी प० जी ने लिखा है—

"माना कि केवलज्ञान जानने वाला है और सकल पदार्थ उसके ज्ञेय है इसलिये केवलज्ञान से जैसा जानते हैं मात्र इसी कारण पदार्थो का वैसा परिणमन नही होता, क्योकि उनका परिणमन अपनी कार्यकारणपरम्परा के अनुसार होता है। केवलज्ञान आकर उन्हे परिणमाता हो और तव वे परिणमन करते हो यह नही है। वह उनके परिणमन मे निमित्त भी नही है।"

इस तरह पं० फूलचन्द्रजी की दृष्टि मे भी केवलज्ञान के आधार पर जहा जैसा कार्यकारणभाव है उसका निषेध नही होता है। अत कार्य की उत्पत्ति अपने अनुकूल कारणो से होती है यह वात निर्विवाद हो जाती है और तव यह प्रश्न खडा होता है कि सभी कार्य क्या स्वप्रत्यय ही होते है? इस सम्वन्ध मे प० फूलचन्द्रजी का कहना तो यही है कि सभी कार्य स्वप्रत्यय ही होते है परन्तु उनसे मतभेद रखने वालो का अनुभव, युक्ति और आगम के आधार पर यह कहना है कि सभी कार्यों मे से कोई कार्य तो स्वप्रत्यय कार्यों की कोटि मे आते है और कोई कार्य स्वपरप्रत्यय कार्यों की कोटि मे आते है जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा।

(३) इसी प्रसग मे प० फूलचन्द्रजी ने नित्य उपादान और अनित्य उपादान की भी चर्चा की है और कहा है कि नित्य उपादान तो वस्तु के स्वत सिद्ध तथा अनादिस्वभावरूप होता है व अनित्य उपादान वस्तु की कार्यरूप पर्याय से अव्यव-

हित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायरूप होता है तो उनका यह कथन भी निर्विवाद है परन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि विवाद इस बात का है कि स्वपरप्रत्यय कार्य की कारणभूत कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवर्ती पर्याय रूप अनित्य उपादान की उत्पत्ति को जहा भी प० फूलचन्द्रजी स्वप्रत्यय कार्य की तरह अपने-आप मानते है वहा उनसे मतभेद रखने वाले उसकी उत्पत्ति को स्वप्रत्यय कार्य की तरह अपने-आप न मानकर परवस्तु के सहयोग से मानते हैं। इसे भी आगे स्पष्ट किया जायगा।

(४) प० फूलचन्द्रजी का यह कथन भी विवादपूर्ण है कि जब वस्तु कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवर्ती पर्याय मे पहुँच जाती है तब वह वस्तु नियम से उसी कार्य की उत्पादक होती है। यह कथन विवादपूर्ण इसलिये है कि प० जी से भिन्न रखने वालो का कहना है कि उस समय भी उसमे नाना उपादान शक्तियो का सद्भाव रहा करता है अत जिस कार्य के अनुकूल निमित्तो का योग होगा उसी कार्य की उत्पत्ति होगी अन्य की नही। इस मतभेद का आधार यह है कि जहा प० फूलचन्द्रजी का यह कहना है कि जैसा कार्य होता है वैसा हो निमित्तो का योग मिलता है वहा उनसे मतभेद रखने वालो का कहना है कि जैसा निमित्तो का योग मिलता है वैसा ही उपादान शक्ति के आधार पर कार्य होता है।

(५) यद्यपि प० फूलचन्द्र जी ने अपने उक्त मत की पुष्टि मे कार्योत्पत्ति के लिये वस्तु मे उतनी योग्यताये मान्य की है जितने काल के त्रैकालिक समय है परन्तु उनकी यह मान्यता उनसे भिन्न मत रखने वालो को मान्य नही है क्योकि उनका कहना है जब वस्तु की कार्योत्पत्ति सम्बन्धी नित्य उपादानशक्ति स्वभावसिद्ध है तो उसे किसी भी दशा मे सीमाबद्ध नही किया

जा सकता है और अनित्य उपादान शक्तियो के विषय मे प० जी से भिन्न मत रखने वालो का कहना है कि वे अनित्य उपादान शक्तिया निमित्तो की अधीनता मे ही उत्पन्न हुआ करती हैं अत. उन्हे नियत मानने का कोई प्रयोजन नही रह जाता है कारण कि ऐसा मानने पर भी निमित्त की अकिंचित्करता सिद्ध नही होती है। स्वय प० फूलचन्द्र जी ने भी वस्तु की नित्य उपादान शक्ति को सीमाबद्ध नही माना है क्योकि उन्होने जैनतत्त्वमीमासा के केवलज्ञानस्वभाव मीमासा प्रकरण मे पृष्ठ २९६ पर निम्नलिखित कथन किया है—

"लोक-अलोक मे जितने पदार्थ और उनकी पर्यायें हैं उनसे भी अनन्तगुणे पदार्थ और उनकी पर्यायें यदि हो तो उन्हे भी उसमे जानने की सामर्थ्य है।"

इतना अवश्य है कि प० फूलचन्द्र जी चूंकि यह मानते है कि जब जैसा कार्य होता है तब निमित्त भी तदनुकूल ही मिला करते है इसीलिये उनके मतानुसार यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु मे कार्य की अनित्य उपादान शक्तिया उतनी ही सभव है जितने काल के त्रैकालिक समय है। परन्तु प० जी से भिन्न मत रखने वालो को यह इसलिये मान्य नही है कि उनके मतानुसार प० जी का यह सिद्धान्त ही गलत है कि जब जैसा कार्य होता है तब निमित्त भी तदनुकूल ही मिला करते हे। उनके मत से तो यह सिद्धान्त ही सत्य है कि जब जैसे निमित्त मिलते है तब कार्य भी उपादानगत योग्यता के आधार पर उन्ही के अनुसार होता है। इस तरह कार्याव्यवहित पूर्वक्षण के अवसर पर वस्तु मे कार्यरूपपरिणत होने योग्य नाना उपादान शक्तियो का सद्भाव सिद्ध हो जाता है लेकिन प्राप्त निमित्तो की अनुकूलता और बाधक कारणो के अभाव के आधार पर एक

ही उपादान शक्ति कार्य रूप परिणत हुआ करती है। इसका स्पष्टीकरण आगे अनुभव, युक्ति और आगम के आधार पर किया जायगा।

(६) कार्योत्पत्ति मे निमित्त की अकिंचित्करता को सिद्ध करने के लिये प० फूलचन्द्रजी का एक तर्क यह भी है कि निमित्त-भूत वस्तु भी अनादि काल से अपनी क्रमवद्ध पर्यायो मे परिणत होती चली आ रही है और उपादानभूत वस्तु भी अनादिकाल से अपनी क्रमवद्धपर्यायो मे परिणत होती चली आ रही है। ऐसी दशा मे निमित्त को कार्य की उत्पत्ति मे कार्यकारी मानने की कोई आवश्यकता ही नही रह जाती है वात केवल यह हैं कि निमित्तभूत वस्तु मे कार्योत्पत्ति के अवसर पर चू कि कार्य के प्रति अनुकूलता समझ मे आती है अत उसमे कार्य के प्रति निमित्तता का व्यवहार मात्र (कथन मात्र) किया जाता है। प० जी का यह तर्क भी उनसे भिन्न मत रखने वालो को मान्य नही है इसका कारण यह है कि प० जी का तर्क उनके इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जब उपादान कार्यरूप परिणत होता है तब तदनुकूल निमित्त भी वहा रहा करते हैं जब कि उनसे भिन्न मत रखने वालो का कहना है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब तदनुकूल ही उपादान स्वयोग्यतानुसार कार्यरूप परिणत होता है। इसे भी आगे स्पष्ट किया जायगा।

(७) मूलत विवाद प० फूलचन्द्रजी के साथ जैनतत्त्व-मीमासा को लेकर इस बात का है कि आगम मे जिस प्रकार कार्योत्पत्ति के विषय मे उपादानपरक कथन मिलते हैं उसी प्रकार निमित्तपरक कथन भी मिलते हैं इसलिये प्रश्न खडा होता है कि क्या दोनो कथनो मे से एक को सत्य और दूसरे को असत्य माना जाय ? इस सम्वन्ध मे मेरा कहना है कि

पं० फूलचन्द्रजी और उनसे मतभेद रखने वाले दोनो ही आगम के उक्त दोनो कथनो को प्रमाण मानते है । यही कारण है कि प० फूलचन्द्र जी ने भी कार्योत्पत्ति के विषय मे उपादान की स्वीकृति के साथ निमित्त की स्वीकृति की घोषणा जैनतत्त्व-मीमासा मे की है, परन्तु उन्होने आगम के उपादानपरक और निमित्तपरक कथनो मे समन्वय करने का जो प्रयास किया है वह उनसे मतभेद रखने वालो को अनुभव और युक्ति से गलत जान पडता है । इसे भी आगे स्पष्ट किया जायगा ।

पुस्तक में कुछ अस्पष्ट गलत और परस्पर विरोधी बातें

(१) जैनतत्त्वमीमासा पुस्तक मे कही-कही निमित्त के विषय मे यह भी लिखा है कि वह बलाधान मे निमित्त होता है ।[1] एक स्थान पर यह लिखा है कि अपने-अपने उपादान के अनुसार कार्योत्पत्ति होने के समय 'निमित्त बलाधान मे हेतु होता है ।[2] परन्तु जब पं० फूलचन्द्रजी निमित्तभूत वस्तु को कार्योत्पत्ति मे अकिंचित्कर ही मानते है तो उनका उक्त प्रकार के लिखने मे क्या अभिप्राय है ? इसे स्पष्ट करने का पुस्तक मे कही भी प्रयत्न नही किया गया है ।

(२) प० फूलचन्द्रजी जैनतत्त्वमीमासा मे प्रयुक्त निमित्त तथा हेतु इन दोनो शब्दो के अर्थ मे क्या अन्तर समझते है ? यह मेरी समझ मे नही आया है । लेकिन यह निश्चित है कि दोनो शब्दो का प्रयोग उन्होने अलग-अलग अर्थों मे ही किया है ।[3]

---

१ देखो जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ ८४ पक्ति २-३ ।

२ देखो जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ ३२ की टिप्पणी ।

३. यह अभिप्राय जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ ३२ की टिप्पणी से निकलता है ।

(३) आगम सम्वन्धी जो उद्धरण प० फूलचन्द्रजी ने अपने पक्ष के समर्थन मे दिये हैं उनका अर्थ करने मे उन्होने वहुत सी भूलें भी की हैं। उदाहरण के रूप मे जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ ४१ पर नियमसार गाथा १८३ का अर्थ उन्होने अपनी दृष्टि के अनुसार जीव की लोकान्तगमन योग्यता की पुष्टि के रूप मे किया है जवकि गाथा १८४ को ध्यान मे रखकर उसका अर्थ जीव की ऊर्ध्वगमन योग्यता की पुष्टि के रूप मे ही होना है।

(४) इसी प्रकार प० जी कही तो यह लिखते हैं कि कार्य की सिद्धि मे निमित्तो का होना अकिंचित्कर है[१] और कही इससे विपरीत आशय को प्रगट करने वाला ऐसा कथन करते हैं कि उपादान के ठीक होने पर निमित्त मिलते ही हैं उन्हे मिलाना नही पडता।[२] एक जगह[३] तो उन्होने निमित्त की कार्यकारिता को सिद्ध करने वाला यह कथन भी किया है कि उनकी ईरण (गति) क्रिया की प्रकृष्टता अन्य द्रव्यो के क्रिया व्यापार के समय उनके बलाधान मे निमित्त होती है।

(५) प० फूलचन्द्र जी की मान्यता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नही करता यानि एक द्रव्य के परिणमन मे दूसरा द्रव्य सहायक भी नही होता है। इसी मान्यता के आधार पर उनका कहना है कि उपादान के कार्य के अनुकूल व्यापार करने पर जो वाह्य सामग्री उसमे हेतु होती है उसमे निमित्तपने का व्यवहार किया जाता है।[४] परन्तु प० जी के इस कथन का उनके ऊपर उद्धृत इस कथन से विरोध आता है कि उनकी

---

१ जैनतत्त्वमीमांसा पृष्ठ २५२। २ जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ २५३।
३ जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ ८४। ४ जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ २५३।

ईरण (गति) क्रिया की प्रकृष्टता अन्य द्रव्यो के क्रिया व्यापार के समय उनके वलाधान मे निमित्त होती है।

(६) यद्यपि प० फूलचन्द्र जी की यह मान्यता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणमन मे सहायक नही होता है यानि प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक परिणमन उस वस्तु की स्वत सिद्ध योग्यता के आधार पर निमित्त की अपेक्षा किये विना अपने-आप ही होता है फिर भी उन्होने अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिये कार्योत्पत्ति मे निमित्तो की सार्थकता को सिद्ध करने वाले आदि लौकिक पद्यो का सहारा लिया है।[1]

"तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः ।
सहायास्तादृशा सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥"

वास्तविक बात यह है कि प० फूलचन्द्र जी ने निमित्तो के विषय मे अपनी जैनतत्त्वमीमासा पुस्तक मे पूर्वोक्त प्रकार जो अस्पष्ट, गलत और परस्पर विरोधी विचार प्रगट किये हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निमित्तो के विषय मे उनकी कोई निश्चित विचारधारा नही है और चू कि कार्य के प्रति निमित्तो की सार्थकता को वे स्वय नही समझ सके है इसलिये उन्हे प्रत्येक वस्तु मे उपादानशक्तिरूप उतनी योग्यतायें स्वीकार करनी पडी हैं जितना काल के आधार पर भूत, वर्तमान और भविष्यत् रूप मे उस वस्तु के परिणमनो का विभाग सभव है। इसी आधार पर उन्होने क्रम नियमित पर्याय शब्द का अर्थ करने मे भी भूल की है और प्रत्येक कार्य का समय नियत है यह सिद्धान्त भी उन्हे स्वीकार करना पडा है।

---

१. जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ ६६ ।

यद्यपि केवलज्ञान के आधार पर उक्त कल्पना की जा सकती है, परन्तु यह ऐकान्तिक कल्पना है तथा इससे ससारी जीवो मे पुरुषार्थहीनता का भी दोष आता है, कारण कि केवलज्ञान मे कार्यकारणभाव की व्यवस्था ही नही वनती है कार्यकारणभाव की व्यवस्था तो श्रुतज्ञान मे ही सभव है तथा श्रुतज्ञानी जीवो को मुक्ति प्राप्त करने के लिये केवलज्ञान की व्यवस्था उपयोगी न होकर पुरुषार्थ को जाग्रत करने वाली श्रुतज्ञान द्वारा प्रस्थापित अनेकान्तमयी कार्यकारणभाव की व्यवस्था ही उपयोगी होती है जिसमे न तो वस्तु मे उतनी योग्यतायें स्वीकार करने की आवश्यकता है जितने परिमाण भूत, वर्तमान और भविष्यत् रूप मे काल के समयो का विभाग सभव है और न इस बात को मानने की आवश्यकता है कि वस्तु मे होने वाले प्रत्येक परिणमन का समय नियत है। इसी प्रकार निमित्त अकिंचित्कर है इस अनर्थकारी व्यवस्था को भी मानने की आवश्यकता नही है।

मुझे अपनी इस पुस्तक मे प० फूलचन्द्र जी की ऊपर निर्दिष्ट मान्यताओ की ही मुख्य रूप से मीमासा करनी है क्योकि जैनतत्त्वमीमासा के अन्य सभी विषयो की भूमिका इन्हीं मान्यताओ पर आधारित है। वैसे आवश्यकतानुसार इसमे जैनतत्त्वमीमासा के सभी विषय चर्चित किये जावेगे। इसके लिये सर्वप्रथम कार्य के प्रति निमित्तो की सार्थकता के सम्बन्ध मे विचार किया जा रहा है।

(३) कार्य के प्रति निमित्तों की सार्थकता

लोक मे कार्यकारणभाव को लक्ष्य मे रखकर निमित्तो का उपयोग किया जाता है, जैन आगम ग्रन्थो मे भी कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्तो की स्थिति को स्वीकार किया गया है और प० फूलचन्द्र जी ने भी जैनतत्त्वमीमासा पुस्तक मे

कार्यकारणभाव पर विचार करते समय निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को मान्यता दी है। इन सब बातो के आधार पर इतना निष्कर्ष तो निकल ही आता है कि कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्त नाम की वस्तु का अस्तित्व विवाद का विषय नही है किन्तु विवाद इस बात का है कि कार्य के प्रति निमित्तो की क्या कुछ सार्थकता है अथवा वे वहा पर सर्वथा अकिंचित्कर ही बने रहते है ?

इस प्रश्न पर यदि गभीरतापूर्वक ध्यान दिया जाय तो मालूम होगा कि यह बहुत ही महत्व का प्रश्न है क्योकि इसके समाधान से यदि निमित्तो की कार्य के प्रति अकिंचित्करता सिद्ध होती है तो जैनतत्त्वमीमासा की स्थिति अत्यन्त सुदृढ हो जाती है और उसमे प्रतिपादित सभी विषय निर्विवाद सिद्ध हो जाते है। यदि उक्त प्रश्न के समाधान स्वरूप निमित्तो की कार्य के प्रति सार्थकता सिद्ध होती है तो फिर जैनतत्त्वमीमासा का समूचा आधार ही समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि मैंने सर्वप्रथम कार्योत्पत्ति मे निमित्तो की सार्थकता के विषय मे ही विचार करने का निर्णय किया है।

मैं ऊपर बतला आया हूँ कि प० फूलचन्द्रजी और उनसे मतभेद रखने वालो के मध्य प्रकृत विषय मे मतभेद इस बात का है कि प० जी कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्तो की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी कार्य की उत्पत्ति को केवल उपादान के बल पर ही मानते हैं तथा निमित्त को वहा सर्वथा अकिंचित्कर मान लेते है और इसका कारण वे यह कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु के त्रैकालिक परिणमन निश्चित है तथा वे परिणमन अपनी-अपनी नियत उपादान शक्ति के बल पर अपने-अपने नियत समय मे विकास को प्राप्त होकर विनष्ट हो जाते हैं।

प० जी से मतभेद रखने वालो का कहना है कि प० जी की उक्त मान्यता सही नही है क्योकि प्रत्येक वस्तु मे परिणमन दो प्रकार से उत्पन्न हुआ करते है । उनमे से एक परिणमन तो वह है जिसका विकास केवल स्व (उपादान) की अपनी योग्यता के वल पर ही हुआ करता है और दूसरा परिणमन वह है जिसका विकास स्व (उपादान) और पर (निमित्त) दोनों के वल पर ही हुआ करता है। केवल स्व (उपादान) के वल पर होने वाले परिणमन को तो स्वसापेक्ष (स्वप्रत्यय) परिणमन और स्व (उपादान) तथा पर (निमित्त) दोनो के वल पर होने वाले परिणमन को स्वपरसापेक्ष (स्वपरप्रत्यय) परिणमन कहते है। स्वसापेक्ष परिणमन का अपरनाम परनिरपेक्ष परिणमन भी है और स्वपरसापेक्ष परिणमन का अपरनाम परसापेक्ष परिणमन भी है। इस प्रकार जो परिणमन अपनी उत्पत्ति मे स्वपरसापेक्ष अर्थात् उपादान के साथ निमित्त की भी अपेक्षा रखते हैं उनकी उत्पत्ति के प्रति उपादान के वल के साथ-साथ निमित्तो के वल को भी स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वस्तु मे यदि विवक्षित रूप से परिणमित होने की योग्यता नही है तो लाखो निमित्त मिल कर भी उसमे उस परिणमन को उत्पन्न नही कर सकते है। उसी प्रकार विवक्षितरूप से परिणमित होने की योग्यता सपन्न वस्तु मे उस रूप परिणमित होने के लिये यदि स्वभावत. निमित्तो की अपेक्षा अपेक्षित हो तो जव तक निमित्तो का सहयोग उसे प्राप्त नही होगा तव तक वह वस्तु केवल अपनो परिणमित होने की योग्यता के वल पर कदापि उस रूप परिणमित नही होगी। इस विपय को समझने के लिये समयसार वन्धाधिकार की निम्नलिखित गाथाओ पर ध्यान देना चाहिये।

"जह फलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥३०१॥
एव णाणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ।३०२॥"

इन गाथाओं का अर्थ यह है कि जिस प्रकार शुद्ध (स्वत - सिद्ध निज निर्मल स्वभाव का धारक) स्फटिकमणि परिणमन स्वभाव वाला होते हुए भी स्वय (अपने आप अर्थात् निमित्तभूत परवस्तु के सहयोग के विना) रक्तादि रूपता को प्राप्त नही होता किन्तु अन्य रक्तादि वस्तुओ का सहयोग पाकर ही वह रक्तादि रूपता को प्राप्त होता है उसी प्रकार शुद्ध (स्वत सिद्ध निज ज्ञान स्वभाव का धारक) आत्मा परिणमन स्वभाव वाला होते हुए भी स्वय (अपने-आप अर्थात् निमित्तभूत परवस्तु के सहयोग के विना) रागादिरूपता को प्राप्त नही होता किन्तु अन्य रागादि पुद्गल कर्मों का सहयोग पाकर ही वह रागादि रूपता को प्राप्त होता है ।

ये गाथाये हमे इस वात का निर्णय करने का उपदेश देती है कि वस्तु मे परिणमन करने की स्वत सिद्ध योग्यता रहते हुए भी उसमे किसी-किसी परिणमन के उत्पन्न होने मे स्व के साथ-साथ पर की अपेक्षा भी स्वभावत रहा करती है । इस विषय को विस्तार से समझने के लिये उक्त गाथाओ की आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा कृत टीका को भी ध्यान से पढना चाहिये । उस टीका मे निवद्ध निम्नलिखित कलश पद्य भी उक्त विषय को समझने में बडे उपयोगी है ।

"रागादयो वन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ता ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्ना पुनरेवमाहु ॥१७४॥

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्त परसग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥"

यहा पर प्रथम कलश पद्य मे आचार्य श्री ने यह प्रश्न प्रस्तुत किया है कि आत्मा की जिन रागादि परिणतियो को कर्मबन्ध का कारण माना गया है वे जब आत्मा के स्वत सिद्ध निजस्वरूप चैतन्य तेज से पृथक् हैं तो उनकी उत्पत्ति मे क्या आत्मा स्वय निमित्त है अथवा कोई अन्य वस्तु उसमे निमित्त होती है ?

इस प्रश्न का उत्तर दूसरे कलश पद्य मे यह दिया गया है कि सूर्यकान्तमणि की तरह आत्मा भी अपने अन्दर रागादि-रूप परिणति की उत्पत्ति मे स्वय निमित्त नही होता है किन्तु उसमे परवस्तुभूत रागादि पुद्गल कर्मों का आत्मा के साथ सश्लेशरूप सयोग ही निमित्त होता है क्योकि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है ।

इससे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि सूर्यकान्तमणि अथवा आत्मा की तरह प्रत्येक वस्तु अपनी किन्ही-किन्ही पर्यायो की उत्पत्ति मे अन्य वस्तुभूत निमित्तो की स्वभावत अपेक्षा रखती है । इसका फलितार्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु मे स्वसापेक्ष अर्थात् परनिरपेक्ष परिणमनो की तरह स्वपरसापेक्ष अर्थात् परसापेक्ष परिणमन भी उत्पन्न हुआ करते हैं । नियमसार मे आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने आत्मा के स्वपर-सापेक्ष परिणमनो का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है ।

"पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ।"
(गा० १४ का उत्त०)

इसका अर्थ स्वय प० फूलचन्द्रजी ने यह किया है कि पर्याये दो प्रकार की होती हैं—एक स्वपरसापेक्ष और दूसरी परनिरपेक्ष ।

इस प्रकार ऊपर किये गये विवेचन से यह वात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक वस्तु के कोई-कोई परिणमन उस वस्तु की स्वत सिद्ध परिणमनशीलतारूप योग्यता के कार्य होते हुए भी जब तक निमित्तो का सहयोग वस्तु को प्राप्त नही होता तब तक वे परिणमन उत्पन्न नही होते है ।

एक प्रश्न और उसका समाधान

यद्यपि प० फूलचन्द्र ने जैनतत्त्वमीमासा मे कार्यकारण-भाव की उक्त निमित्तनैमित्तिक स्थिति को स्वीकार किया है, परन्तु उनका कहना है कि वस्तु के जिस परिणमन का जब स्वकाल आ जाता है तब वह परिणमन उस काल मे नियम से होता है । इसलिये वे "जब तक अनुकूल निमित्तो का सहयोग प्राप्त नही होगा तब तक स्वत सिद्ध परिणमनशीलतारूप योग्यता का सद्भाव रहते हुए भी वस्तु का स्वपरसापेक्षपरिणमन नही होगा" इस कथन पर यह प्रश्न उपस्थित करना चाहेगे कि यदि निमित्तो के अभाव मे स्वत सिद्ध परिणमनशील वस्तु का परिणमन रुक सकता है तो फिर उसकी स्वत सिद्ध परिणमन-शीलता का क्या उपयोग रह जायगा ?

इसके उत्तर मे मेरा कहना यह है कि उस समय भी एक तो वहा पर उस वस्तु का परनिरपेक्ष परिणमन होता रहेगा, दूसरे उस समय जो अन्य अन्य निमित्तो का सहयोग उस वस्तु को प्राप्त रहेगा उनके वल पर उसके स्वपरसापेक्ष परिणमन के

होने मे भी कोई वाधा उपस्थित नहीं होगी, केवल इतना अवश्य होगा कि अनुकूल निमित्तो का अभाव रहने के कारण उस वस्तु का विवक्षित परिणमन नही होगा ।

दूसरा प्रश्न और उसका समाधान

यद्यपि उक्त उत्तर के पश्चात् भी प० फूलचन्द्र जी यह कहना चाहेंगे कि प्रत्येक वस्तु का भूत, वर्तमान और भविष्यत् समयो मे से प्रत्येक समय मे होने वाला परिणमन निश्चित है और प्रत्येक समय मे निश्चित प्रत्येक परिणमन की योग्यता भी वस्तु मे विद्यमान है इसलिये उस योग्यता का स्वकाल आने पर वह परिणमन अवश्य होगा अन्यथा उस काल मे अन्य योग्यता का अभाव रहने के कारण वह वस्तु उस काल मे अपरिणामी ही ठहर जायगी जिससे वस्तु के स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाव का घात हो जायगा, अत यही मानना श्रेयस्कर है कि वस्तु का स्वपरसापेक्ष परिणमन भी परनिरपेक्ष परिणमन की तरह केवल उसकी अपनी परिणमनशीलतारूप योग्यता के वल पर ही होता है निमित्त की उसकी उत्पत्ति मे कोई उपयोगिता नही है वह तो वहा पर अकिंचित्कर ही है ।

इसके उत्तर मे भी मेरा यह कहना है कि प० जी की यही सवसे वडी भूल है कि वे प्रत्येक वस्तु मे काल के भूत, वर्तमान और भविष्यत् समयो मे से प्रत्येक समय मे होने वाले परिणमन की निश्चित योग्यता मानते हैं । वास्तव मे तो प्रत्येक वस्तु मे स्वसापेक्ष अर्थात् परनिरपेक्ष और स्वपरसापेक्ष अर्थात् परसापेक्ष ऐसी दो ही परिणमन योग्यताये विद्यमान हैं । इनमे से स्वसापेक्ष अर्थात् परनिरपेक्ष परिणमनयोग्यता के वल पर होने वाला परिणमन तो क्रमश एक के वाद एक के रूप मे

सतत ही होता रहता है लेकिन स्वपरसापेक्ष अर्थात् परसापेक्ष परिणमनयोग्यता के बल पर होने वाला परिणमन प्राप्त होने वाले निमित्तो के अनुसार बदली हुई धारा मे भी मानना युक्तिसगत है। इसलिये यह कहना उचित ही है कि जब तक विवक्षित स्वपरसापेक्ष परिणमन की उत्पत्ति के लिये वस्तु को तदनुकूल निमित्तो का सहयोग प्राप्त नही होगा तब तक उस वस्तु का वह विवक्षित परिणमन उत्पन्न नही होगा किन्तु वही स्वपरसापेक्ष परिणमन उत्पन्न होगा जिसके अनुकूल निमित्तो का सहयोग उस समय उस वस्तु को प्राप्त रहेगा । प० फूलचन्द्रजी अपनी इस विषय सम्बन्धी व्यवस्था की सगति जो केवलज्ञान के आधार पर कर लेना चाहते है उसका निराकरण पूर्व मे किया हो जा चुका है।

निमित्तो की सार्थकता में एक अन्य युक्ति

कार्य के प्रति निमित्तो की सार्थकता सिद्ध करने मे एक युक्ति यह भी है कि यदि कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्तो का सद्भाव रहते हुए भी कार्य केवल उपादान शक्ति के बल पर ही होता है निमित्त वहा पर उपादान की सहायता नही करता है तो फिर कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्तो के सद्भाव को बतलाने की उसी प्रकार आवश्यकता नही रह जाती है जिस प्रकार कि घडे की उत्पत्ति के अवसर पर घडे की उत्पत्ति मे सहायक न होने के कारण गधे की उपस्थिति को निमित्त रूप बतलाना आवश्यक नही माना गया है । चूकि स्वपरसापेक्ष कार्यो की उत्पत्ति के अवसर पर निमित्तो के सद्भाव को आगम मे आवश्यक बतलाया गया है और लोक मे भी कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्तो के सद्भाव पर बल दिया जाता है तथा

पूर्वोक्त प्रकार प० फूलचन्द्रजी ने भी निमित्तो को कार्योत्पत्ति के अवसर पर उपादान का बलाधायक स्वीकार किया है अतः यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि जितने स्वपरसापेक्ष कार्य होते है उन सब की उत्पत्ति मे उपादान को निमित्तो के सहयोग की नियम से आवश्यकता रहा करती है।

इस तरह कार्यकारणभाव के सम्बन्ध मे प० फूलचन्द्रजी का यह सिद्धान्त समाप्त हो जाता है कि प्रत्येक वस्तु मे कार्य-रूप से परिणत होने की उतनी ही उपादान शक्तिया विद्यमान हैं जितने काल के त्रैकालिक समय सभव है तथा यह सिद्धान्त भी समाप्त हो जाता है कि वस्तु के प्रत्येक परिणमन का समय निश्चित है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त भी समाप्त हो जाता है कि कार्योत्पत्ति मे निमित्तो का होना अकिंचित्कर है। एक बात पूर्व मे यह बतलायी ही जा चुकी है कि कार्योत्पत्ति के सम्बन्ध मे निमित्तो को स्थान देने मे जैन आगम का यही अभिप्राय है कि जब जैसे निमित्तो का सहयोग उपादान को प्राप्त होता है तब उपादान अपनी योग्यतानुसार तदनुकूल कार्य के रूप मे ही परिणत होता है। कार्योत्पत्ति के सम्बन्ध मे निमित्तो को स्थान देने मे जैन आगम का यह अभिप्राय कदापि नही है कि उपादान अपनी स्वकालगत योग्यता के अनुसार जब जिस कार्यरूप परिणत होता है तब तदनुकूल निमित्त भी वहा उपस्थित रहा करते हैं जैसा कि प० फूलचन्द्र जी स्वीकार करते हैं।

आग कार्योत्पत्ति मे निमित्तो की सार्थकता सिद्ध करने के लिये क्रमबद्ध विचार करने की आवश्यकता है अत सर्वप्रथम यहा पर वस्तु की स्थिति के विषय मे विचार किया जाता है।

वस्तु स्वरूप स्वतःसिद्ध है

जैन-संस्कृति मे वस्तुओ की सख्या इस प्रकार निर्धारित की गयी है—एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असख्यात काल द्रव्य, अनन्तानन्त जीव द्रव्य और अनन्तानन्त पुद्‌गल द्रव्य। इन सब द्रव्य रूप वस्तुओ को स्वत.सिद्ध माना गया है अत. इनके सम्बन्ध मे निम्नलिखित चार बातें फलित होती है।

प्रत्येक वस्तु की सत्ता अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहने वाली है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु आत्मनिर्भर तथा स्वरूप के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर रह रही है। पचाध्यायी प्रथम अध्याय मे वस्तु के सम्बन्ध मे इन्ही चार बातो का समर्थन किया गया है। यथा—

तत्त्वं सल्लाक्षणिक सन्मात्रं वा यत स्वतः सिद्धय्।
तस्मादनादिनिधन स्वसहाय निर्विकल्प च ॥ ८ ॥

अर्थ—स्वरूप और स्वरूपवान मे भेद दृष्टि अपनाने से 'सत्' जिसका लक्षण है और अभेद दृष्टि अपनाने से जो स्वय 'सत्' है वही तत्त्व है—वस्तु है और क्योकि वह स्वत सिद्ध है अत· वह अनादि (उत्पत्ति रहित), अनिधन (विनाश रहित), स्वसहाय (आत्मनिर्भर) और निर्विकल्प (स्वरूप के साथ तादात्म्य को लिये हुए) है।

इन चार बातो मे से यदि किसी भी एक बात की उपेक्षा करके वस्तु को स्वीकार करने का प्रयत्न किया जायगा तो वस्तु व्यवस्था मे जो गडबडी होगी उसका सकेत पचाध्यायी मे यही पर आगे निम्न प्रकार किया गया है।

इत्थ नो चेदसत प्रादुर्भूतिनिरकुशा भवति ।
परत प्रादुर्भावो युतसिद्धत्व सतो विनाशो वा ।। ९ ।।

अर्थ—यदि वस्तु को अनादि नही माना जायगा तो जिन वस्तुओ का आज अस्तित्व नही है उन नवीन वस्तुओ की निराबाध उत्पत्ति होने लगेगी, यदि वस्तु को अनिधन नही माना जायगा तो जिनका आज अस्तित्व है उनके विनाश का प्रसग उपस्थित हो जायगा, यदि वस्तु को स्वसहाय नही माना जायगा तो अन्य वस्तु से अन्य वस्तु की उत्पत्ति होने लग जायगी और यदि वस्तु को निर्विकल्प नही माना जायगा तो स्वरूप और स्वरूपवान दोनो की स्वतन्त्रता सिद्ध हो जाने से दो के मेल से बनी हुई वस्तु मानने का प्रसग उपस्थित हो जायगा ।

इस गडबडी का जो अन्तिम परिणाम होगा उसको भी पचाध्यायी मे उसी स्थान पर आगे पढिये ।

(१) असत् की उत्पत्ति के प्रसग में

असत प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनन्तत्वम् ।
को वारयितु शक्तः कुम्भोत्पत्ति मृदाद्यभावेऽपि ।। १० ।।

अर्थ—असत् की उत्पत्ति स्वीकार करने से एक तो वस्तुओ की सख्या वतलायी हुई सख्या से इतनी आगे वढ जायगी जिसका कही अन्त नही होगा, दूसरे मिट्टी आदि घटोत्पत्ति के साधनो के अभाव मे घट की उत्पत्ति का निवारण करना अशक्य हो जायगा ।

(२) अन्य से अन्य की उत्पत्ति के प्रसंग में

परत सिद्धत्वे स्यादनवस्था लक्षणो महान् दोषः ।
सोऽपि पर परतः स्यादन्यस्मादिति यतश्च सोऽपि परः ॥११॥

अर्थ—वस्तु को अपने अस्तित्व मे आत्म-निर्भर नही मानने से अन्य से अन्य की उत्पत्ति का प्रसग उपस्थित हो जाने पर अनवस्था नाम का महान दोष हो जायगा। अर्थात् जव एक वस्तु का अस्तित्व दूसरी वस्तु पर निर्भर होगा तो स्वत. ही उस दूसरी वस्तु के अस्तित्व को तीसरी वस्तु पर निर्भर मानना होगा। इस तरह प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के लिये अपनायी गयी परावलम्बन की इस धारा का कही भी पहुँचने पर अन्त नही होगा । इसका परिणाम यह होगा कि कारणभूत वस्तु के अभाव मे कार्यभूत वस्तु का अभाव हो जाने पर सम्पूर्ण वस्तुओ का अभाव हो जायगा ।

(३) वस्तु को युतसिद्ध मानने के प्रसंग में

युतसिद्धत्वेऽप्येव गुणगुणिनो स्यात्पृथक् प्रदेशत्वम् ।
उभयोरात्मसमत्वाल्लक्षण भेदः कथ तयोर्भवति ॥१२॥

अर्थ—वस्तु को स्वरूप के साथ तदात्मक नही मानने से उसमे युतसिद्धता अर्थात् गुण और गुणी दोनो के मेल से वस्तु की उत्पत्ति का प्रसग उपस्थित हो जाने पर गुण और गुणी दोनो को पृथक्-पृथक् प्रदेशवत्ता स्वीकार करनी होगी इस तरह दोनो मे समानता आ जाने से गुण गुणी के आश्रित है और गुणी गुणो का आश्रय है यह लक्षणभेद गुण और गुणी मे कैसे सम्भव होगा ?

(४) सत् वस्तुओ के विनाश के प्रसंग में

अथवा सतो विनाश स्यादिति पक्षोऽपि बाधितो भवति ।
नित्यं यतः कथञ्चिद् द्रव्य सुज्ञै प्रतीयतेऽध्यक्षात् ।।१३।।

अर्थ—सत् का विनाश स्वीकार करने का पक्ष भी इस-लिये गलत है कि ज्ञानी जनो को प्रत्येक वस्तु मे कथचित् स्थायीपने का सतत अनुभव होता रहता है।

अन्त मे विपय का उपसहार करते हुए पचाध्यायीकार ने वही पर कहा है—

तस्मा दनेकदूषण दूषित पक्षान निच्छता पु सा ।
अनवद्यमुक्त लक्षण मिह् तत्त्व चानुमन्तव्यम् ।।१४।।

अर्थ—इसलिये उल्लिखित अनेक दोषो से दूषित पक्षों को न चाहने वाले व्यक्ति को वस्तु का जो निर्दोप लक्षण ऊपर बतलाया गया है उसका ही अनुमोदन करना चाहिये ।

इस प्रकार जब किसी भी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करने के लिये उस वस्तु को अनादि, अनिधन, आत्मनिर्भर और अखण्ड मानना आवश्यक है तो यह स्थिति वस्तु को स्वत सिद्ध मानने के लिये वाध्य कर देती है और जव वस्तु को इस तरह स्वत सिद्ध मान लिया जाता है तो इसका निष्कर्ष यही होता है कि वस्तु का अपना निजी स्वरूप स्वत सिद्ध है कारण कि वस्तुस्वरूप की स्वत सिद्धता को छोड़कर वस्तु की स्वत-सिद्धता और कुछ नही है ।

वस्तु स्वरूप प्रतिनियत भी है

अब आगे यह बतलाया जा रहा है कि जिस प्रकार वस्तु का स्वरूप स्वत सिद्ध है उसी प्रकार वह प्रतिनियत भी है क्योकि प्रत्येक वस्तु स्व को छोड कर अन्य किसी भी वस्तु मे नही पाये जाने वाले स्वरूप के आधार पर ही दूसरी सभी वस्तुओ से अपनी भिन्नता सुरक्षित रखती है। इस तरह प्रत्येक वस्तु के स्वरूप के प्रतिनियत होने (स्व को छोड कर अन्य किसी भी वस्तु मे नही पाया जाने) के कारण ही विश्व की वस्तुओ की सख्यानियत परिमाण मे अनन्त सिद्ध होती है। समयसार मे वस्तु के स्वरूप को प्रतिनियत ही स्वीकार किया गया है।

"एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सु दरो लोए ।।"

(गाथा ३ का पूर्वार्ध)

टीका—समय शब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्ते । तत सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्त केऽप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्म-चक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बन्तोऽत्यन्तप्रत्या सत्तावपि नित्यमेव स्वरूपाद पतन्त. पररूपेणापरिणमवादविनष्टानन्त व्यक्तित्वाट्ट-कोत्कीर्णा इव तिष्ठन्त समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्व निश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्य मापद्यन्ते, प्रकारान्तरेण सर्व सकरादिदोषापत्ते. ।

गाथार्थ—एकत्व और निश्चय को प्राप्त अर्थात् अखण्ड एकत्व को प्राप्त समय (पदार्थ) ही लोक मे सर्वत्र सुन्दरता को प्राप्त हो रहा है। अर्थात् वस्तु की कोटि मे गिना जाता है।

टीकार्थ—गाथा मे समय शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थों को ग्रहण किया गया है, क्योकि जो अखण्ड रूप से अपने गुण और पर्यायो मे रह रहा है वह समय कहलाता है ऐसी ही निरुक्ति यहा समय शब्द की स्वीकार की गयी है। इसलिये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्यो के रूप मे अवस्थित सम्पूर्ण लोक मे जितनी सख्या मे जो कोई पदार्थ विद्यमान हैं वे सब पदार्थ एक तरफ तो अपने-अपने द्रव्य मे अन्तर्मग्न और अनन्त सख्याक स्वकीय धर्मों के समूह से अभिन्न हो रहे हैं तथा दूसरी ओर वे सभी पदार्थ एक-दूसरे पदार्थ से बिल्कुल भिन्नता को प्राप्त हो रहे है, इसके अतिरिक्त यद्यपि वे सभी पदार्थ एकक्षेत्रावगाही हो रहे हैं फिर भी वे कभी अपने स्वरूप से च्युत नही होते और चूकि पररूपता को वे कभी प्राप्त नही होते, इसलिये अपना-अपना पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व कायम रखते हुए वे सब पदार्थ मिलकर अपनी अनन्त सख्या को अक्षुण्ण रक्खे हुए हैं। अर्थात् उल्लिखित धर्मादि सभी पदार्थ जितनी सख्या मे अनादि काल से अवस्थित होकर चले आ रहे है अनन्त काल तक उनकी उतनी ही सख्या अक्षुण्ण बनी रहने वाली है। इस तरह जैसे टाकी से ही उत्कीर्ण कर दिये गये हो—ऐसे रहते हुए तथा सम्पूर्ण विरुद्ध और अविरुद्ध कार्यो मे हेतु बन कर विश्व को सहायता पहुँचाते हुए वे सब पदार्थ नियम से अपने आप मे अखण्ड और अपने अस्तित्व मे आत्म-निर्भर होकर ही सौंदर्य को प्राप्त हो रहे है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने पृथक्-पृथक् स्वरूप के आधार पर सत्ता को प्राप्त होकर लोक मे अवस्थित हो रहे हैं। यदि इस प्रकार से पदार्थों की व्यवस्था स्वीकार नही कि जाती है तो सम्पूर्ण पदार्थों मे परस्पर सकर हो जाने का तथा आदि पद से नवीन पदार्थों की

उत्पत्ति और विद्यमान पदार्थों के विनाश का प्रसंग उपस्थित होता है।

इस प्रकार पचाध्यायी और समयसार के उल्लिखित उद्धरण हमे स्पष्ट बतला रहे है कि प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना स्वरूप जैसा स्वत सिद्ध है वैसा प्रतिनियत (स्व को छोड कर अन्य किसी भी वस्तु मे नही पाया जाने वाला) भी है।

वस्तु और वस्तुस्वरूप में परिणमनशीलता भी है

जिस प्रकार वस्तुस्वरूप स्वतःसिद्ध और प्रतिनियत है उसी प्रकार वह परिणमनशील भी है। परिणमनशीलता का अर्थ वस्तु की उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मकता है। पचाध्यायी के प्रथम अध्याय के निम्नलिखित पद्यो द्वारा इस बात का समर्थन होता है।

वस्त्वस्ति स्वतःसिद्ध यथा तथा तत्स्वतश्चपरिणामि।
तस्मादुत्पादस्थितिभगमय तत्सदेतदिह नियमात् ॥८९॥
वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।
तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणानां तु ॥११२॥

पहले पद्य में वस्तु को स्वतःसिद्ध और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप मे परिणामी वतलाया गया है तथा दूसरे पद्य मे वस्तु के गुणो अर्थात् स्वरूप को उसी प्रकार परिणामी स्वीकार किया गया है।

पहले पद्य का अर्थ है कि वस्तु जिस प्रकार स्वतःसिद्ध है उसी प्रकार वह परिणामी भी है इसलिये वह उत्पाद, व्यय और ध्रुवता को प्राप्त हो रही है।

दूसरे पद्य का अर्थ है कि जिस प्रकार वस्तु परिणामी है उसी प्रकार उसके गुण भी परिणामी है इसलिये गुणो में भी उत्पाद तथा व्यय सिद्ध हो जाते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के पचम अध्याय मे भी "सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥" तथा "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ॥३०॥" इन दोनो सूत्रो द्वारा उक्त अर्थ का समर्थन किया गया है। उक्त दोनो सूत्रो का अभिप्राय यह है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के रूप मे जो परिणमनशील हो उसे सत् नाम से पुकारा जाता है और जो उक्त प्रकार से सत् हो उसे ही द्रव्य नाम से पुकारा जाता है। चूकि पूर्वोक्त एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश-द्रव्य, असख्यात कालद्रव्य, अनन्तानन्त जीवद्रव्य और अनन्ता-नन्त पुद्गलद्रव्य ये सब वस्तुयें अपने-अपने पृथक्-पृथक् स्वत सिद्ध और प्रतिनियत स्वरूप के आधार पर 'सत्' की कोटि मे समाविष्ट होती हैं अत इन सब वस्तुओ को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के रूप मे परिणमनशील स्वीकार किया गया है।

परिणमनशीलता के अर्थ में उत्पाद और व्यय के साथ ध्रौव्य भी गर्भित है

परिणमनशीलता के अर्थ मे उत्पाद और व्यय के साथ ध्रौव्य को भी गर्भित किया गया है इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु के स्वभाव मे जो पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद रूप परिणमन होता है वह परिणमन वस्तु स्वभाव के साथ प्रतिनियत रहता है अर्थात् वह परिणमन वस्तु-स्वभाव की परिधि मे हुआ करता है वस्तुस्वभाव की परिधि के बाहर त्रिकाल मे कभी किञ्चिन्मात्र परिणमन नही होता है।

इस तरह प्रत्येक वस्तु के अपने-अपने स्वभाव में होने वाले उत्पाद और व्यय की यह प्रतिनियतता उस उस स्वभाव की ध्रुवता की निशानी है क्योंकि उत्पाद तथा व्यय रूप परिणमन होते हुए भी उल्लिखित प्रतिनियतता का सद्भाव रहने के कारण उस परिणमन मे कभी भी स्वभावरूपता का अभाव नही होता है।

जैसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गल द्रव्य के स्वत.सिद्ध और प्रतिनियत्त स्वभाव है। इन चारो ही स्वभावो मे परिणमित होने की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् स्वत सिद्ध योग्यता पायी जाती है जिसके आधार पर उक्त चारो स्वभावो मे सतत उत्पाद और व्यय रूप परिणमन होता रहता है। चूकि प्रत्येक स्वभाव मे होने वाला उनका अपना अपना वह परिणमन उस उस स्वभाव के साथ प्रतिनियत रूप मे ही हुआ करता है यानि वह परिणमन उस उस स्वभाव की अपनी-अपनी परिधि मे ही होता है अत उनमे प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय रूप से परिणमन होते हुए भी उनका अपना रूपपना, रसपना, गन्धपना और स्पर्शपना सतत बना ही रहा करता है।

इसी प्रकार ज्ञायकपनेरूप देखने व जानने की शक्ति के रूप मे स्वत सिद्ध और प्रतिनियत दो स्वभाव आत्मा के है तथा इन दोनो ही स्वभावो मे परिणमित होने की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् स्वत सिद्ध योग्यता है जिसके आधार पर उन स्वभावो मे सतत उत्पाद और व्यय रूप परिणमन होता रहता है। चूकि उन स्वभावो मे होने वाला अपना-अपना परिणमन उन स्वभावो के साथ प्रतिनियत रूप मे ही हुआ करता है यानि वह परिणमन उस उस स्वभाव की अपनी अपनी परिधि मे ही होता है अत उनमे प्रतिक्षण उत्पाद और व्ययरूप परिणमन

होते हुए भी उनका अपना दर्शनपना और ज्ञानपना सतत बना ही रहा करता है।

समयसार गाथा ३७२ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नलिखित कथन द्वारा उल्लिखित बात का ही समर्थन होता है।

"सर्वद्रव्याणा स्वभावेनैवोत्पादात् । तथा हि मृत्तिका कुम्भभावेनोत्पद्यमाना किं कुम्भकारस्वभावेनोत्पद्यते किं मृत्तिका स्वभावेन ? यदि कुम्भकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुम्भकरणाहकारनिर्भर पुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुषशरीराकार कुम्भः स्यात्, न च तथास्ति, द्रव्यान्तर स्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् । एव च एति मृत्तिकाया स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुम्भकार कुम्भस्योत्पादक एव मृत्तिकैव कुम्भकार स्वभाव मस्पृशन्ती स्वस्वभावेन कुम्भभावेनोत्पद्यते ।"

अर्थ—समस्त द्रव्यो का उत्पाद स्वभाव से (स्वभाव की परिधि मे) ही होता है। अर्थात् द्रव्य के अपने किसी भी उत्पाद मे उस द्रव्य का अपना स्वभाव नष्ट नही होता है। जैसे मृत्तिका जब घट रूप से उत्पन्न होती है तो प्रश्न खडा होता है कि वह क्या कुम्भकार के स्वभाव रूप से घट बनती है अथवा मृत्तिका के अपने स्वभाव रूप से घट बनती है ? यदि कुम्भकार स्वभावरूप से घट बनती है—ऐसा माना जावे तो फिर घट के उत्पादन के अहकार से परिपूर्ण पुरुष से अधिष्ठित और हस्तो के व्यापार से युक्त शरीर के आकार का ही घट बनना चाहिये, किन्तु ऐसा नही होता है। अर्थात् घट की उत्पत्ति कुम्भकार के उल्लिखित स्वभावरूप से नही हुआ करती है क्योंकि एक द्रव्य का परिणमन कभी भी दूसरे द्रव्य के स्वभावरूप से नही हुआ करता है। इस प्रकार मृत्तिका जब अपने स्वभाव को छोडती नही तो फिर

कुम्भकार कुम्भ का उत्पादक न होकर मृत्तिका ही कुम्भकार के स्वभाव को नही छूती हुई अपने स्वभावरूप से कुम्भरूपता को प्राप्त होती है।

इसका आशय यही है कि जब मृत्तिका घटरूप से उत्पन्न होती है तो वह घट सतत मृत्तिका के स्वभाव मे ही रहता है। इस तरह प्रत्येक वस्तु का परिणमन कभी भी उस वस्तु के स्वभाव का अतिक्रमण नही करता है। अर्थात् परिणमन होते हुए भी उसमे वस्तु की स्वभावरूपता सतत बनी ही रहती है। इस तरह उत्पाद तथा व्यय के अवसर पर इस स्वभावरूपता का बना रहना ही ध्रौव्य कहलाता है।

आप्त मीमासा की निम्नलिखित कारिका का भी यही अभिप्राय है।

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

अर्थ—वस्तु अपने सामान्य स्वभाव से न उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है विशेष स्वभाव से ही उत्पन्न और विनष्ट होती है। इस तरह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनो की एक वस्तु मे एक साथ स्थिति रहा करती है।

इस कारिका मे विशेष (उत्पाद और व्यय रूप अशो) के साथ वस्तु के सामान्य (ध्रौव्य) की स्थिति को स्वीकार किया गया है जो इस बात का सूचक है कि उत्पाद और व्यय बिना ध्रौव्य के नही रहते। अत परिणमन का अर्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनो की वस्तु मे एक साथ स्थिति अथवा एकरूपता ही ग्रहण करना युक्त है।

ऊपर के उदाहरणों द्वारा मैंने पुद्गल और आत्मा दोनों वस्तुओं के स्वभावों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप में परिणमन की विवेचना की है। स्वामी समन्तभद्र ने आप्त मीमांसा में वस्तु की द्रव्यपर्यायों (व्यजन पर्यायों) को लेकर भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से परिणमन की विवेचना की है जो निम्न प्रकार है—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रत ।
अगो रस व्रतो नोभे तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥६०॥

अर्थ—स्वर्णकार द्वारा सोने के घड़े को मिटाकर उसका मुकुट बना देने पर जो घड़े के खरीददार को विषाद, मुकुट के खरीददार को हर्ष और सोने के खरीददार को विषाद या हर्ष न होकर साम्यभाव उदित होता है ये तीनों व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न प्रकार की मानसिक वृत्तियां बिना कारण के सम्भव नहीं हैं, इसलिये समझ में आता है कि वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से त्रयात्मक ही है अथवा देखने में आता है कि जिस व्यक्ति ने सम्पूर्ण गोरसों में से केवल दुग्ध सेवन का व्रत ले रक्खा है वह व्यक्ति दधि का सेवन नहीं करता है क्योंकि वह समझता है कि गोरस की दुग्ध पर्याय न रह कर दधि पर्याय बन जाने के कारण उसकी प्रतिज्ञा के अनुसार वह उसके लिये अभक्ष्य हो चुका है, ऐसे ही जिसने समस्त गोरसों में से केवल दधि सेवन का व्रत ले रक्खा है वह दुग्ध का सेवन नहीं करता है क्योंकि वह समझता है कि दुग्धपर्याय दधिपर्याय नहीं है इसलिये उसकी प्रतिज्ञा के अनुसार वह उसके लिये अभक्ष्य है और ऐसे ही जिस व्यक्ति ने अगोरस सेवन का व्रत ले रखा है वह दुग्ध और दधि

दोनो का ही सेवन नही करता है क्योकि वह समझता है कि दुग्ध पर्याय मे दधिपर्याय का अभाव व दधिपर्याय मे दुग्धपर्याय का अभाव रहने पर भी दुग्ध और दधि दोनो पर्यायो मे गोरस-पना तो है ही, इसलिये वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दुग्ध और दधि दोनो को ही अभक्ष्य मानता है । इस तरह इस उदाहरण से भी समझ मे आता है कि वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक ही है ।

प्रत्येक वस्तु अथवा वस्तु के स्वभाव मे उपर्युक्त प्रकार से परिणमित होने की योग्यता स्वत सिद्ध ही मानी गयी है यह वस्तु अथवा वस्तु के स्वभाव की लब्धि या शक्तिरूप अप्रकट विशेषता है तथा इसके आधार पर वस्तु अथवा वस्तु के स्वभाव मे होने वाला परिणमन उपयोग या व्यक्ति रूप प्रकट विशेषता है । वस्तु अथवा वस्तु के स्वभाव मे विद्यमान परिणमित होने की वह योग्यता ही उपादान शक्ति कहलाती है और उसके आधार पर होने वाला परिणमन उसका कार्य कहलाता है । आगे परिणमन के भेदो पर विचार किया जाता है ।

परिणमन के भेद

परिणमन के भेदो की विवेचना करने से पूर्व मैं यह वतला देना चाहता हू कि ऊपर के कथन से निम्नलिखित बाते फलित होती है—

(१) वस्तु और उसका स्वभाव दोनो हो स्वत सिद्ध हैं तथा स्वत सिद्ध होने से दोनो ही अनादि काल से अनन्तकाल तक रहने वाले है ।

(२) दोनो ही परिणमनशील है और दोनो का वह परिणमन उनकी अपनी परिधि मे ही हुआ करता है अर्थात्

दोनो परिणमन करते हुए भी अपने सामान्य रूप को नहीं छोड़ते है। इस तरह दोनो ही उत्पाद, व्यय और ध्रुवता को लिये हुए हैं।

(३) परिणमन कार्य कहलाता है और जिसमे या जिसका वह परिणमन होता है अर्थात् जो परिणमित यानि कार्यरूप परिणत होता है वह कारण कहलाता है । इस तरह वस्तु के परिणमन मे वस्तु कारण है और वस्तु के स्वभाव के परिणमन मे वस्तु का स्वभाव कारण है तथा दोनों मे होने वाला अपना-अपना वह परिणमन कार्य कहलाता है।

(४) चूकि वस्तु के परिणमन मे वस्तु स्वय (आप) परिणमित यानि कार्यरूप परिणत होती है और वस्तु स्वभाव के परिणमन मे वस्तु स्वभाव स्वय (आप) परिणमित यानि कार्यरूप परिणत होता है अत' दोनो अपने-अपने परिणमन के उपादान कारण माने गये हैं तथा दोनो मे विद्यमान परिणमित होने की योग्यता उपादानशक्ति कहलाती है।

(५) वस्तु मे होने वाला परिणमन द्रव्यपरिणमन कहलाता है और वस्तु के स्वभाव मे होने वाला परिणमन गुणपरिणमन कहलाता है।

अव प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वस्तु अथवा वस्तु के स्वभाव मे विद्यमान परिणमित होने की योग्यता (उपादान-शक्ति) के आधार पर होने वाला वह परिणमन क्या स्वयं (अपने आप) ही हुआ करता है ? तो इसका समाधान यह है कि वस्तु मे उसकी अपनी स्वत सिद्ध योग्यता (उपादानशक्ति) के आधार पर जो परिणमन होता है वह परिणमन उसके

अनुकूल अन्य पदार्थ का सहयोग मिलने पर ही होता है और वस्तु के स्वभाव मे उसकी अपनी स्वत सिद्ध योग्यता (उपादान-शक्ति) के आधार पर जो परिणमन होता है वह दो प्रकार से हुआ करता है। अर्थात् वस्तु स्वभाव का कोई परिणमन तो उसके अनुकूल अन्य पदार्थ का सहयोग प्राप्त होने पर ही होता है और कोई परिणमन स्वत (अपने-आप अर्थात् अन्य पदार्थ के सहयोग की अपेक्षा के विना) ही हुआ करता है। इस तरह परिणमन के दो भेद हो जाते हैं—एक स्वसापेक्ष परिणमन और दूसरा स्वपरसापेक्ष परिणमन। स्वसापेक्ष परिणमन को आगम मे स्वसापेक्ष परनिरपेक्ष अथवा परनिरपेक्ष परिणमन भी कहा गया है और स्वपरसापेक्ष परिणमन को परसापेक्ष परिणमन भी कहा गया है। स्वसापेक्ष परिणमन को स्वप्रत्यय और स्वपर-सापेक्ष परिणमन को स्वपरप्रत्यय अथवा परप्रत्यय परिणमन भी आगम मे कहा गया है। इनमे से ऊपर कहे अनुसार वस्तु के द्रव्यपरिणमन तो स्वपरसापेक्ष ही हुआ करते है और वस्तु के गुणपरिणमनो मे से कोई परिणमन तो स्वसापेक्ष होते हैं और कोई परिणमन स्वपरसापेक्ष हुआ करते है। यहा इतना ध्यान रखना चाहिये कि वस्तु अथवा वस्तु के स्वभाव का कोई भी परिणमन स्वनिरपेक्ष परसापेक्ष नही होता, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा।

परिणमन की स्वसापेक्षता और स्वपरसापेक्षता का अभिप्राय

जिसमे या जिसका परिणमन होता है यानि जो परिणत होता है वह 'स्व' कहलाता है। इसे उपादानकारण भी कहते हैं। इसकी अपेक्षा स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष और स्वपरसापेक्ष दोनो ही प्रकार के परिणमनो मे रहा करती है। जो परिणमित तो न

हो परन्तु परिणमित होने वाली वस्तु को परिणमित होने मे सहायक अवश्य हो अर्थात् जिसकी सहायता के विना परिणमित होने वाली वस्तु परिणमित न हो वह 'पर' कहलाता है इसे निमित्त अर्थात् सहायक कारण भी कहते है । इसकी अपेक्षा स्वपरसापेक्ष परिणमन मे ही रहा करती है स्वसापेक्ष पर-निरपेक्ष परिणमन मे नही ।

स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष और स्वपरसापेक्ष परिणमनो में भेद कारण

ऊपर के कथन से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि स्व-सापेक्षपरनिरपेक्ष और स्वपरसापेक्ष दोनो परिणमनो मे भेद का कारण उस उस परिणमन मे पायी जाने वाली परनिरपेक्षता और परसापेक्षता ही है क्योकि परिणमन के प्रतिनियत रहने (स्वभाव की परिधि मे होने) के कारण स्व की अपेक्षा तो दोनो परिणमनो मे समान रूप से रहा करती है । इससे यह भी निष्कर्ष निकला कि वस्तु मे अथवा वस्तु के स्वभाव मे कोई परिणमन स्व की अपेक्षारहित केवल परसापेक्ष नही होता है । अर्थात् वस्तु मे अथवा वस्तु के स्वभाव मे जिस प्रकार के परिणमन की योग्यता विद्यमान नही है उस प्रकार का परिणमन वस्तु मे अथवा वस्तु के स्वभाव मे केवल पर के वल पर त्रिकाल मे कभी भी नही हो सकता है । यही कारण है कि आगम मे स्वनिरपेक्षपरसापेक्ष परिणमन का विधान नही पाया जाता है प्रत्युत स्वनिरपेक्षपरसापेक्ष परिणमन का आगम मे दृढता के साथ निषेध ही किया गया है । इस सम्बन्ध मे समयसार की ११६ से १२० तक की व १२१ से १२५ तक की गाथाओ तथा गाथा १०३ का गहराई के साथ अवलोकन करना चाहिये ।

क्योंकि इनमे स्वनिरपेक्षपरसापेक्ष परिणमन का स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है ।

स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष और स्वपरसापेक्ष परिणमनो के सम्वन्ध मे यह बात भी ध्यान मे रखना चाहिये कि दोनो प्रकार के परिणमनो मे से प्रत्येक परिणमन मे विद्यमान अपनी अपनी परनिरपेक्षता और परसापेक्षता स्वय सिद्ध समझना चाहिये, इसलिये परनिरपेक्ष परिणमन हमेशा परनिरपेक्ष ही हुआ करता है और परसापेक्ष परिणमन हमेशा परसापेक्ष ही हुआ करता है। इसी प्रकार दोनो ही परिणमनो मे समान रूप से विद्यमान स्वसापेक्षता को भी स्वय सिद्ध समझना चाहिये ।

दोनो प्रकार के परिणमनों का दायरा

स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष परिणमन की विवेचना करते हुए आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने आचार्य श्री कुन्दकुन्द द्वारा विरचित नियमसार के जीवाधिकार सम्बन्धी गाथा १४ की टीका मे निम्नलिखित कथन किया है—

"अत्र स्वभावपर्याय. षड्द्रव्यसाधारण अर्थ पर्याय अवाड्.मानसगोचर अतिसूक्ष्म आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्योऽपि च षड्ढानिवृद्धिविकल्पयुत । अनन्तभागवृद्धि , असख्यात भाग-वृद्धि , सख्यातभागवृद्धि , सख्यातगुणवृद्धि , असख्यातगुणवृद्धि , अनन्तगुणवृद्धि. तथा हानिश्च नीयते ।"

अर्थ—स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष और स्वपरसापेक्ष दोनो प्रकार की पर्यायो (परिणमनो) मे से स्वभाव पर्याय (स्वसापेक्षपर-निरपेक्ष परिणमन) छह प्रकार के सभी द्रव्यो (एकधर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, असख्यात कालद्रव्य, अनन्ता-नन्त जीवद्रव्य और अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य इन सव द्रव्यो) मे

समान रूप से अपने-अपने प्रतिनियतरूप मे पायी जाती है। इसे अर्थ पर्याय भी कहते हैं। यह छद्मस्थो के वचन और मन के अगोचर है, अत्यन्त सूक्ष्म है, आगम प्रमाण से (सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट होने से) गम्यमान है और हानि तथा वृद्धि के निम्नलिखित छह छह भेदो द्वारा क्रमश धारावाही रूप से प्रवर्तमान है। अनन्त भागवृद्धि, असख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि, सख्यात गुण वृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इस क्रम से वृद्धि के छह विकल्प है तथा अनन्त भागहानि, असख्यात भागहानि, सख्यात भागहानि, सख्यात गुणहानि, असख्यात गुणहानि और अनन्तगुणहानि इस क्रम से हानि के भी छह विकल्प हैं।

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ के "निष्क्रियाणि च ॥७॥" सूत्र की सर्वार्थसिद्धिटीका मे भी स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष परिणमन के सम्बन्ध मे निम्नलिखित कथन पाया जाता है।

"द्विविध उत्पाद स्वनिमित्त परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानाना षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च।"

अर्थ—उत्पाद दो प्रकार का है—स्वनिमित्त (स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष) और परप्रत्यय (स्वपरसापेक्ष)। स्वनिमित्त (स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष) उत्पाद वह है जो अनन्त अगुरुलघुगुणो (अगुरुलघुगुण के अनन्त अविभागि प्रतिच्छेदरूप शक्त्यशो) मे षट्स्थानपतित हानि और वृद्धि के रूप मे स्वभाव से (परनिरपेक्ष होकर) होता है तथा जो आगम प्रमाण के आधार पर ही स्वीकृत करने योग्य है।

यह स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष परिणमन की विवेचना है। यह उक्त सभी वस्तुओ मे अगुरुलघुगुण के शक्त्यशो की उक्त क्रम सहित छह भेद रूप हानि, इस हानि के पश्चात् छह भेदरूपवृद्धि, इस वृद्धि के पश्चात् फिर हानि और इस हानि के पश्चात् भी फिर वृद्धि इस प्रकार सदा काल स्वत प्रतिनियत रूप मे प्रवर्तमान है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु के उक्त प्रकार से होने वाले इस परिणमन के परनिपेक्ष अर्थात् केवल निजी स्वत सिद्ध प्रतिनियत स्वभाव के आधार पर स्वत होते रहने के कारण यह सतत समान क्रम से ही हुआ करता है किसी भी वस्तु के अनादि से अनन्त काल तक इसके उक्त क्रम मे कभी न तो वैषम्य हुआ और न हो सकता है। इसके अतिरिक्त जितने भी गुणपरिणमनरूप स्वभाव परिणमन होते है वे तथा सभी प्रकार के द्रव्यपरिणमन इन्हे स्वपरसापेक्ष परिणमन जानना चाहिये।

दोनों ही परिणमनो में कार्यकारणभाव की विवेचना का आधार

वस्तु स्वभावगत उक्त स्वसापेक्ष परनिरपेक्ष परिणमन में कार्यकारणभाव की विवेचना का आधार केवल वस्तुस्वभाव और उसका उक्त षड्गुणहानि वृद्धि रूप परिणमन इन दोनो मे पाया जाने वाला उपादानोपादेय भाव ही है क्योकि इस परिणमन मे पायी जाने वाली परनिरपेक्षता की वजह से कार्य-कारणभाव का दूसरा आधार निमित्तनैमित्तिकभाव यहा पर सम्भव नही है। इसलिये कर्तृकर्मभाव और आधाराधेयभाव आदि सम्बन्धो को बतलाने वाली कारक व्यवस्था भी यहा पर केवल उपादानोपादेयभाव के आधार पर ही स्वीकृत करने योग्य है। इस तरह जब स्वसापेक्ष परनिरपेक्ष परिणमन मे

उपादानोपादेयभाव के आधार पर कर्तृकर्मभाव और कारक-व्यवस्था स्वीकार कर ली जाती है तो कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण का आरोप विवक्षित एक उपादानभूत वस्तु मे ही किया जाता है।

स्वपरसापेक्ष परिणमन मे कार्यकारणभाव की विवेचना का आधार उपादानोपादेयभाव और निमित्तनैमित्तिकभाव दोनो ही सिद्ध होते हैं, इसलिये वहा पर जो कार्यकारणभाव, कर्तृ-कर्मभाव और कारक व्यवस्था स्वीकार की जाती है उसमे निमित्तनैमित्तिकभाव और उपादानोपादेयभाव दोनो ही आधार हो जाते है। इस तरह स्वपरसापेक्ष परिणमन मे कर्ता और कर्म को छोडकर करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारको का आरोप विवक्षित उपादानभूत वस्तु से भिन्न उन वस्तुओ मे भी पृथक्-पृथक् यथायोग्य रूप से किया जाता है जो वस्तुयें वहा पर उपादान की कार्यरूप परिणति मे अपने-अपने ढग से सहायक हुआ करती है। कर्मकारक का आरोप उपादान की कार्यपरिणति मे ही यहा पर भी हुआ करता है क्योकि उपादानोपादेयभाव और निमित्तनैमित्तिकभाव का कर्म-रूप विषय एक और वह भी उपादान की कार्यरूप परिणति ही हुआ करती है। कर्ताकारक का आरोप यहा पर उपादानो-पादेयभाव के आधार तो उपादान स्वय मे और निमित्त-नैमित्तिकभाव के आधार पर उपादान से भिन्न उस वस्तु मे किया जाता है जो वस्तु उपादान की उस कार्यरूप परिणति मे स्वतन्त्र रूप से सहायक हुआ करती है।

इस प्रकार जो कार्य अथवा परिणमन अपनी उत्पत्ति मे स्व (उपादान) के साथ-साथ पर (निमित्त) की अपेक्षा रखने वाले होते हैं उनमे उपादानोपादेयभाव और निमित्तनैमित्तिकभाव

इन दोनों के आधार पर उक्त प्रकार से कार्यकारणभाव, कर्तृ-कर्मभाव और कारक व्यवस्था बनती है—ऐसा जानना चाहिये तथा जो कार्य अथवा परिणमन अपनी उत्पत्ति मे पर (निमित्त) की अपेक्षा रहित केवल स्व (उपादान) की अपेक्षा रखने वाले है उनमे कार्यकारणभाव, कर्तृकर्मभाव और कारक व्यवस्था उक्त प्रकार से केवल उपादानोपादेयभाव के आधार पर बनती है ऐसा जानना चाहिये।

निमित्तों की विविधता

जो स्वय (आप) विवक्षित कार्यरूप परिणत होता है उसे उपादान कहते है क्योकि उपादान शब्द' उप' उपसर्गपूर्वक आदानार्थक 'आ' उपसर्गविशिष्ट 'दा' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका व्युत्पत्त्यर्थ परिणमन को स्वीकार या ग्रहण करने वाला अर्थात् कार्यरूपपरिणत होने वाला होता है। इसी प्रकार जो स्वय (आप) विवक्षित कार्यरूप तो परिणत न हो परन्तु उपादान की उस विवक्षित कार्यरूप परिणति मे सहायक अवश्य हो अर्थात् जिसके सहयोग के विना उपादान कार्यरूप परिणत न हो उसे निमित्त कहते है क्योकि निमित्त शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका व्युत्पत्त्यर्थ उपादान की कार्य परिणति मे स्नेहन करने वाला अर्थात् सहायता पहुँचाने वाला होता है । ऐसे निमित्त उपादान को विवक्षित कार्यरूप से परिणत होने मे यथायोग्य भिन्न-भिन्न रूप मे होते हुए विविध प्रकार के हुआ करते है। अर्थात् जितने भी स्वपरसापेक्ष कार्य हुआ करते है उनकी उत्पत्ति मे अपने-अपने ढग से यानि यथावश्यक और यथासम्भव कर्ता, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण रूप से सहयोग प्रदान करती हुई पर (अन्य) वस्तुयें निमित्तकारण कही जाती हैं । ऐसी

वस्तुये कार्योत्पत्ति मे साक्षात् निमित्त होती है तथा स्वस्वा-भिभावादि सम्बन्ध विशेष वस्तु भी कदाचित् परम्परया निमित्त हुआ करती है । इस सम्बन्ध मे उदाहरण के रूप मे निम्न-लिखित वाक्य उपस्थित किया जा सकता है—

"आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने अमुक समय मे अमुक स्थान पर बैठकर भव्य जीवो के लिये अथवा भव्य जीवो के कल्याण के लिये ताडपत्र पर लोहे की शलाका द्वारा समयसार ग्रन्थ की रचना की ।"

इस उदाहरण मे समयसार नामक ग्रन्थ (विवक्षित अक्षरो, पदो, वाक्यो और महावाक्यो का विवक्षित क्रम से ताड पत्र पर उत्कीर्ण हो जाना) ही कार्य है, इसका उपादान-कारण ताडपत्र है क्योकि ताडपत्र की ही उस रूप परिणति हुई है, ताडपत्र के उक्त रूप से परिणमनरूप कार्य मे आचार्य श्री कुन्दकुन्द कर्ता रूप से निमित्त बने हुए हैं, लोहे की शलाका करण रूप से और भव्य जीव अथवा भव्य जीवो का कल्याण सम्प्रदान रूप से निमित्त बने हुए है । "अमुक स्थान पर बैठकर" इस वाक्यांश के 'बैठकर' शब्द से गमन क्रिया की निवृत्ति का बोध होता है अत जहा से गमन करके अमुक स्थान पर आया गया वह अपादान रूप से तथा वह स्थान जहां बैठकर आचार्य श्री ने समयसार की रचना की और वह काल जिस काल मे वह रचना की वे दोनो अधिकरण रूप से निमित्त बने हुए है । इसी प्रकार जब भेद विवक्षा से भव्य जीवो का कल्याण इस वाक्यांश मे से केवल कल्याण शब्द के अर्थ मे ही सम्प्रदानता स्वीकार की जाती है तो वह कल्याण भव्य जीवो का ही हो सकता है इस तरह कल्याण के साथ भव्य जीवो का स्वस्वामि-

भाव सम्बन्ध विशिष्टता भी परम्परया ग्रन्थरचना मे निमत्तता को प्राप्त हो जाती है ।

इस प्रकार किसी भी स्वपरसापेक्ष कार्य की उत्पत्ति के विषय मे कार्यकारणभाव का विचार करने पर यह फलित होता है कि विवक्षित कार्यपरिणतियोग्यता सम्पन्न उपादान को उसकी उस कार्यरूप परिणति मे कर्तारूप निमित्तकारण यथा-सम्भव करण आदि उल्लिखित निमित्तकारणों का सहयोग प्राप्त कर अपना सहयोग प्रदान करता है और तब उपादान को आदि देकर यथावश्यक सम्पूर्ण निमित्तों की अनुकूलता यदि हो जाती है तो विवक्षित कार्य की उत्पत्ति हो जाती है या फिर उपादान अथवा उल्लिखित निमित्तो में से एक अथवा अनेक या सभी की अपनी-अपनी योग्यता में जिस प्रकार की हीना-धिकरूप विशेषता पायी जाती है उसी प्रकार से कार्य के रूप मे भी अन्तर हो जाया करता है अथवा यदि उपादान विवक्षित कार्य परिणति योग्यता सम्पन्न नही होता है तो सम्पूर्ण निमित्तों का सहयोग प्राप्त रहने पर भी कार्योत्पत्ति नही होती है या उपादान के विवक्षित कार्यपरिणति योग्यता सम्पन्न होते हुए भी यदि उल्लिखित निमित्तो मे कमी अथवा उनका अभाव या बाधक निमित्तों का सद्भाव कार्योत्पत्ति में प्रतिकूल वन कर उपस्थित हो जाता है तो भी उस कार्य की उत्पत्ति नहीं हो पाती है ।

उपर्युक्त प्रक्रिया पर यदि सूक्ष्मता के साथ विचार किया जाय तो समझ में आ सकता है कि वह प्रक्रिया अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष और युक्ति से संगत है । इसमें एक द्रव्य की दूसरे द्रव्यरूप परिणति अथवा एक द्रव्य के गुणो का दूसरे द्रव्य में प्रवेश होने की आशंका करना व्यर्थ है क्योंकि उपादान और

कर्ता, करण आदि रूप मे निमित्तभूत वस्तुओ का सर्वदा अपने अपने स्वभाव मे रहते हुए अपना-अपना व्यापार अपने-अपने मे हुआ करता है निमित्तो का केवल सहयोग मात्र उपादान को उसकी कार्यरूप परिणति मे होता है।

जिस प्रकार ऊपर ताडपत्र की विवक्षित अक्षरात्मक परिणति को कार्य मानकर उसकी उपादानता ताडपत्र मे स्वीकार की गयी है उसी प्रकार यदि पुद्गलात्मक शब्द वर्गणा की विवक्षित अक्षरात्मक परिणति को कार्य माना जाय तो फिर वहा पर उपादानभूत वस्तु ताडपत्र न होकर पुद्गलात्मक शब्द वर्गणा होगी तथा यदि श्री कुन्दकुन्दाचार्य की आत्मा के स्वभाव यकपने की भावात्मक समयसाररूप परिणति को कार्य माना जाय तो उपादानभूत वस्तु अभेद विवक्षा मे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की आत्मा तथा भेद विवक्षा मे आत्मा का स्वभाव ज्ञायकपना ही होगा। इतना अवश्य है कि उक्त प्रकार से उपादान को भिन्न-भिन्न रूपता प्राप्त हो जाने पर भी कार्य की परसापेक्षता मे कुछ अन्तर नही पडता है अत यहा पर भी कार्यकारणभाव की विवेचना का आधारभूत निमित्तनैमित्तिकभाव उपादानो-पादेयभाव के साथ सतत बना ही रहता है अन्तर सिर्फ यह है कि जहा ताडपत्र समयसार का उपादान था वहा करण लोहे की शलाका थी, जहा पुद्गलात्मक शब्दवर्गणा उपादान बन गयी वहा आचार्य श्री कुन्दकुन्द का पौद्गलिकमुख अथवा मुख के सहारे पर आत्म प्रदेशपरिस्पन्दात्मक वचन योग को करणता प्राप्त हो गयी और जहा कुन्दकुन्दाचार्य की आत्मा का स्वभाव-भूत ज्ञायकपना उक्त भाव समयसाररूप कार्य का उपादान बना तो वहा आचार्य श्री कुन्दकुन्द के पौद्गलिक मस्तिष्क को अथवा कार्यानुकूल ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को करणता प्राप्त होगयी।

उपर्युक्त विवेचन से यह समझ मे आ जाता है कि स्वपरसापेक्ष कार्य की उत्पत्ति के लिये उपादानगत कार्योत्पत्ति की योग्यता के साथ-साथ यथावश्यक कर्ता, करण आदि अनुकूल निमित्तो का सहयोग प्राप्त होना आवश्यक है । इस प्रकार स्वपरसापेक्ष कार्य मे जितना बल उपादान को प्राप्त है उतना ही बल उपादान द्वारा अपेक्षित निमित्तो को भी मिल जाता है केवल भेद यह है कि उपादान तो कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त उपादान की उस कार्यरूप परिणति मे अपनी सहायता प्रदान करके ही कृतकृत्य हो जाते है । निमित्त उपादान के बलाधान मे सहायता करता है इसका भी यही आशय है ।

निमित्तनैमित्तिकभाव के आधार पर बनने वाली कार्य-कारणभाव की व्यवस्था का वर्णन समयसार मे प्रचुरता के साथ पाया जाता है । यहा हम "जह सिप्पिओ दु कम्म" आदि ३४६ से ३५२ तक की गाथाओ के अर्थ के रूप मे आचार्य श्री अमृतचन्द्र की टीका का उद्धरण दे रहे है—

"यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादि कुण्डलादिपरद्रव्य परिणामात्मक कर्म करोति । हस्त कुट्टकादिभि परद्रव्यपरिणा-मात्मकै करणै करोति । हस्त कुट्टकादीनि परद्रव्यपरिणामा-त्मकानि करणानि गृह्णाति । ग्रामादि परद्रव्य परिणामात्मक कुण्डलादिकर्मफल भुक्ते च, न त्वनेक द्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति । ततो निमित्तनैमित्तिकभाव मात्रेणैव तत्र कर्तृ-कर्म भोक्तृ भोग्यत्व व्यवहार । तथात्मा पि पुण्यपापादिपुद्गल-परिणामात्मक कर्म करोति । काय वाड्मनोभि पुद्गल परिणामात्मकै करणै करोति । कायवाड्मनासि पुद्गल परिणात्मकानि करणानि गृह्णाति । सुख दु खादि पुद्गलद्रव्य परिणामात्मक पुण्य पापादिकर्मफल भुक्ते च, न त्वनेकद्रव्यत्वेन

ततो अन्यत्वे सति तन्मयो भवति । ततो निमित्तनैमित्तिकभाव मात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृ भोग्यत्व व्यवहार ।"

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्णकारादि शिल्पी अपने से भिन्न परद्रव्यात्मक कुण्डल आदि बनाता है, इन्हें हथौडा आदि अपने से भिन्न परद्रव्यात्मक करणो का सहारा लेकर बनाता है तथा परद्रव्यात्मक हथौडा आदि को वह उक्त कार्य को सम्पन्न करने के लिये ग्रहण करता है और कुण्डल आदि का निर्माण हो जाने पर पारिश्रमिक अथवा पारितोषक रूप मे प्राप्त होने वाले ग्राम-धनादिक वस्तुओ का उपभोग भी करता है किन्तु भिन्न-भिन्न द्रव्य होने मे उन सबसे भिन्न ही रहता है तन्मय नही होता, अत यहा पर निमित्तनैमित्तिकभाव मात्र से ही कर्तृकर्मभाव व भोक्तृ भोग्यभाव व्यवहार मे आता है। इसी प्रकार आत्मा भी अपने से भिन्न पौद्गलिक पुण्य-पाप आदि कर्म करता है, पौद्गलिक काय, वचन और मनरूप करणो द्वारा करता है, पौद्गलिक काय, वचन और मनरूपकरणो को ग्रहण करता है और पुण्य-पापादिरूप कर्म के पौद्गलिक सुख-दुखादिरूप फल को भोगता है। किन्तु भिन्न-भिन्न द्रव्य होने से उन सबसे भिन्न ही रहता है तन्मय नही होता। अत यहा पर भी निमित्त-नैमित्तिकभाव मात्र से कर्तृकर्मभाव और भोक्तृ भोग्यभाव व्यवहार मे आता है।

तात्पर्य यह है कि सुवर्णकार अपने से भिन्न हथौडा के द्वारा सुवर्ण से कुण्डल बनाने की आकाक्षा के साथ बनाने की क्रिया भी करता है और बन जाने पर उसके फलस्वरूप प्राप्त धनादिक का उपभोग भी करता है फिर भी जैसे सोना कुण्डल बन जाता है वैसे सुवर्णकार, कुण्डल, हथौडा अथवा धन ये सब परस्पर एक दूसरे रूप परिणत होते नही देखे जाते हैं अलग-

अलग ही रहते है और इतने पर भी सोने की कुण्डलरूप परिणति, सुवर्णकार की उसको बनाने की आकाक्षा व बनाने की क्रिया, हथौडा आदि को ग्रहण करना और उसके जरिये कुण्डल का निर्माण होना तथा उसके निर्माणस्वरूप धनादि की प्राप्ति होना व उसका उपभोग सुवर्णकार द्वारा किया जाना ये सब बातें अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष और युक्ति से असगत नही समझ मे आती है इसलिये इन सब मे अपने-अपने स्वभावानुसार निमित्तनैमित्तिकभाव की स्वीकृति कल्पना मात्र नही है और इस दृष्टान्त के आधार पर जो आत्मा को दृर्ष्टान्त बना कर कथन किया गया है वह भी कल्पनामात्र न रह कर निमित्तो की तथा निमित्तनैमित्तिकभाव के आश्रित कार्यकारणभाव की सार्थकता को ही सिद्ध करता है।

पहले भी वतलाया जा चुका है कि आत्मा अपने राग, द्वेष और मोह रूप अज्ञान से कर्मो से बधता है और वद्धकर्मों के परिपाक से आत्मा मे राग, द्वेष और मोह रूप अज्ञान पैदा होता है। अब यदि निमित्तो की सार्थकता न मानी जावे और निमित्तो की उपेक्षा करके केवल उपादान की अपने आप ही कार्यरूप परिणति मान ली जावे तो राग, द्वेष और मोह रूप अज्ञान से आत्मा कर्मबन्धन को प्राप्त होती है तथा वद्ध कर्मों के परिपाक से आत्मा मे पुन राग, द्वेष मोह रूप अज्ञान पैदा होता है—यह कथन निरर्थक ही हो जायगा।

इस प्रकार यह बात निर्विवाद हो जाती है कि जितने स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष कार्य होते हैं उनमे केवल उपादानोपादेयभाव के आश्रय से कार्यकारणभाव की व्यवस्था निश्चित होती है और जितने स्वपरसापेक्ष कार्य होते है उनमे उपादानोपादेयभाव और निमित्तनैमित्तिकभाव दोनो के आश्रय से कार्यकारणभाव की व्यवस्था सिद्ध होती है क्योकि स्वपरसापेक्ष कार्य मे निमित्तनैमित्तिकभाव के आश्रय से जो कार्यकारणभाव बनता

है उसमे उपादान के साथ-साथ उससे भिन्न कर्ता, करण आदि के रूप मे परवस्तुयें भी कार्य के प्रति निमित्तरूप से करण होती हैं और चूंकि निमित्ताधीन कार्यकारणभाव स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष कार्यों मे नही पाया जाता है क्योकि वहा उपादान से भिन्न वस्तुयें कर्ता, करण आदि के रूप मे निमित्तरूप से कारण नहीं होती हैं अत वहा पर केवल उपादानोपादेयभाव के आश्रय से ही कार्यकारणभाव बनता है। इस विषय को पूर्व मे स्पष्ट किया ही जा चुका है।

समयसार ३४५ से ३४८ गाथाओ की टीका के अन्त मे भी आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्नलिखित कलश काव्य लिखा है—

"व्यावहारिकदृशैव केवल कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तकर्म च सदैकमिष्यते ॥२१०॥"

इसका अर्थ यही है कि व्यावहारिक दृष्टि अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभावरूप पराश्रितपने की दृष्टि से कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न ही रहते हैं और निश्चयदृष्टि अर्थात् उपादानोपादेयभावरूप स्वाश्रितपने की दृष्टि से कर्ता और कर्म सतत एक रूप ही रहा करते है। इसका आशय यह है कि निमित्तरूप कर्ता कभी विवक्षित कार्यरूप परिणत नही होता अत' निमित्तकर्ता और कर्म सदा भिन्न ही रहा करते है और उपादानरूप कर्ता ही कार्यरूप परिणत होता है अत उपादान कर्ता और कर्म सदा एकरूप ही रहा करते हैं।

यहा पर यदि कोई कहे कि पराश्रित होने से निमित्त-नैमित्तिकभाव हेय है और स्वाश्रित होने से उपादानोपादेयभाव उपादेय है इसलिये निमित्तनैमित्तिकभाव के ऊपर से दृष्टि

हटा कर उपादानोपादेयभाव पर दृष्टि रखना श्रेयस्कर है, तो इस विषय मे मेरा कहना यह है कि कहा पर किस रूप से कैसा कार्यकारणभाव बना हुआ है मात्र इसका ही यहा पर निर्णय करना है। हेय और उपादेय का प्रश्न इससे अलग है जिस पर आगे विचार किया जायगा। इस विषय मे यहा पर मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हू कि निमित्ताश्रित कार्यकारणभाव से दृष्टि हटाने का अर्थ यही है कि निमित्त प्रधान कार्यों की तरफ से हमे मुख मोडने का प्रयत्न करना चाहिये। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि यदि हम पाप करते है तो वह स्वभावत (अपने आप) होता है, यदि हम पुण्य करते है तो वह भी स्वभावत (अपने आप) होता है और यदि हम पुण्य तथा पाप से निवृत्त होते है तो वह भी स्वभावत (अपने आप) होता है। वास्तविक वात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वाश्रित बनने के लिये पाप प्रवृति से हटने का और पुण्य प्रवृत्ति करने का प्रयत्न करना चाहिये और फिर पुण्य प्रवृत्ति मे न रम कर अपनी स्वाश्रित प्रवृत्ति मे आना चाहिये। केवल इस मान्यता से काम चलने वाला नही है कि निमित्त कुछ नही करता जो कुछ होता है वह उपादान के केवल अपने ही वल पर होता है, क्योकि जव तक हमारे निमित्ताश्रित कार्य हो रहे है तब तक उनकी निमित्ताश्रितता का लोप कौन कर सकता है ?

पं० फूलचन्द्रजी का अपने अभिमत को पुष्ट करने में एक प्रयास

समयसार मे निम्नलिखित गाथा पायी जाती है—

अण्णदवियेण अण्णदव्वियस्स णो कीरदे गुण विधादो।
तह्मा दु सव्वदव्वा उप्पज्जते सहावेण॥ ३७७॥

अर्थ—अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों की उत्पत्ति नही की जाती है इस कारण मे सम्पूर्ण द्रव्य अपने स्वभाव मे ही उत्पन्न हुआ करते है।

इस गाथा का उल्लेख प० फूलचन्द्रजी ने जैनतत्त्वमीमासा के पृष्ठ ६५ पर किया है तथा इसके द्वारा उन्होने निमित्तों को कार्य के प्रति अकिंचित्कर बनाने का प्रयास भी किया है जिसकी निरर्थकता पर आगे विचार किया जाता है।

पं० जी के उक्त प्रयास की निरर्थकता

उक्त गाथा का भाव यह है कि निमित्तभूत अन्य द्रव्य उपादानभूत द्रव्य मे ऐसी विशेषता पैदा नही कर सकता है जिसकी योग्यता (उपादानशक्ति) उसमे विद्यमान न हो। जैसे मिट्टी मे घटरूप परिणत होने की उपादान शक्ति पायी जाती है तो वह मिट्टी कुम्हार आदि यथायोग्य निमित्त का सहयोग मिलने पर घटरूप परिणत हो जाया करती है और चूकि उस मिट्टी मे पटरूप से परिणत होने की योग्यता (उपादान शक्ति) नही पायी जाती है इसलिये पटरूप परिणति के निमित्तभूत जुलाहा आदि का सहयोग प्राप्त होने पर भी वह पटरूप कदापि परिणत नही होती है।

गाथा का दूसरा भाव यह है कि उपादानभूत वस्तु ही विवक्षित कार्यरूप परिणत होती है निमित्तभूत वस्तु नही। जैसे मिट्टी का स्वभाव ही घटरूप परिणत होने का है अतः मिट्टी ही घटरूप परिणत होती है कुम्हार, चक्र आदि कभी घटरूप परिणत नही होते।

गाथा का तीसरा भाव यह है कि कोई भी कार्य हमेशा अपने उपादान के रूप मे ही प्रगट होता है निमित्त के रूप में कदापि प्रगट नही होता। जैसे उपादान होने के कारण घट हमेशा मिट्टी के रूप मे ही प्रगट होता है निमित्तभूत कुम्हार, चक्र आदि के रूप मे कभी प्रगट नही होता।

गाथा का चौथा भाव यह है कि यदि उपादान मे विवक्षित कार्यरूप से परिणत होने की स्वाभाविक योग्यता विद्यमान हो तो निमित्तो का सहयोग मिलने पर उससे उस विवक्षित कार्य की उत्पत्ति हो सकती है अन्यथा नही। जैसे वालुका मिश्रित मिट्टी मे घट निर्माण की स्वाभाविक योग्यता विद्यमान नही है तो कुम्हार, चक्र आदि निमित्त उसमे घट निर्माण की योग्यता को कदापि उत्पन्न नही कर सकते हैं वे तो केवल मिट्टी को घटरूप से परिणत होने मे सहयोग मात्र दे सकते हैं।

इस प्रकार देखने मे आता है कि उक्त गाथा से यह अर्थ ध्वनित नही होता कि कार्य की उत्पत्ति उपादान मे अपने आप (निमित्त के सहयोग की अपेक्षा के बिना) ही हो जाया करती है निमित्त वहा अकिंचित्कर ही बना रहता है।

इसलिये प० फूलचन्द्रजी उक्त गाथा द्वारा जो कार्य की उत्पत्ति मे निमित्तो की अकित्करता सिद्ध करना चाहते है सो उनका यह प्रयास निरर्थक ही समझा जाना चाहिये क्योकि यदि मिट्टी कुम्हार आदि निमित्तो के सहयोग के बिना अपने आप ही घटरूप परिणत हो सकती है तो फिर इसके लिये कुम्हार आदि निमित्तो को जुटाने की क्या आवश्यकता रह जाती है ? इसी प्रकार निमित्तो के सहयोग के बिना ही उपादान यदि विवक्षित कार्यरूप परिणत होता है तो आगम मे परिणमन

रूपकार्य के जो स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष और स्वपरसापेक्ष ऐसे दो भेद स्वीकार किये गये है इस दो भेदरूप स्वीकृति का क्या प्रयोजन रह जाता है ? क्योकि प० जी के मतानुसार वे दोनो ही परिणमन समान रूप से निमित्तो के सहयोग के विना ही उत्पन्न हो सकते है ।

वास्तविक बात यह है कि निमित्तो के सहयोग के विना स्वपरसापेक्ष कार्य की उत्पत्ति अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष, युक्ति और आगम के विरुद्ध है अत प० फूलचन्द्रजी की उक्त मान्यता मिथ्या ही मानी जायगी और ऐसी दशा मे उनकी यह मान्यता भी मिथ्या मानी जायगी कि कार्योत्पत्ति मे निमित्त अकिंचित्कर है ।

श्री आचार्य जयसेन ने भी सम्यसार की उल्लिखित गाथा का अर्थ करते हुए अपनी तात्पर्य वृति टीका मे लिखा है—

"अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो ।
तह्मा दु सव्वदव्वा उप्पज्जते सहावेण ।।"

टीका—अन्य द्रव्येण वहिरग निमित्तभूतेन कुम्भकारादिनाऽन्य द्रव्यस्योपादान रूपस्य मृत्तिकादेर्न क्रियते, स क ? चेतनस्याचेतनरूपेण, अचेतनस्यचेतनरूपेण वा चेतना चेतनगुणघातो विनाशो न क्रियते यस्मात् तस्मात् कारणात् मृत्तिकादिसर्वद्रव्याणि कर्तॄणि घटादि रूपेण जायमानानि स्वकीयोप दानकारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायन्ते न च कुम्भकारादिबहिरगनिमित्तरूपेण । कस्मादिति चेत्, उपादानकारणसदृश कार्य भवतीति यस्मात् । तेन किं सिद्धम् ? यद्यपि पचेन्द्रियविषयरूपेण शब्दादीना वहिरगनिमित्तभूतेनाज्ञानिजीवस्य रागादयो जायन्ते तथापि जीवरूपा एव चेतना न पुन शब्दादिरूपा अचेतना भवन्तीति भावार्थ. ।

अर्थ—बहिरग निमित्तभूत कुम्भकारादि अन्य द्रव्य द्वारा उपादानभूत मृत्तिका आदि अन्य द्रव्य का चेतन का अचेतनरूप से और अचेतन का चेतन रूप से गुणघात क्योकि नही किया जाता है अत. कर्त्तारूप मृत्तिका आदि सम्पूर्ण द्रव्य घटादिरूप से उत्पन्न होते हुए अपने उपादानकारण मृत्तिका आदिरूप ही उत्पन्न होते है कुम्भकार आदि बहिरग निमित्तरूप नही उत्पन्न होते है । क्योकि "उपादानसदृश ही कार्य उत्पन्न होता है" यह नियम है । इससे यह सिद्ध होता है कि पाचो इन्द्रियो के विषय-भूत शब्दादि निमित्तो के सहयोग से यद्यपि अज्ञानी जीव के रागादि उत्पन्न होते है तो भी वे रागादि जीवरूप से चेतन ही होते है शब्दादिरूप से अचेतन नही होते है ।

इसमे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि कार्य तो उपादान-रूप ही उत्पन्न होता है परन्तु वह निमित्तो के सहयोग से ही उत्पन्न होता है ।

श्री आचार्य अमृतचन्द ने भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ मे निम्न गाथाओ द्वारा उक्त अर्थ की पुष्टि की है—

"जीव कृत परिणाम निमित्त मात्र प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ।।१२।।
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावै ।
भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिक कर्म तस्यापि ।।१३।।"

इन गाथाओ मे बतलाया गया है कि जीव के परिणामो का मात्र निमित्त (सहयोग) पाकर अन्यद्रव्यरूपपुद्गल अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्मरूप परिणत हो जाया करते है तथा इसी प्रकार अपने चिदात्मक भावो के रूप परिणत होने वाले

आत्मा को पौद्गलिक कर्म भी निमित्त मात्र (सहायक मात्र) हुआ करते हैं ।

स्वय आचार्य कुन्दकुन्द ने भी समयसार के कर्तृकर्माधिकार मे यही लिखा है—

"जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति ।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ ॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्हपि ॥"

अर्थ—जीव के परिणामो का निमित्त (सहयोग) पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणत होते हैं और पुद्गल कर्मो का निमित्त (सहयोग) पाकर जीव रागादि रूप परिणत होता है । जीव पुद्गल मे कर्मरूप से परिणत होने की योग्यता को उत्पन्न नही करता और इसी तरह कर्म भी जीव मे रागादिरूप से परिणत होने की योग्यता उत्पन्न नही करता केवल उस उस प्रकार की स्वाभाविक योग्यता सम्पन्न दोनो वे परिणाम एक दूसरे के निमित्त (सहयोग) से हुआ करते हैं ।

इस प्रकार इन सब उद्धरणो के आधार पर यह निर्णीत हो जाता है कि प० फूलचन्द्रजी समयसार की उक्त ३७२ वी गाथा मे पठित "सहावेण" पद का जो यह अर्थ ग्रहण करना चाहते है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वभाव से अर्थात् निमित्तो की सहायता की अपेक्षा के बिना अपने आप ही हुआ करता है सो यह उनका मिथ्या प्रयास है । क्योकि उक्त उद्धरणो से उपादानभूत वस्तु के परिणमन मे निमित्तभूत वस्तु के सहयोग का निषेध नही होता है प्रत्युत उसका तो समर्थन ही होता है बात सिर्फ इतनी है कि कोई भी परिणमन उपादान की स्वभावगत

योग्यता के अनुसार उस स्वभाव के दायरे मे ही हुआ करता है उसमे अन्य द्रव्य तो केवल सहायक मात्र हुआ करता है। इसलिये उक्त गाथा ३७२ मे पठित 'सहावेण' पद का यही अर्थ ग्रहण करना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन उसके अपने स्वभावानुसार अर्थात् स्वभाव के दायरे मे ही हुआ करता है स्वभाव के अभाव मे अन्य निमित्तभूत द्रव्य अन्य उपादानभूत द्रव्य मे उस परिणमन को उत्पन्न कर देता हो अथवा उसमे उस परिणमन का स्वभाव उत्पन्न कर देता हो—ऐसी बात नही है।

प० फूलचन्द्र जी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की उल्लिखित गाथाओ मे पठित 'स्वयमेव' और 'स्वयमपि' पदो का जो "निमित्तो की सहायता के विना अपने आप" अर्थ कर लेना चाहते हैं वह भी मिथ्या ही है क्योकि इन पदो का अर्थ वही है जो समयसार गाथा ३७२ मे पठित 'सहावेण' पद का होता है।

यहा पर हम इतना और स्पष्ट कर देना चाहते है कि एक तरफ तो प० फूलचन्द्रजी ऊपर लिखे प्रकार स्वपरसापेक्षपरिणमन मे निमित्तो को अकिंचित्कर सिद्ध करना चाहते है और दूसरी तरफ वस्तु के स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष परिणमन मे काल की निमित्तता का समर्थन भी करते है। इस सम्वन्ध मे उन्होने 'जैनतत्त्वमीमासा' के पृष्ठ ४२ पर निम्नलिखित कथन किया है।

"यदि प्रति समय पर्यायरूप से द्रव्य का जो परिणमन होता है फिर चाहे वह द्रव्य का शुद्ध परिणमन हो और चाहे द्रव्य का अशुद्ध परिणमन हो, उसके इस परिणमन मे कालद्रव्य निमित्त है।"

आगे फिर व लिखते है—

"यद्यपि नियमसार मे आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वपरसापेक्ष और परनिरपेक्ष इन दो प्रकार की पर्यायो का निर्देश किया है पर वहा उनके उक्त कथन का यह अभिप्राय नही है कि द्रव्यों की शुद्ध पर्यायो मे काल द्रव्य निमित्त नहीं है किन्तु वहा उनके उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि जीवो और पुद्गलो की अशुद्ध अवस्था मे प्रत्येक पर्याय के निमित्तनैमित्तिकभाव से प्राप्त हुए जो अलग-अलग निमित्त होते हैं ऐसे निमित्त द्रव्यो की शुद्ध पर्यायो मे नही पाये जाते है इसलिये द्रव्य की शुद्ध पर्यायें परनिरपेक्ष होती है।"

प० जी के इस कथन से यह सकेत मिलता है कि उन्हे भी परिणमन के स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय ऐसे दो भेद स्वीकार हैं और यही कारण है कि परिणमन के परनिरपेक्ष और स्वपरसापेक्ष ऐसे दो भेद स्वीकार करते समय उनके सामने यह समस्या उपस्थित हुई है कि काल द्रव्य को आगम मे वस्तु के परनिरपेक्ष और स्वपरसापेक्ष दोनो प्रकार के परिणमनो मे निमित्तरूप से स्वीकार किया गया है इसलिये इस आधार पर यदि काल द्रव्य को परनिरपेक्ष परिणमन मे निमित्तरूप से स्वीकार किया जाता है तो फिर उसकी परनिरपेक्षता ही समाप्त हो जायगी। इस प्रकार इस समस्या का समाधान करने के लिये प० जी ने वह कथन किया है जिसमे उन्होने यह बतलाया है कि निमित्तनैमित्तिकभाव से प्राप्त होने वाले अन्य निमित्तो की निमित्तता और कालद्रव्य की निमित्तता मे अन्तर पाया जाता है। हम नही कह सकते है कि प० जी की दृष्टि मे वह अन्तर क्या है ? इसलिये आवश्यक जान कर यहा पर वह अन्तर दिखलाया जा रहा है।

आगम मे विश्व की समस्त वस्तुओ के प्रति आकाश द्रव्य का उपकार उन्हे अपने अन्दर समा लेने का बतलाया है तथा जीव और पुद्गल द्रव्यो के प्रति धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य का उपकार क्रमश उन दोनो की गति और स्थिति मे अवलम्बन रूप से सहायक होने का बतलाया है। इसी प्रकार आगम मे समस्त वस्तुओ के प्रति काल द्रव्य का उपकार वर्तना के रूप मे वतलाया गया है और व्यवहार काल का उपकार वस्तुओ के यथायोग्य परिणाम, क्रिया तथा परत्वापरत्व के रूप मे स्वीकार किया गया है। अब प्रकृत मे विचारणीय बात यह है कि यदि काल द्रव्य वस्तु के परिणमन मे उसी प्रकार निमित्त होता है जिस प्रकार कि दूसरी वस्तुये निमित्त होती है तो परिणमन विशेषरूप जीव और पुद्गल द्रव्यो की गति मे भी कालद्रव्य को निमित्तता प्राप्त हो जायगी जिससे धर्मद्रव्य की निरर्थकता का प्रसग उपस्थित हो जायगा। इसलिये वास्तविक बात यह है कि प्रत्येक परिणमन अपने-अपने यथायोग्य स्वत सिद्ध स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष और स्वपरसापेक्ष परिणमन स्वभाव के अनुसार क्रमश स्वत और निमित्तभूत पर की सहायता से हुआ करता है इसमे कालद्रव्य निमित्त नही हुआ करता है परन्तु वस्तु का कोई उत्पाद अथवा व्ययरूप परिणमन जो एक क्षण अथवा आवली मुहूर्त, घडी, घन्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि की मर्यादा लिये हुए होता है इसका व्यवस्थापक व्यवहार काल होता है और उसको प्रवर्तमानरूपता का व्यवस्थापक कालद्रव्य होता है।

तात्पर्य यह है कि वस्तु का परिणमन या तो स्वत. होता है अथवा परिणमन के अनुकूल निमित्तो के सहयोग से होता है परन्तु कोई भी परिणमन कब प्रारब्ध हुआ और कब समाप्त हुआ इसको बतलाने वाला व्यवहार काल होता है।

जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान को हम जाते है तो हमारे उस गमन मे धर्मद्रव्य अवलम्बनरूप से निमित्त होता है, तागा आदि वाहन करणरूप से निमित्त होते हैं और भी अपने-अपने ढग से निमित्त हुआ करते है लेकिन हमने गमन कव प्रारव्ध किया और कव विवक्षित स्थान पर पहुँचे इसकी व्यवस्था व्यवहार काल के द्वारा की जाती है और गमन क्रिया की जो प्रवर्तमानता है उसका व्यवस्थापक काल द्रव्य होता है। परिणमन मे पायी जाने वाली प्रवर्तमानरूपता और उसकी काल मर्यादा से हमे कालद्रव्य और व्यवहार काल का भेद भी समझ मे आ जाता है। इतना ही नही वर्तना और परिणाम (परिणमन) मे क्या अन्तर है ? यह वात भी समझ मे आ जाती है।

काल द्रव्य और व्यवहार काल की स्थिति, उनके स्वरूप तथा उनके वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व तथा अपरत्व रूप कार्यों का विवेचन एव उनमे पाये जाने वाले अन्तर का यद्यपि विस्तार से कथन आवश्यक है परन्तु यहा पर मुझे केवल प्रसगवश इतना ही वतलाना है कि स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष परिणमन मे उक्त प्रकार से कालद्रव्य और व्यवहार काल की अवलम्वन-रूप निमित्तता रहते हुए भी उस परिणमन की परनिपेक्षता पर कोई आच नही आती है।

अभी तक के विवेचन का सार

अभी तक मैंने कार्य के प्रति निमित्तो की सार्थकता सिद्ध करने के प्रसग मे जो कुछ लिखा है उसका सार यह है कि यथायोग्य धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल नामो से पुकारी जाने वाली जितनी अनन्तानन्त वस्तुयें विश्व में हैं इन सभी वस्तुओ का अपना-अपना पृथक्-पृथक् निजी स्वयसिद्ध

और प्रतिनियत (स्व के अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तु मे नही पाया जाने वाला) स्वरूप है। ये सभी वस्तुयें विश्व मे अनादि-काल से रहती आयी और अनन्तकाल तक रहने वाली है तथा इनमें से प्रत्येक वस्तु अपने आप मे तथा स्वरूप के साथ अखण्ड तथा अपने अस्तित्व मे पराश्रितता से रहित आत्मनिर्भरता को धारण किये हुए है। इतना ही नही, प्रत्येक वस्तु स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाव वाली है अर्थात् प्रत्येक वस्तु मे परिणमित होने की स्वत सिद्ध योग्यता (उपादान शक्ति) विद्यमान है। परिणमन भी प्रत्येक वस्तु मे जब जैसा होता है वह उस-उस वस्तु के अपने-अपने स्वभाव की सीमा में ही हुआ करता है किसी भी वस्तु का कोई भी परिणमन उसके अपने स्वभाव के बाहर त्रिकाल मे कदापि नही होता है । इतना अवश्य है कि प्रत्येक वस्तु का कोई परिणमन तो स्वसापेक्षपरनिरपेक्षरूप मे और कोई परिणमन स्वपरसापेक्षरूप मे हुआ करता है। अर्थात् यद्यपि कोई परिणमन परनिरपेक्षरूप मे और कोई परिणमन परसापेक्षरूप मे हुआ करता है लेकिन स्वसापेक्षता दोनो ही प्रकार के परिणमनो मे रहा करती है । परिणमनो की यह स्वसापेक्षता और परनिरपेक्षता तथा स्वपरसापेक्षता उस-उस वस्तु मे स्वयसिद्ध रूप मे ही विद्यमान है। इस प्रकार यह सब प्रत्येक वस्तु की स्वाभाविक स्थिति है इसमें विवाद करने की "स्वभावोऽतर्कगोचर" के न्याय के अनुसार कुछ भी गुजाइश नही है। इसके आगे यहा अब मैं उक्त दोनो स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष तथा स्वपरसापेक्ष परिणमनो का आवश्यकतानुसार विशेष विवेचन करना उचित समझता हू।

स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष परिणमन के सम्बन्ध मे विवेचन

स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष परिणमन के सम्बन्ध मे मैं यह बतला चुका हू कि विश्व के सभी पदार्थों के अगुरुलघुगुण के

शक्त्यशों मे जो अनन्तभागवृद्धि, असख्यातभागवृद्धि, सख्यात-भागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि और अनन्त-गुणवृद्धि इन छह् भेदरूपवृद्धि तथा अनन्तभागहानि, असख्यात-भागहानि, सख्यातभागहानि, सख्यातगुणहानि, असख्यात-गुणहानि और अनन्तगुणहानि इन छह् भेदरूपहानि सतत हुआ करती है इसी का नाम स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष परिणमन है क्योकि यह् परिणमन परवस्तु की सहायता के विना अपने आप ही सतत होता रहता है ।

अव यदि इस षड्गुणहानिवृद्धि रूप परिणमन मे कार्य-कारणभाव व्यवस्था को स्थान दिया जाय तो उसकी सगति इसमे स्वसापेक्षता विद्यमान रहने के कारण यद्यपि उपादानो-पादेयभाव के आधार पर विठलाई जा सकती है, परन्तु कार्य-कारणभाव व्यवस्था की उपयोगिता यहा पर कुछ भी नही है क्योकि प्रत्येक वस्तु के इन षड्गुणहानिवृद्धिरूप परिणमनो मे ऐसी कोई भी विलक्षणता नही पायी जाती है जिसको लक्ष्य मे रख कर कार्यकारण व्यवस्था पर विचार करना आवश्यक हो जाय । इसलिये इस सम्बन्ध मे अधिक विचार न करके अव स्वपरसापेक्ष परिणमन के सम्बन्ध मे विचार किया जाता है ।

स्वपरसापेक्ष परिणमन के सम्बन्ध में विवेचन

प्रत्येक वस्तु के स्वपरसापेक्ष परिणमन के सम्बन्ध मे विचार करने से पूर्व मैं यह बतला देना चाहता हू कि इन परिणमनो को कार्यकारणभाव व्यवस्था की उपयोगिता और अनुपयोगिता के आधार पर दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है । अर्थात् एक प्रकार का स्वपरसापेक्ष परिणमन ऐसा होता है जिसमे परसापेक्षता के विद्यमान रहने के कारण

निमित्तनैमित्तिकभाव के आधार पर कार्यकारणभाव व्यवस्था की सगति हो जाने पर भी उसका कुछ उपयोग नही होता है अत इसमे भी स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष परिणमन की तरह कार्य-कारण व्यवस्था पर विचार करना आवश्यक नही है। लेकिन एक ऐसा भी स्वपरसापेक्ष परिणमन होता है जिसमे निमित्त-नैमित्तिकभाव के आधार पर विद्यमान कार्यकारणभाव व्यवस्था पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। स्वपरसापेक्ष परिणमन मे उपादानोपादेयभाव के आधार पर विद्यमान कार्यकारणभाव की व्यवस्था भी जहा उपयोगी होती है वहा उस पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है जैसे बालुका के मिश्रण से रहित मिट्टी से ही घट का निर्माण हो सकता है बालुका मिश्रित मिट्टी से नही, इसी तरह भव्य ही मुक्ति पा सकता है अभव्य नही—इत्यादि रूप से लोक मे और आगम में विचार किया जाता है। इस पर विशेष विचार न करके निमित्ताश्रित कार्यकारणभाव व्यवस्था पर ही यहा विचार किया जा रहा है।

इसके सम्बन्ध मे सर्वप्रथम ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करता हूं जिसमे परसापेक्षता विद्यमान रहने के कारण यद्यपि निमित्त-नैमित्तिकभाव के आधार पर कार्यकारण व्यवस्था का सद्भाव रहता है परन्तु उसकी कुछ उपयोगिता नही है। इनमे प्रथमत आकाश द्रव्य का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

आकाश द्रव्य का उदाहरण

आकाश द्रव्य का स्वभाव आत्मा के स्वपरप्रकाशक स्वभाव की तरह स्व और विश्व के अन्य सभी पदार्थो को अवगाहित करने का (अपने अन्दर समा लेने का) है और चूंकि

इस तरह परपदार्थों को अवगाहित करने का उसका स्वभाव परसापेक्ष होकर ही परिणमनशील है अत जब जैसा परिणमन उन अवगाह्यमान पर पदार्थों का परिणमन के अनुकूल कारणो के आधार पर होता है तव उसी रूप से वे पदार्थ आकाश मे अवगाहित होते है इसका आशय यह हुआ कि तव आकाश के अवगाहक स्वभाव मे अवगाह्यमान उन पदार्थों के निमित्त से परिणमन स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है । अर्थात् जिस पर वस्तु को आकाश पहले जिस रूप से अवगाहित कर रहा था उस पर वस्तु का कालान्तर मे रूप वदल जाने पर उसको आकाश द्रव्य तव उस वदले हुए रूप से ही अवगाहित करने लगता है । इससे सिद्ध होता है कि आकाश का परपदार्थों को अपने अन्दर अवगाहित करने का स्वभाव अपने परिणमन मे परपदार्थसापेक्ष है ।

इस तरह आकाश के अवगाहक स्वभाव के परिणमन मे परसापेक्षता होने के कारण निमित्तनैमित्तिकभाव के आधार पर कार्यकारणभाव व्यवस्था की सगति हो जाती है तथा यह वात पहले ही वतलायी जा चुकी है कि कोई भी स्वपरसापेक्षपरिणमन वस्तु स्वभाव के प्रति प्रतिनियत रहने के कारण स्वापेक्ष तो रहता ही है अत इसमे उपादानोपादेयभाव के आधार पर भी कार्यकारणभाव की सगति हो जाती है । इस तरह आकाश के अवगाहक स्वभाव के परिणमन मे निमित्तनैमित्तिकभाव और उपादानोपादेयभाव दोनो आधारो पर कार्यकारणभाव व्यवस्था की सगति हो जाने से ही कहा जाता है कि आकाश के अवगाहकस्वभाव मे होने वाले परिणमनरूप कार्य का आकाश अथवा उसका अवगाहकस्वभाव उपादानकर्ता है और अवगाह्यमान पदार्थों का परिणमन उसमे उदासीन निमित्त है ।

इतना होने पर भी आकाश द्रव्य चूकि कभी विभाव परिणति को प्राप्त नही होता अत. इसमे कार्यकारणभाव व्यवस्था की कुछ उपयोगिता नही रह जाती है।

स्वपरसापेक्ष परिणमन के सम्बन्ध मे आकाश जैसी स्थिति अपने अपने स्वभाव के अनुरूप परद्रव्यो से भिन्न स्वावलम्बन पूर्ण स्थिति को प्राप्त धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और समस्त कालद्रव्यो को भा जान लेना चाहिये।

यद्यपि स्वपरसापेक्ष परिणमन के सम्बन्ध में आकाश जैसी स्थिति अपने स्वभाव के अनुरूप परद्रव्यो से भिन्न स्वावलम्बन पूर्ण स्थिति को प्राप्त सिद्धो अर्थात् मुक्त जीवो की भो हुआ करती है, परन्तु जीव का उदाहरण प्रकृत विषय मे मै आगे इसी प्रकरण में पृथक् से देने वाला हूँ अत आकाश और धर्मादि उल्लिखित द्रव्यो के साथ यहा पर सिद्ध जीवो को सम्मिलित नही किया गया है।

दर्पण का उदाहरण

उक्त स्वपरसापेक्ष परिणमन के सम्बन्ध मे एक उदाहरण यहा पर दर्पण का भी उपस्थित किया जा सकता है। यथा—

दर्पण का स्वभाव परपदार्थों को अपने अन्दर प्रति-विम्बित करने का है और उसका यह स्वभाव चूकि परसापेक्ष होकर ही परिणमनशील है अत जब जैसा परिणमन उन प्रतिविम्बित होने वाले पदार्थों का अपने अनुकूल कारणो के आधार पर होता है उसके अनुसार वैसा ही परिणमन तब दर्पण के प्रतिविम्बक स्वभाव का भी हो जाता है। अर्थात् दर्पण मे प्रतिविम्बित होने वाले पदार्थ जब जैसा अपना रूप

बदलते जावेंगे तो वे पदार्थ अपने उस बदले हुए रूप से ही दर्पण मे प्रतिबिम्बित होंगे अथवा उन पदार्थों के हटने पर दूसरा पदार्थ दर्पण के सामने उपस्थित हो जायगा तो वह पदार्थ अपने रूप से ही दर्पण मे प्रतिबिम्बित होगा। इसका फलितार्थ यह हुआ कि प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थ जिस रूप से दर्पण मे प्रतिबिम्बित होगे या जो पदार्थ दर्पण मे प्रतिबिम्बित होगे उनके अनुसार दर्पण का प्रतिबिम्बक स्वभाव भी परिणत होता जायगा।

इस कथन से यह बात निश्चित होती है कि दर्पण का परपदार्थो को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करने का स्वभाव अपने परिणमन मे परसापेक्ष है। इसलिये दर्पण के प्रतिबिम्बिक स्वभाव के उस परिणमन मे आकाश द्रव्य की तरह निमित्त-नैमित्तिकभाव और पूर्वोक्त प्रकार उपादानोपादेयभाव इन दोनो के आधार पर कार्यकारणभाव व्यवस्था सगत हो जाती है। इस तरह कहा जा सकता है कि दर्पण के प्रतिबिम्बक स्वभाव मे होने वाले परिणमन रूप कार्य मे दर्पण अथवा दर्पण का प्रतिबिम्बक स्वभाव उपादान कर्ता है और प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थो का उस उस समय का परिणमन उसमे उदासीन निमित्त है। दर्पण के इस परसापेक्ष परिणमन मे भी आकाश की तरह कार्यकारण व्यवस्था की कुछ उपयोगिता नही है।

आकाश और दर्पण के उदाहरण में अन्तर

यहा पहला उदाहरण मैंने आकाश द्रव्य का दिया है और दूसरा उदाहरण दर्पण का दिया है। ये दोनो उदाहरण यद्यपि एक ही विषय की पुष्टि के लिये दिये गये हैं परन्तु दोनो की स्थिति मे निम्न प्रकार का अन्तर पाया जाता है।

आकाश एक अखण्ड द्रव्य है लेकिन दर्पण समान परिणमन करने वाले अनेक अणुरूप पुद्गल द्रव्यो का पिण्ड (स्कन्ध) है। आकाश के परपदार्थ व गाहक स्वभाव के परिणमन मे परपदार्थ केवल उदासीन रूप से ही निमित्त होते हैं जब कि दर्पण के परपदार्थ प्रतिविम्वक स्वभाव के परिणमन मे परपदार्थ कही तो उदासीन रूप से निमित्त होते है और कही प्रेरकरूप से भी निमित्त होते है। दर्पण की इन दोनो प्रकार की स्थितियो मे से ऊपर मैंने दर्पण की उस स्थिति को दृष्टान्तरूप से लिया है जिसके अनुसार दर्पण के प्रतिविम्वक स्वभाव के परिणमन मे परपदार्थ उदासीन निमित्त वने हुए है। दूसरी स्थिति के अनुसार दर्पण के परपदार्थ प्रतिविम्बक स्वभाव के परिणमन मे परपदार्थ प्रेरक निमित्त भी हुआ करते है, इसलिये जहा दर्पण के परपदार्थ प्रतिविम्वक स्वभाव मे परपदार्थ प्रेरक निमित्त होते है वहा उल्लिखित कार्यकारणभाव व्यवस्था की उपयोगिता हो जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि जहा दर्पण के परपदार्थ प्रतिविम्वक स्वभाव के केवल परिणमन मात्र पर दृष्टि हो वहा तो परपदार्थ उस परिणमन मे उदासीन रूप से ही निमित्त होते है लेकिन जहा दर्पण के परपदार्थ प्रतिविम्वक स्वभाव के परिणमन की उपयोगिता हो वहा उस परिणमन मे परपदार्थ प्रेरक निमित्त भी हो जाया करते हैं। जैसे हम जानते है कि दर्पण का स्वभाव परपदार्थो को प्रतिविम्बित करने का है इसलिये यदि हम अपना मुख दर्पण मे प्रतिविम्बित करना चाहते है तो हमे अपना मुख-दर्पण के सामने ले जाना होगा या दर्पण को अपने मुख के सामने लाना होगा। इस तरह हमारे मुख का जो प्रतिविम्ब दर्पण मे पडेगा वह प्रतिविम्ब दर्पण के प्रतिविम्वक स्वभाव का परिणमन ही तो होगा। चूकि इसमे हमारा दर्पण के सामने अपने मुख

को ले जाने अथवा दर्पण को अपने मुख से सामने लाने रूप पुरुपार्थ अपेक्षित हो जाता है अत उस समय हम दर्पण के उस प्रति-विम्वक स्वभाव के परिणमन मे कर्ता रूप से निमित्त हो जाते है तथा हमारे द्वारा व्यापारित मुख अथवा मुख का उस समय का परिणमन उसमे करणरूप से निमित्त होता है। इसी प्रकार उसमे हमारा जो उद्देश्य रहता है वह सम्प्रदान रूप से निमित्त होता है और इसी प्रकार आवश्यकतानुसार कोई अपादानरूप से और कोई अधिकरणरूप से भी निमित्त होता है।

दीपक का उदाहरण

स्वपरसापेक्ष परिणमन के सम्बन्ध मे आकाश और दर्पण के अनन्तर तीसरा उदाहरण दीपक का उपस्थित किया जा रहा है।

लोक मे तेल, वत्ती और पात्र (वर्त्तन) विशेप के सहारे पर प्रज्वलित अग्नि को ही दीपक नाम से पुकारा जाता है। पूर्व कथनानुसार जिस प्रकार दर्पण का स्वभाव परपदार्थों को अपने अन्दर प्रतिविम्वित करने का है उसी प्रकार दीपक का स्वभाव स्व को (अपने को) और परपदार्थों को प्रकाशित करने का है और पूर्वकथनानुसार ही जिस प्रकार दर्पण का वह प्रतिविम्वक स्वभाव परसापेक्ष होकर परिणमनशील है उसी प्रकार दीपक का परपदार्थों को प्रकाशित करने का वह स्वभाव भी परसापेक्ष होकर परिणमनशील है। अर्थात् जिस प्रकार जव जो पदार्थ जिस रूप मे दर्पण के सामने आता है तव उस पदार्थ को उसी रूप से दर्पण अपने मे प्रतिविम्वित करता है उसी प्रकार जव जो पदार्थ जिस रूप मे दीपक के समक्ष उपस्थित होता है तव उस पदार्थ को उसी रूप मे ही दीपक प्रकाशित करता है।

इस प्रकार दर्पण और दीपक दोनो के अपने-अपने पर-सापेक्ष परिणमन मे स्वभाव और उसके परिणमनरूप कार्य का भेद होने पर भी कार्यकारणभावव्यवस्था की दृष्टि से दोनो मे समानता पायी जाती है। अर्थात् जिस प्रकार पहले उपादानो-पादेयभाव और निमित्तनैमित्तिकभाव के आधार पर कार्यकारण-भावव्यवस्था का प्रतिपादन दर्पण मे किया गया है उसी प्रकार उपादानोपादेयभाव और निमित्तनैमित्तिकभाव के आधार पर कार्यकारणभाव व्यवस्था का प्रतिपादन दीपक मे भी किया जा सकता है। यानि दर्पण की तरह दीपक के विषय मे भी यह कहा जा सकता है कि दीपक के परपदार्थप्रकाशक स्वभाव के परपदार्थ प्रकाशन रूप परिणमन मे दीपक अथवा दीपक का परपदार्थ प्रकाशक स्वभाव उपादान कर्ता है और अपने अपने रूप से प्रकाशित होने वाले परपदार्थ अथवा उनका अपना अपना उस समय का परिणमन निमित्त कर्ता है।

देखने मे आता है कि दीपक के समक्ष जब घट आता है तो दीपक घट का ही प्रकाशन करता है और उससे घट ही प्रकाशित होता है उस समय दीपक के समक्ष न आने वाले अन्य पदार्थो का प्रकाशन न तो दीपक करता है और न वे पदार्थ उस समय प्रकाशित ही होते हैं। इसी प्रकार दीपक के समक्ष घट के आने पर घट का प्रकाशन होते हुए भी भिन्न-भिन्न समय मे घट की प्रतिनियत विविध कारणो के आधार पर जैसी-जैसी अवस्थायें बदलती रहती हैं वैसा-वैसा बदलाव दीपक के प्रकाशकपने रूप स्वभाव मे और घट के प्रकाशितपने रूप स्वभाव मे भी होता जाता है। यदि इस अनुभवपूर्ण स्थिति को नही स्वीकार किया जाय तो घट के प्रकाशन के समय अन्य पदार्थो का और घट की एक अवस्था के प्रकाशन के

समय उसकी अन्य अवस्थाओ का भी प्रकाशन होना चाहिये लेकिन चूकि ऐसा प्रकाशन होता नही है अत यही माना जायगा कि घटादि पदार्थ अथवा उनके भिन्न-भिन्न समयो मे होने वाले अपने-अपने परिणमन दीपक के प्रकाशक स्वभाव के प्रतिनियत परिणमन मे निमित्त होते है। दीपक के परपदार्थ प्रकाशक स्वभाव की यही परसापेक्षता है।

दीपक के परपदार्थ प्रकाशक स्वभाव के इस प्रकार के परिणमन की यह परसापेक्षता दर्पण की तरह ही दो प्रकार की होती है। अर्थात् उसका एक प्रकार का परसापेक्ष परिणमन तो ऐसा होता है जिसमे परपदार्थ उदासीन रूप से निमित्त होता है और दूसरे प्रकार का परसापेक्ष परिणमन ऐसा होता है जिसमे प्रेरकता के आधार पर परपदार्थ निमित्त होते हैं।

पहले प्रकार के परसापेक्ष परिणमन मे तो यह स्थिति रहती है कि दीपक के समक्ष जो घटादि पदार्थ अनायास आते रहते है उन्हे दीपक अनायास ही प्रकाशित करता है और वे पदार्थ अनायास ही प्रकाशित होते रहते हैं। दीपक के प्रकाशक स्वभाव की और उन पदार्थो के प्रकाशित होने रूप स्वभाव की उक्त परिणति मे कोई पदार्थ प्रेरक नही होता है, फिर भी यहा पर दीपक के प्रकाशक स्वभाव की परिणति मे दीपक उपादानोपादेयभाव से और घटादि पदार्थ निमित्त-नैमित्तिकभाव से कारण होते हैं तथा इसी प्रकार घटादि पदार्थो के प्रकाशित होने रूप स्वभाव की परिणति मे घटादि पदार्थ उपादानोपादेयभाव से और दीपक निमित्तनैमित्तिकभाव से कारण होते हैं।

दूसरे प्रकार के परसापेक्ष परिणमन मे ऊपर बतलायी गयी पहले प्रकार की परसापेक्ष परिणमन की स्थिति से भिन्न

ही स्थिति रहा करती है । अर्थात् एक व्यक्ति जब यह जानता है कि दीपक मे घटादि पदार्थो को प्रकाशित करने की योग्यता है और घटादि पदार्थों मे दीपक से प्रकाशित होने की योग्यता है यानि उक्त प्रकाशनरूप कार्य मे दीपक और घटादि पदार्थो मे अपने-अपने ढग की उपादानोपादेयभाव और निमित्तनैमित्तिक-भाव पर आधारित कार्यकारणभाव व्यवस्था विद्यमान है तो इस प्रकार की जानकारी रखने वाला वह व्यक्ति यदि अपने विवक्षित उद्देश्य की पूर्ति के लिये दीपक के जरिये घटादि विवक्षित पदार्थो को प्रकाशित करना चाहता है तो उस समय वह व्यक्ति या तो घटादि विवक्षित पदार्थों को दीपक के समक्ष लाता है अथवा दीपक को उन पदार्थो के समक्ष ले जाता है। इस प्रकार इस प्रकाशनरूप कार्य मे उस व्यक्ति का पुरुपार्थ प्रेरक निमित्त होता है और तब इस प्रेरक निमित्तता के आधार पर वह व्यक्ति कर्तारूप से निमित्त होता है तथा दीपक के प्रकाशक स्वभाव की घटादि प्रकाशनरूप परिणति मे घटादि पदार्थ और घटादि पदार्थों के प्रकाशित होने की योग्यता रूप स्वभाव की प्रकाशित होने रूप परिणति मे दीपक करणरूप से निमित्त होते हैं ।

समस्त विश्व का कार्यकारणभाव इसी ढग से चल रहा है तथा यह व्यवस्था प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति के लिये अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष और युक्ति से गम्यमान है । मुझे आशा है कि प० फूलचन्द्रजी इससे वस्तु के स्वपरसापेक्ष परिणमन की परसापेक्षता, उसमे पायी जाने वाली निमित्तनैमित्तिकभाव पर आधारित कार्यकारणभाव की व्यवस्था, निमित्तो की यथायोग्य उदासीनतारूप व प्रेरकतारूप कार्यकारिता और उदासीन तथा प्रेरक निमित्तो मे पायी जाने वाली विशेषता (विलक्षणता) को आकने का प्रयत्न करेंगे ।

आत्मा का उदाहरण

स्वपरसापेक्ष परिणमन के विषय मे विशेष प्रतिपादन को दृष्टि से यहा चौथा उदाहरण आत्मा का दिया जा रहा है परन्तु आत्मा को उदाहरण रूप से प्रस्तुत करने से पूर्व प्रकरण के लिये उपयोगी आत्मतत्त्व पर दृष्टि डालना आवश्यक प्रतीत होता है अत सर्वप्रथम यहा आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है। आत्मतत्त्व पर दो दृष्टियो से विचार किया जा सकता है—एक तो वस्तु विज्ञान की दृष्टि से और दूसरे अध्यात्म-विज्ञान की दृष्टि से। इनमे से प्रथमत वस्तु विज्ञान की दृष्टि से आत्मस्वरूप पर विचार किया जाता है।

वस्तु विज्ञान की दृष्टि में आत्मतत्त्व

वस्तु विज्ञान की दृष्टि मे आत्मा का स्वरूप चेतना है। चेतना मे ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये तीन शक्तिया गर्भित हैं। इनको क्रमश ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल-चेतना नामो से भी पुकारा जा सकता है। यद्यपि जैनागम मे सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को ज्ञान चेतना, सम्यग्दर्शनरहित सञ्ज्ञी-पचेन्द्रिय जीवो के ज्ञान को कर्मचेतना और सभी असञ्ज्ञीजीवो के ज्ञान को कर्मफल चेतना कहा गया है परन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिये कि जैनागम का यह कथन अध्यात्मविज्ञान की दृष्टि से है वस्तु विज्ञान की दृष्टि से नही, अत मेरे उक्त कथन का जैनागम के इस कथन से कोई विरोध नही समझना चाहिये।

वस्तु विज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण चेतन और अचेतन पदार्थों मे कर्तृत्व और

भोक्तृत्व दोनो शक्तिया पायी जाती है । इनमे से प्रत्येक पदार्थ मे कर्तृत्व शक्ति के दो रूप पाये जाते है—एक उपादानकर्तृत्व का और दूसरा निमित्तकर्तृत्व का ।

प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमन का उपादानकर्ता है क्योकि वह स्वय (आप) उस परिणमनरूप परिणत होता है और वही पदार्थ अपने से भिन्न पदार्थो के परिणमन का अपने ढग से निमित्तकर्ता होता है क्योकि उस परिणमनरूप वह स्वय (आप) परिणत न होकर अपने से भिन्न पदार्थो के उस परिणमन मे सहायक मात्र होता है । इस सम्बन्ध मे आकाश, धर्म, अधर्म, काल, दर्पण और दीपक के उदाहरण पूर्व मे दिये जा चुके है तथा आत्मा का विवेचन किया ही जा रहा है ।

सम्पूर्ण चेतन और अचेतन पदार्थो मे भोक्तृत्व की सिद्धि इस प्रकार होती है कि वे सभी पदार्थ अपने अपने परिणमन के साथ तन्मय होकर ही रहा करते है अर्थात् प्रत्येक चेतन अथवा अचेतन पदार्थ का जब जो परिणमन होता है तब वह पदार्थ स्वय (आप) उस रूप परिणत हो जाया करता है । प्रत्येक पदार्थ का भोक्तृत्व यही है ।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व मे यह विशेषता है कि जहा प्रत्येक चेतन और अचेतन पदार्थ का कर्तृत्व उपादान कर्तृत्व और निमित्तकर्तृत्व के रूप मे दो प्रकार का है वहा प्रत्येक चेतन और अचेतन पदार्थ का भोक्तृत्व दो प्रकार का नही है क्योकि वस्तु विज्ञान की दृष्टि से जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमन के साथ तन्मय होकर रहता है उस प्रकार वह दूसरे पदार्थ के परिणमन के साथ कभी तन्मय होकर नही रहता है । यह बात अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष और युक्ति से सिद्ध है और यही कारण है जैनागम मे यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि

एक पदार्थ कभी दूसरे पदार्थ रूप नही होता और न एक पदार्थ के गुणधर्म भी कभी दूसरे पदार्थ के गुणधर्म होते है। इतना ही नही, किसी भी पदार्थ का एक गुण कभी उसका दूसरा गुण नही होता और न एक गुण की पर्याय कभी दूसरे गुण की पर्याय होती है।

इसका तात्पर्य यह है कि आकाश जब अपके स्वभाव के अनुसार स्वपरावगाहक है तो वह अपने इस स्वभाव के अनुसार अपने परिणमन का उपादानकर्ता और पर के परिणमन का निमित्तकर्ता तो है परन्तु दोनो का परिणमन अपना अपना ही है। इसी प्रकार धर्मद्रव्य जब अपने स्वभाव के अनुसार स्वय निष्क्रिय रह कर जीव और पुद्गल की गति मे सहायक होता है तो वह अपने इस स्वभाव के अनुसार अपने परिणमन का उपादानकर्ता और जीव और पुद्गल के गतिरूप परिणमन का निमित्तकर्ता तो है परन्तु धर्मद्रव्य का तथा जीव और पुद्गल का परिणमन अपना अपना ही है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी जब अपने स्वभाव के अनुसार स्वय निष्क्रिय रह कर जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायक होता है तो वह अपने इस स्वभाव के अनुसार अपने परिणमन का उपादानकर्ता और जीव और पुद्गल के स्थिति रूप परिणमन का निमित्तकर्ता तो है परन्तु अधर्म द्रव्य का तथा जीव और पुद्गल का परिणमन अपना अपना ही है। इसी प्रकार कालद्रव्य भी जब अपने स्वभाव के अनुसार स्व और पर का वर्तयिता है तो वह अपने इस स्वभाव के अनुसार अपने वृत्तिरूप परिणमन का उपादान-कर्ता और पर के वृत्तिरूप परिणमन का निमित्तकर्ता तो है परन्तु परिणमन दोनो का अपना अपना ही है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव भी जब अपने स्वभाव के अनुसार स्वपरावभासक

है तो वह अपने इस स्वभाव के अनुसार अपने अवभासनरूप परिणमन का उपादानकर्ता और पर के अवभासनरूप परिणमन का निमित्तकर्ता तो है परन्तु परिणमन दोनो का अपना अपना ही है। इसी प्रकार प्रत्येक पुद्गल भी जब अपने स्वभाव के अनुसार अपने मे और दूसरे पुद्गलों मे पूरण और गलनरूप परिणमन करने वाला है तो वह अपने इस स्वभाव के अनुसार भेद, और सघात के आधार पर अपने पूरण और गलनरूप परिणमन का उपादानकर्ता और दूसरे पुद्गलो के पूरण और गलनरूप परिणमन का निमित्तकर्ता तो है परन्तु प्रत्येक पुद्गल का पूरण और गलनरूप परिणमन अपना अपना ही है।

ऊपर मैने वस्तुविज्ञान की दृष्टि से आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण किया है और इस प्रसग से आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल द्रव्यो के स्वरूप का भी वस्तु विज्ञान की दृष्टि से आवश्यक समझकर विश्लेषण किया है। साथ ही समस्त चेतन और अचेतन द्रव्यो के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का भी वस्तु विज्ञान की दृष्टि से विवेचन किया है। अब आगे वस्तुविज्ञान की दृष्टि से ही आत्मतत्त्व का विस्तार से विवेचन किया जा रहा है।

ऊपर कहा गया है कि आत्मा का स्वरूप चेतना है। चेतना शब्द का अर्थ अनुभव करना भी होता है। इस तरह यद्यपि विश्व के पूर्वोक्त समस्त पदार्थों मे जैन मान्यता के अनुसार अपने अपने स्वभाव के अनुकूल अर्थक्रियाकारिता विद्यमान है परन्तु आकाश, धर्म, अधर्म काल और पुद्गल इन सभी अचेतन द्रव्यो मे चेतना शक्ति की अविद्यमानता के कारण इनको अपनी अर्थक्रिया का अनुभवन नही होता है जब कि

समस्त जीव चेतना शक्ति के सद्भाव के आधार पर अपनी अपनी अर्थक्रियाकारिता का सतत अनुभव करते रहते है।

चेतना का अपरनाम ज्ञायक स्वभाव है और इस स्वभाव के आधार पर ही प्रत्येक जीव पदार्थों का द्रष्टा और ज्ञाता बना हुआ है। अर्थात् प्रत्येक जीव मे ज्ञायकस्वभाव के रूप मे दर्शन और ज्ञान नाम की दो शक्तिया विद्यमान है। इनमे से दर्शनशक्ति के आधार पर तो प्रत्येक जीव पदार्थ का दर्शन करता है और ज्ञानशक्ति के आधार पर वह पदार्थ का ज्ञान करता है। यहा यह ध्यान रखना चाहिये कि जीव का पदार्थ को दर्पण की तरह अपने अन्दर प्रतिविम्बित करने का नाम दर्शन है और उसका पदार्थ को दीपक की तरह प्रतिभासित करने का नाम ज्ञान है।

आत्मा मे दर्पण की तरह पदार्थ प्रतिविम्बित होते है इस विषय मे आचार्य श्री अमृतचन्द्र द्वारा विरचित पुरुपार्थ-सिद्ध्युपाय का निम्नलिखित पद्य ध्यान देने योग्य है—

तज्जयति पर ज्योति सम समस्तैरनन्तपर्यायै।
दर्पणतल इव सकला प्रति फलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥

अर्थ—सर्वोत्कर्ष को प्राप्त वह चैतन्य विश्व मे जयवन्त (प्रभावशाली) रहे जिसमे विश्व के समस्त पदार्थ अपनी अनन्त पर्यायो के साथ युगपत् प्रतिविम्बित हो रहे है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार मे आचार्य श्री समन्तभद्र ने भी कहा है—

नम श्री वर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
सा लोकाना त्रिलोकाना यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

अर्थ—जिन्होने घातिया कर्मों को नष्टकर अपनी आत्मा को निर्मल वना लिया है अतएव जिनका ज्ञान अलोक सहित

तीनों लोकों के सम्बन्ध मे दर्पण की तरह हो रहा है अर्थात् जिनके ज्ञान मे अलोक सहित तीनो लोक प्रतिविम्बित हो रहे हैं उन वर्द्धमान भगवान को नमस्कार हो।

जिस प्रकार आत्मा मे पदार्थों के प्रतिविम्बित होने के लिये आगम मे उपर्युक्त प्रकार दर्पण का उदाहरण दिया गया है उसी प्रकार आत्मा मे पदार्थों के प्रतिभासित होने के लिये आगम मे दीपक का उदाहरण दिया गया है।

इस प्रकार यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि आत्मा मे परस्पर भिन्न दो शक्तिया विद्यमान हैं। उनमे से एक शक्ति के आधार पर आत्मा अपने अन्दर दर्पण की तरह पदार्थों को प्रतिविम्बित करता है और दूसरी शक्ति के आधार पर वही आत्मा अपने अन्दर प्रतिविम्बित पदार्थों को दीपक की तरह प्रतिभासित करता है। जिस शक्ति के आधार पर आत्मा अपने अन्दर पदार्थों को प्रतिविम्बित करता है वह दर्शनशक्ति है और जिस शक्ति के आधार पर आत्मा अपने अन्दर प्रतिविम्बित पदार्थों को प्रतिभासित करता है वह ज्ञानशक्ति है।

दोनो शक्तिया परस्पर भिन्न हैं—इसका आधार यह है कि आत्मा की जो प्रतिविम्बक शक्ति है वह पदार्थों को प्रतिभासित करने मे असमर्थ है क्योंकि दर्पण पदार्थों का प्रतिविम्बक तो है लेकिन प्रतिभासक नही है। इसी तरह जो आत्मा की प्रतिभासक शक्ति है वह पदार्थों को प्रतिविम्बित नही करती है क्योंकि दीपक पदार्थों का प्रतिभासक तो है लेकिन प्रतिविम्बक नही है।

आत्मा मे पदार्थप्रतिविम्बक (दर्शन) शक्ति की आवश्यकता

आत्मा मे पदार्थ प्रतिभासक (ज्ञान) शक्ति तो निर्विवाद है क्योंकि आत्मा सतत पदार्थों का प्रतिभास किया करता है

परन्तु पदार्थ प्रतिविम्वक (दर्शन) शक्ति विवादरहित नही है अत इसकी आवश्यकता क्यो है ? इस पर विचार किया जाता है।

जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि विना पदार्थ दर्शन के पदार्थ ज्ञान नही हुआ करता है अत. वहाँ पर आत्मा मे दर्शन और ज्ञान को समान शक्ति-सम्पन्न जोडे के रूप मे स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार जव पदार्थ आत्मा मे प्रतिविम्वित होगा तभी आत्मा को पदार्थज्ञान होगा, अन्यथा नही। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार प्रतिभासित होने वाले पदार्थ के क्षेत्र मे दीपक विद्यमान रहता है उस प्रकार प्रतिभासित होने वाले पदार्थ के क्षेत्र मे आत्मा की पहुँच नही है लेकिन जिस प्रकार दीपक और पदार्थ का सम्वन्ध स्थापित हुए विना पदार्थ प्रतिभासित नही होता उसी प्रकार आत्मा और पदार्थ का सम्वन्ध स्थापित हुए विना भी पदार्थ प्रतिभासित नही होता। इसी आधार पर जैन-दर्शन मे आत्मा मे पदार्थ को प्रतिभासित करने वाली ज्ञान शक्ति के साथ-साथ पदार्थ को प्रतिविम्वित करने वाली दर्शन शक्ति की सत्ता स्वीकार की गयी है। इस प्रकार जव पदार्थ अपने प्रतिविम्व द्वारा आत्मा से सम्वन्ध स्थापित कर लेता है तव आत्मा उसका ज्ञान करती है अत पदार्थज्ञान के लिए पदार्थ-दर्शन की अनिवार्य आवश्यकता है।

आत्मा की पदार्थ प्रतिविम्वक शक्ति ही दर्शन शक्ति है

बौद्ध दर्शन मे वर्णित प्रत्यक्ष और जैन दर्शन मे वर्णित दर्शनोपयोग दोनो के स्वरूप मे करीव-करीव समानता पायी है लेकिन वौद्ध दर्शन मे जहाँ उसके द्वारा माने गये प्रत्यक्ष को

प्रमाण मान लिया गया है वहाँ जैन-दर्शन मे दर्शनोपयोग को प्रमाणता और अप्रमाणता की परिधि से बाहर रक्खा गया है। इसका कारण यह है कि जैनदर्शन मे स्वपरव्यवसायी ज्ञान को प्रमाण माना गया है और जो ज्ञान स्वव्यवसायी होते हुए भी परव्यवसायी नही होता उसे अप्रमाण माना गया है। इस तरह ये दोनो अवस्थायें ज्ञानोपयोग की ही हुआ करती है अत. ज्ञानोपयोग तो प्रमाण और अप्रमाण रूप होता है लेकिन दर्शनोपयोग चू कि स्वपरव्यवसायी नही होता इसलिये तो प्रमाणरूप नही है और वह केवल स्वव्यवसायी भी नही होता अत' अप्रमाण रूप भी नही है। इतना अवश्य है कि ज्ञानोपयोग की उत्पत्ति मे अनिवार्य कारण होने की वजह से उसका (दर्शनोपयोग का) जैनदर्शन मे कम महत्व नही आँका गया है।

विश्व को जैन-दर्शन मे, जैसा कि पूर्व मे बतलाया जा चुका है, छह प्रकार के द्रव्यो मे विभक्त कर दिया गया है— (१) अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता वाले अनन्त जीव द्रव्य (२) अणु और स्कन्ध रूप पुद्गल द्रव्य, (३) एक धर्म द्रव्य (४) एक अधर्म द्रव्य, (५) एक आकाश द्रव्य और (६) अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता वाले असख्यात काल द्रव्य। इन सब द्रव्यो को समुदाय रूप से विश्व नाम से पुकारा गया है क्योकि विश्व शब्द का अर्थ 'सर्व' होता है और उक्त सब द्रव्यो के अतिरिक्त विश्व मे कुछ शेप नही 'नही' रह जाता है। विश्व को जगत भी कहते है क्योकि ये सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप को न छोडते हुए परिणमनशील है।

उक्त सभी द्रव्य प्रति समय अपने-अपने नियत स्वभाव के अनुरूप कार्य करते रहते है—यह भी पूर्व मे बतलाया जा

चुका है। अर्थात् आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों को सतत अपने अन्दर समाये हुए हैं, सभी काल द्रव्य समस्त द्रव्यो को प्रतिक्षण उनकी अपनी-अपनी सभाव्य पर्यायो के रूप मे वर्णन करा रहे हैं, धर्म द्रव्य जीवो और पुद्गलो को हलन-चलन रूप क्रिया करते समय उस क्रिया मे सतत सहायक हो रहा है, अधर्म द्रव्य जीवो और पुद्गलो को उस हलन-चलन रूप क्रिया के रुकने के समय उसमे सतत सहायक हो रहा है, सभी पुद्गल द्रव्य अशुद्ध जीव द्रव्यो के साथ और परस्पर एक-दूसरे पुद्गल के साथ सतत मिलते और विछुडते रहते हैं तथा सभी जीव द्रव्य सपूर्ण द्रव्यो को अपनी-अपनी योग्यता के विकास के अनुसार सतत देखते और जानते रहते है। जीवो की इस देखने और जानने रूप प्रवृत्ति को ही जैन-दर्शन मे क्रमश दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग कहा गया है। इसका ही तात्पर्य, जैसा कि पूर्व मे वतलाया जा चुका है, यह है कि प्रत्येक जीव को देखने और जानने रूप दो पृथक्-पृथक् शक्तियाँ है और यही कारण है कि दोनो शक्तियो को ढकने वाले दर्शनावरण और ज्ञानावरण दो पृथक्-पृथक् कर्म जैनकर्म सिद्धान्त मे स्वीकार किये गये है। दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग आत्मा की इन्ही दोनो शक्तियो के पृथक्-पृथक् विकास रूप परिणमन है।

अव विचारणीय वात यह है कि आत्म प्रदेशो मे पदार्थ के प्रतिविम्ब पडने से अतिरिक्त दर्शनोपयोग और क्या हो सकता है ? तो विचार करने पर ऊपर के कथन से अर्थात् दर्शनोपयोग के प्रमाणता और अप्रमाणता की परिधि से वाहर होने पदार्थ ज्ञान मे पदार्थ प्रतिविम्ब की अनिवार्य आवश्यकता होने व पदार्थज्ञान तथा पदार्थ प्रतिविम्ब मे अन्तर होने आदि से यही निर्णीत होता है कि आत्म-प्रदेशो मे पदार्थ का प्रतिविम्वित होना ही दर्शनोपयोग है—ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार जव

दर्शनोपयोग के आधार पर ही ज्ञानोपयोग होता है तो कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ के समस्त दर्शनावरण और समस्त ज्ञानावरण कर्मो का एक साथ क्षय हो जाता है इसलिए समस्त प्रतिक्षण स्वभावत उसके आत्म-प्रदेशो मे प्रतिविम्बित होते रहते है और तब स्वभावत ही उसे प्रतिक्षण समस्त पदार्थों का ज्ञान सतत होता रहता है। मति ज्ञानी जीव के आत्म प्रदेशो मे पदार्थ का प्रतिविम्बित होना दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम के साथ ही इन्द्रियाधीन है अर्थात् उसके आत्म-प्रदेशो मे पदार्थ का प्रतिविम्व इन्द्रियो द्वारा ही पहुँचता है और यह नियम है कि एकेन्द्रिय जीव के एकस्पर्शन इन्द्रिय का, द्वीन्द्रिय जीव के स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियो का, त्रीन्द्रियजीव के स्पर्शन, रसना और नासिक इन तीन इन्द्रियो का, चतुरिन्द्रिय जीव के स्पर्शन, रसना, नासिका और नेत्र इन चार इन्द्रियो का असज्ञी पचेन्द्रिय जीव के स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँचो इन्द्रियो का और सज्ञी पचेन्द्रिय जीव के उक्त पाँचो इन्द्रियो के साथ मन का भी सद्भाव अपने-अपने दर्शनावरण और मति ज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशन के अनुसार रहा करता है और यह भी नियम है कि स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्श के रूप मे, रसनेन्द्रिय द्वारा रस के रूप मे, नासिकेन्द्रिय द्वारा गन्ध के रूप मे, नेत्रेन्द्रिय द्वारा वर्ण के रूप मे, कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द के रूप मे और मन के द्वारा अपने सामान्य रूप मे पदार्थ आत्म-प्रदेशो मे प्रतिविम्बित होता है तथा यह भी नियम है कि मति ज्ञानी जीव के उपर्युक्त नाना इन्द्रियो का सद्भाव एक साथ रहते हुए भी क्रमिक होने के कारण जिस अवसर पर किसी एक इन्द्रिय द्वारा पदार्थ आत्मप्रदेशो मे प्रतिविम्बित होता है उस अवसर पर किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा पदार्थ आत्म-प्रदेशो मे प्रतिविम्बित नही होता अत कहा जा सकता है कि मतिज्ञानी जीव के जिस

अवसर पर जिस इन्द्रिय द्वारा अपने प्रतिनियत रूप से पदार्थ आत्मप्रदेशो मे प्रतिविम्बित होता है उस अवसर पर उसी इन्द्रिय द्वारा प्रतिनियत रूप मे ही पदार्थ प्रतिभासित होता है। श्रुत ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है अत श्रुतज्ञान से होने वाले पदार्थज्ञान मे आत्मा के प्रदेशो मे पदार्थ के प्रति-विम्बित होने को आवश्यकता आगम मे नही बतलायी गयी है। अवधि ज्ञानी जीव के अवधि दर्शनावरण और अवधि ज्ञाना-वरण कर्मों का एक साथ क्षयोपशम रहा करता है इसलिए उसके आत्मप्रदेशो मे उसी रूप से यथासमय प्रतिनियत पदार्थ प्रतिविम्बित होते हैं और तब उसी रूप से प्रतिनियत पदार्थों का ज्ञान अवधि ज्ञानी को हुआ करता है। मन पर्ययज्ञान यद्यपि ईहामति ज्ञानपूर्वक होता है परन्तु जिस प्रकार श्रुतज्ञान मे मतिज्ञान साक्षात् कारण होता है उस प्रकार ईहामतिज्ञान मन पर्ययज्ञान मे साक्षात् कारण नही होता है अत मेरी समझ के अनुसार यहाँ ऐसा मानना चाहिये कि ईहामतिज्ञान के लिए आत्मप्रदेशो मे जो पदार्थ प्रतिविम्ब कारण होता है वही पदार्थ प्रतिविम्ब मन पर्ययज्ञान मे कारण होता है। यहाँ प्रसगानुसार इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि सर्वज्ञ के आत्मप्रदेशो मे जो पदार्थ प्रतिविम्ब पडता है उसे केवल दर्शन नाम से मति ज्ञानी के आत्मप्रदेशो मे जो पदार्थ प्रतिविम्ब पडता है उसे इन्द्रियापेक्ष होने के कारण यथायोग्य चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन नामो से तथा अवधिज्ञानी के आत्मप्रदेशो मे जो पदार्थ प्रति विम्ब पडता है उसे अवधिदर्शन नाम से आगम मे पुकारा गया है।

यदि आत्मप्रदेशो मे पडे हुए पदार्थ प्रतिविम्ब को ही दर्शन मान लिया जाता है तो आगम मे दर्शन को जो सामान्य ग्रहण, निराकार, अव्यवसायात्मक और निर्विकल्पक शब्दो से

पुकारा गया है इसकी भी सगति हो जाती है जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

ऊपर दर्शन का जैसा स्वरूप निर्धारित किया गया है उसमे ज्ञान की तरह प्रमाणता अथवा अप्रमाणता का रूप नही पाया जाता है और यह बात मैं पहले ही बतला चुका हूँ कि स्वपरव्यवसायात्मकता प्रमाणता का तथा स्वव्यवसायात्मकता के सद्भाव मे परव्यवसायात्मकता का अभाव अप्रमाणता का चिन्ह है जिनका कि दर्शन के पूर्वोक्त स्वरूप मे अभाव पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि दर्शन के पूर्वोक्त स्वरूप मे पदार्थ का अवलम्बन होने के कारण वह पदार्थ ग्रहणरूप तो है परन्तु वह न तो स्वपरव्यवसायात्मक है और न केवल स्वव्यवसायात्मक ही है अत उसे सामान्यग्रहण शब्द से पुकारना उचित ही है चू कि प्रमाणज्ञान स्वपरव्यवसायी होता है और अप्रमाणज्ञान परव्यवसायी न होकर भी स्वव्यवसायी तो होता ही है अत प्रमाणज्ञान और अप्रमाणज्ञान दोनो को विशेषग्रहण शब्द से पुकारना उचित है। दर्शन को आगम मे जो निराकार कहा गया है वह भी उचित है क्योकि ऊपर दर्शन का जो स्वरूप निर्धारित किया गया है उसमे स्वपरव्यवसायात्मकता का अभाव रहने के कारण प्रमाणता का और परव्यवसायात्मकता के अभाव के साथ स्वव्यवसायात्मकता का भी अभाव रहने के कारण अप्रमाणता का भी आकार नही पाया जाता है। आगम मे दर्शन को जो अव्यवसायात्मक कहा गया है वह भी इस आधार पर उचित है कि ऊपर दर्शन को जो स्वरूप निर्धारित किया गया है उसमे न तो प्रमाणज्ञान की तरह स्वपरव्यवसायात्मकता पायी जाती है और न अप्रमाणज्ञान की तरह केवल स्वव्यवसायात्मकता ही पायी जाती है। इसी प्रकार

आगम के दर्शन को जो निर्विकल्पक कहा गया है वह भी उचित है क्योंकि ऊपर दर्शन का जो स्वरूप निर्धारित किया गया है उसमे स्वपरव्यवसायात्मकता का अभाव रहने के कारण न तो प्रमाणता का विकल्प पाया जाता है और परव्यवसायात्मकता के अभाव के साथ स्वव्यवसायात्मकता का भी अभाव रहने के कारण अप्रमाणता का भी विकल्प नही पाया जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा की पदार्थ प्रतिविम्वक शक्ति ही दर्शन शक्ति है और आत्मप्रदेशो मे पदार्थ का प्रतिविम्वित हो जाना ही दर्शन या दर्शनोपयोग है। इसी प्रकार आत्मा की पदार्थ प्रतिभासक शक्ति ही ज्ञानशक्ति है और आत्मा को पदार्थ का प्रतिभास न होना ही ज्ञान या ज्ञानोपयोग है तथा यह ज्ञान या ज्ञानोपयोग उपर्युक्त प्रकार के दर्शन या दर्शनोपयोग के आधार पर ही होता है अन्यथा नही।

दर्शन स्वभावतः अविसंवादी होता है

यत. पूर्वकथनानुसार पदार्थ का आत्मप्रदेशो पर प्रतिविम्व पडना ही दर्शन है अत दर्शन स्वभावत अविसवादी अर्थात् विवादरहित है इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थ जिस रूप मे विद्यमान होता है उसका दर्शन उसी रूप मे होता है ऐसा कभी नही होता कि पदार्थ विद्यमान न होते हुए भी पदार्थ-दर्शन हो जाय अथवा एक पदार्थ के विद्यमान रहते हुए दूसरे पदार्थ का दर्शन हो जाय। अत दर्शन मे किसी को भी और कभी भी विवाद करने की गुंजाइश नही रहा करती है। दर्शन के स्वभावत अविसवादी होने के कारण ही बौद्धदर्शन मे उसे

प्रमाण रूप से स्वीकार किया गया है। जैन-दर्शन मे दर्शन को अविसवादी रहते हुए जो प्रमाण नही माना गया है इसका कारण यह है कि वह स्वपरव्यवसायी नही है और ज्ञान चू कि स्वपरव्यवसायी होता है अत उसे जैन-दर्शन मे प्रमाण माना गया है व जो ज्ञान स्वव्यवसायी होकर भी परव्यवसायी नही होता उसे जैन-दर्शन मे अप्रमाण माना गया है।

जैसे घट के सद्भाव मे यह तो निश्चित समझना चाहिये कि दर्शन घट का ही होगा कारण कि जव आत्मप्रदेशो मे पदार्थ का प्रतिविम्व पडने को दर्शन पूर्व मे निर्णित किया जा चुका है तो यह तो हो नही सकता कि घट के सद्भाव मे आत्मप्रदेशो मे प्रतिविम्व घट का न पडकर किसी अन्य पदार्थ का पड जावे। अब यदि उस अवसर पर ज्ञान भी घट का होता है तो वह ज्ञान स्वपरव्यवसायात्मक होने से प्रमाणरूप ही होगा। इसी प्रकार शीप के सद्भाव मे भी यह निश्चित है कि दर्शन उपर्युक्त प्रकार शीप का ही होगा परन्तु उस अवसर पर यदि चाँदी का ज्ञान हो जावे तो उस ज्ञान मे स्वव्यवसायात्मकता रहते हुए भी चू कि परव्यवसायात्मकता का अभाव है अत वह ज्ञान भ्रमरूप मे अप्रमाण कहा जायगा। इसी प्रकार शीप के सद्भाव मे उपर्युक्त प्रकार यह तो निश्चित है कि दर्शन शीप का ही होगा परन्तु उस अवसर पर यदि "शीप है या चाँदी" इस प्रकार ढुलमिल ज्ञान हो जावे तो उस ज्ञान मे भी स्वव्यवसायात्मकता रहते हुए भी चू कि परव्यवसायात्म का अभाव है अत वह ज्ञान भी सशय रूप मे अप्रमाण कहा जायगा। इसी प्रकार किसी वस्तु के सद्भाव मे यह तो निश्चित है कि दर्शन उसी वस्तु का होगा जिसका वहाँ सद्भाव होगा परन्तु वहाँ पर यदि ऐसा ज्ञान होता है कि "यहाँ मुझे किसी वस्तु का

आभास हो रहा है" तो इस ज्ञान मे भी स्वव्यवसायात्मकता रहते हुए भी चूकि परव्यवसायात्मकता का अभाव है अत यह ज्ञान भी अनध्यवसायरूप मे अप्रमाण कहा जायगा। तात्पर्य यह है कि चाहे प्रमाणज्ञान हो चाहे अप्रमाणज्ञान हो दोनो प्रकार के ज्ञान दर्शनपूर्वक ही हुआ करते हैं और उस अवसर पर दर्शन भी उसी पदार्थ का होता है जिसका वहा सद्भाव रहता है परन्तु यदि ज्ञान उस पदार्थ का हो रहा है जिसका दर्शन हो रहा है तो वह ज्ञान स्वपरव्यवसायात्मक होने से प्रमाण रूप है। यदि ज्ञान, जिस पदार्थ का दर्शन हो रहा है उससे भिन्न पदार्थ का हो रहा है, तो वह स्वव्यवसायात्मक होते हुए भी परव्यवसायात्मक न होने के कारण भ्रमरूप अप्रमाण है, यदि ज्ञान जिस पदार्थ का दर्शन हो रहा है उसका और उससे भिन्न पदार्थ का ढुलमिल रूप मे हो रहा है तो वह स्वव्यवमायात्मक होते हुए भी परव्यवसायात्मक न होने के कारण सशयरूप अप्रमाण है और यदि ज्ञान पदार्थ का दर्शन होते हुए भी किसी विशेष पदार्थ को विपय करने वाला न हो तो वह ज्ञान स्वव्यवसायात्मक होते हुए भी परव्यवसायात्मक न होने के कारण अनध्यवसायरूप अप्रमाण है।

दर्शन का सद्भाव पदार्थ ज्ञान की प्रत्यक्षता का और असद्भाव परोक्षता का कारण है

जैनदर्शन मे ज्ञान के दो भेद स्वीकार किये गये हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। अब इस विषय मे प्रश्न यह उपस्थित होता है कि एक ज्ञान प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष क्यो है ? इसके सम्बन्ध मे जैनागम मे जो कुछ कहा गया है उसका सार यह है कि सब जीवो मे पदार्थों के जानने की शक्ति पायी जाती है। उसके द्वारा प्रत्येक जीव पदार्थ बोध किया गया है।

पदार्थ बोध मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से पाच प्रकार होता है। मतिज्ञान मे स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाच इन्द्रियो मे से किसी भी इन्द्रिय अथवा मन की सहायता अपेक्षित रहा करती है, श्रुतज्ञान सिर्फ मन की सहायता से हुआ करता है और अवधि, मन पर्यय और केवल ये तीनो ज्ञान इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना केवल आत्मसापेक्ष ही हुआ करते हैं। यथायोग्य इन्द्रिय अथवा मन की सहायता से उत्पन्न होने के कारण मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष कहते है तथा इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही उत्पन्न होने के कारण अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। जैनागम मे इससे भी आगे यह कथन और पाया जाता है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारो प्रकार के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सर्वथा परोक्ष है, अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान और केवलज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष हैं तथा शेष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारो प्रकार के मतिज्ञान इन्द्रिय अथवा मन की सहायता से उत्पन्न होने के कारण जहा परोक्ष है वहा लोक व्यवहार मे प्रत्यक्ष माने जाने के कारण प्रत्यक्ष भी है।

यहा पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारो मतिज्ञानो को लोक व्यवहार मे जो प्रत्यक्ष स्वीकार किया गया है उसका कारण क्या है? इसके समाधान मे मेरा कहना यह है कि जैनागम मे इन्द्रिय अथवा मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले ज्ञानो को परोक्ष और इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही उत्पन्न होने वाले ज्ञानो को प्रत्यक्ष कहने का आशय उन उन ज्ञानो की पराधीनता और स्वाधीनता बतलाना है इसे स्वरूप कथन नही समझना

चाहिये। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उक्त ज्ञानो के उक्त लक्षण करणानुयोग की विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि मे कहे गये है। लेकिन स्वरूप का कथन करने वाला जो द्रव्यानुयोग है उसकी दृष्टि से प्रत्यक्षज्ञान वह है जिसमे पदार्थ का साक्षात्कार रूपबोध होता है और परोक्षज्ञान वह है जो जिसमे पदार्थ का बोध तो हो लेकिन वह बोध साक्षात्काररूप न हो। पदार्थ का साक्षात्काररूप बोध वह है जो पदार्थदर्शन के सद्भाव मे होता है और पदार्थ का असाक्षात्काररूप बोध वह है जो पदार्थदर्शन का सद्भाव न रहते हुए होता है। इस प्रकार पदार्थदर्शन के सद्भाव मे जो बोध होता है उसे प्रत्यक्ष और पदार्थदर्शन के असद्भाव मे जो बोध होता है उसे परोक्ष समझना चाहिये। प्रत्यक्ष और परोक्ष के इन लक्षणो के अनुसार पदार्थदर्शन के सद्भाव मे होने के कारण अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारो मतिज्ञान तथा अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान ये सब प्रत्यक्ष-ज्ञान हैं शेष स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारो मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये सब चू कि पदार्थ दर्शन के असद्भाव मे होते है अत परोक्ष हैं।

इसका तात्पर्य जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है यह है कि प्रत्येक जीव मे पदार्थो को जानने की योग्यता को तरह पदार्थो को देखने की भी योग्यता विद्यमान है इसलिये जिस प्रकार प्रत्येक जीव जानने की योग्यता का सद्भाव रहने के कारण पदार्थों को जानता है उसी प्रकार वह देखने की योग्यता का सद्भाव रहने के कारण पदार्थों को देखता भी है। चू कि पदार्थदर्शन का सद्भाव पदार्थ के प्रत्यक्षज्ञान मे कारण होता है अत जो जीव पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान करना चाहता है उसमे पदार्थदर्शन का सद्भाव अवश्य होना चाहिये।

प्रत्यक्ष और परोक्ष शब्दों का व्युत्पत्त्यर्थ

प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ "अक्षं=आत्मानं प्रति" इस व्युत्पत्ति के अनुसार पदार्थ की आत्मावलम्बनता के सद्भाव मे होने वाला पदार्थ ज्ञान होता है और परोक्ष शब्द का अर्थ "अक्षात्=आत्मान. परम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार पदार्थ की आत्मावलम्बनता के असद्भाव मे होने वाला पदार्थ ज्ञान होता है तथा इस प्रकरण मे पदार्थ की आत्मावलम्बनता का अर्थज्ञान के आधारभूत पदार्थ का आत्म प्रदेशो मे प्रतिविम्बित हो जाना ही है इसी को पदार्थ का दर्शन या दर्शनोपयोग समझना चाहिये।

पदार्थदर्शन के भेद और उनका नियमन

उपर्युक्त पदार्थदर्शन कही-कही तो स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाच इन्द्रियो मे किसी इन्द्रिय द्वारा अथवा मन द्वारा यथासम्भव यथायोग्यरूप मे हुआ करता है और कही-कही इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही यथायोग्यरूप मे हुआ करता है। इस तरह जैनागम मे पदार्थ-दर्शन के चार भेद माने गये है—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

नेत्रेन्द्रिय द्वारा पदार्थ के नियत आकार का नियत आत्म प्रदेशो मे प्रतिविम्बित हो जाने को चक्षुर्दर्शन, नेत्रेन्द्रिय को छोडकर शेष स्पर्शन, रसना, नासिका और कर्ण इन चार इन्द्रियो मे से किसी भी इन्द्रिय द्वारा अथवा मन द्वारा अपने-अपने अनुरूप पदार्थ के नियत आकारो का नियत आत्म प्रदेशो मे प्रतिविम्बित हो जाने को अचक्षुर्दर्शन, इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के विना ही रूपी पदाथ आकार का नियत आत्म-

प्रदेशो मे प्रतिविम्बित हो जाने को अवधिदर्शन और इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के विना ही विश्व के समस्त पदार्थों के आकारो का समस्त आत्म प्रदेशो मे प्रतिविम्बित हो जाने को केवलदर्शन समझना चाहिये।

नेत्रेन्द्रिय से होने वाले अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप मतिज्ञानों में चक्षुर्दर्शन का सद्भाव कारण होता है, स्पर्शन, रसना, नासिका और कर्ण इन्द्रियो मे से किसी भी इन्द्रिय अथवा मन से होने वाले अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप मतिज्ञानो मे उस-उस इन्द्रिय अथवा मन से होने होने वाले अचक्षुर्दर्शन का सद्भाव कारण होता है तथा अवधिज्ञान में अवधिदर्शन का केवलज्ञान मे केवलदर्शन का सद्भाव कारण होता है। मन पर्ययज्ञान मे भी मानसिक अचक्षुर्दर्शन का सद्भाव कारण होता है।

पदार्थज्ञान की प्रत्यक्षता और अप्रत्यक्षता का विभाजन

इस प्रकार अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो सर्वथा प्रत्यक्ष हैं अर्थात् इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के विना ही उत्पन्न होने के कारण ये तीनो ज्ञान चूकि स्वाधीन है अत करणानुयोग की विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से भी प्रत्यक्ष हैं और चूकि ये तीनो ज्ञान चूकि उक्त प्रकार से पदार्थदर्शन के सद्भाव मे ही उत्पन्न होते हैं अत स्वरूप का कथन करने वाले द्रव्यानुयोग (वस्तुविज्ञान) की दृष्टि से भी प्रत्यक्ष हैं तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारो मतिज्ञान व श्रुतज्ञान ये सब ज्ञान सर्वथा परोक्ष हैं अर्थात् यथासम्भव इन्द्रिय अथवा मन की सहायता से उत्पन्न होने के कारण चूकि ये ज्ञान पराधीन हैं अत करणानुयोग की विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से भी परोक्ष

हैं और चूकि ये ज्ञान उक्त प्रकार पदार्थदर्शन का सद्भाव रहते ही उत्पन्न हुआ करते है अत स्वरूप का कथन करने वाले द्रव्यानुयोग (वस्तुविज्ञान) की दृष्टि से भी परोक्ष है। लेकिन अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारो मतिज्ञान कथचित् प्रत्यक्ष और कथचित् परोक्ष है अर्थात् ये चारो इन्द्रिय अथवा मन की सहायता से उत्पन्न होने के कारण करणानुयोग की विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से तो परोक्ष है और उक्त प्रकार से पदार्थदर्शन के सद्भाव मे होने के कारण स्वरूप का कथन करने वाले द्रव्यानुयोग (वस्तुविज्ञान) की दृष्टि से प्रत्यक्ष है।

इस प्रकार इस विवेचन के साथ आगम के पूर्वोक्त इस कथन का भी सामजस्य स्थापित हो जाता है कि अवधि, मन - पर्यय और केवल ये ज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष है, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान रूप मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान सर्वथा परोक्ष है तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान कथचित् प्रत्यक्ष और कथचित्परोक्ष है।

दर्शन के स्थलो की विवेचना

यहा इतना विशेष समझना चाहिये कि जिस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप मति तथा अवधि, मन - पर्यय और केवल ये सभी ज्ञान पदार्थदर्शन के सद्भाव मे ही होते हैं उस प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान रूप-मति तथा श्रुत इन सब ज्ञानो के होने मे पदार्थदर्शन के सद्भाव की आवश्यकता नही है क्योकि स्मृति हमेशा धारणापूर्वक ही हुआ करती है, प्रत्यभिज्ञान स्मृति और प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है, तर्क प्रत्यभिज्ञानपूर्वक ही होता है, अनुमान तर्कपूर्वक ही होता है और श्रुतज्ञान अनुमानपूर्वक ही होता है लेकिन स्मृति आदि उक्त ज्ञानो की मूल कारणभूत धारणा तो

पदार्थदर्शन के सद्भाव मे ही होती है अतः इन ज्ञानो मे भी परम्परया पदार्थदर्शन कारण होता ही है। दूसरी बात यह है कि आगम के कथन पर यदि बारीकी के साथ ध्यान दिया जाय तो मालूम होगा कि स्मृति मे धारणा सामान्यरूप से कारण नही होती है किन्तु धारणा का उद्बोध कारण होता है और धारणा का यह उद्बोध मस्तिष्क द्वारा आत्म प्रदेशो मे धारणा का प्रतिबिम्बित होना ही है इस तरह कहना चाहिये धारणा की दर्शनरूप स्थिति ही स्मृति मे कारण हुआ करती है। यही बात प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानो के विषय मे भी जानना चाहिये। इस तरह प्रत्येक ज्ञानदर्शन के सद्भाव मे ही होता है यह सिद्धान्त अखण्डित है। विशेषता इतनी है कि जो ज्ञान पदार्थदर्शन के सद्भाव मे उत्पन्न होते हैं वे तो प्रत्यक्ष कहलाते हैं और जो पदार्थदर्शन के सद्भाव मे न होकर पदार्थज्ञान के दर्शन के सद्भाव मे होते हैं वे परोक्ष हैं। इससे यह निर्णीत होता है कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तथा अवधि, मन पर्यय और केवल ये सभी ज्ञान चूकि पदार्थ दर्शन के सद्भाव मे होते हैं अत प्रत्यक्ष है और स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुत ये सभी ज्ञान चूकि पदार्थदर्शन के सद्भाव मे न होकर पदार्थज्ञान के दर्शन के सद्भाव मे होते हैं अत परोक्ष हैं।

प्रश्न—जिस प्रकार धारणापूर्वक होने वाले स्मृतिज्ञान को, स्मृतिपूर्वक होने वाले प्रत्यभिज्ञान को, प्रत्यभिज्ञानपूर्वक होने वाले तर्कज्ञान को, तर्कपूर्वक होने वाले अनुमान ज्ञान को और अनुमानपूर्वक होने वाले श्रुतज्ञान को द्रव्यानुयोग (वस्तु विज्ञान) की दृष्टि से परोक्षज्ञान कहा गया है उसी प्रकार अवग्रहपूर्वक होने वाले ईहाज्ञान को, ईहापूर्वक होने वाले अवाय ज्ञान को और अवायपूर्वक होने वाले धारणाज्ञान को भी

द्रव्यानुयोग (वस्तु विज्ञान) की दृष्टि से परोक्षज्ञान क्यो नही कहना चाहिये ? अथवा जिस प्रकार ईहा आदि ज्ञानो को प्रत्यक्षज्ञान कहा गया है उसी प्रकार स्मृति आदि ज्ञानो को भी प्रत्यक्षज्ञान क्यो नही कहना चाहिये ?

उत्तर—यह ठीक है कि जिस प्रकार धारणा आदि ज्ञान-पूर्वक स्मृति आदि ज्ञान होते हैं उसी प्रकार अवग्रह आदि ज्ञान-पूर्वक ईहा आदि ज्ञान होते है परन्तु स्मृति आदि ज्ञानो को जो प्रत्यक्षज्ञान न कहकर परोक्षज्ञान कहा गया है वह इसलिये नही कहा गया है कि वे ज्ञान धारणा आदि ज्ञानपूर्वक होते है किन्तु इसलिये कहा गया है कि वे पदार्थदर्शन के असद्भाव मे होते हैं। चूकि ईहा आदि ज्ञान पदार्थदर्शन के असद्भाव मे न होकर पदार्थदर्शन के सद्भाव मे ही होते हैं अत उन्हे परोक्ष न कह कर प्रत्यक्ष कहा गया है। यही बात मन पर्ययज्ञान के सम्बन्ध मे भी जान लेना चाहिये । अर्थात् मन पर्ययज्ञान यद्यपि ईहा-ज्ञानपूर्वक होता है परन्तु पदार्थदर्शन के सद्भाव मे होता है अत उसे प्रत्यक्षज्ञान कहा गया है।

यहा पर प्रसग पाकर मैं इतना और कह देना चाहता हूं कि अवग्रह ज्ञान के पश्चात् ईहाज्ञान होना ही चाहिये ऐसा नियम नही है। ईहाज्ञान वही पर हो सकता है जहा अवग्रह के पश्चात् उस ज्ञान मे सशय उत्पन्न हो जावे। यदि अवग्रह स्वय अवायात्मक रूप से उत्पन्न हुआ हो अथवा अवग्रह होकर तत्काल ज्ञान समाप्त हो जावे तो सशय उत्पन्न नही होगा। इसी प्रकार सशय के पश्चात् भी ज्ञान ईहारूप भी हो सकता है, अवायरूप भी हो सकता है या सशयरूप ही बना रह सकता है। इसी प्रकार ईहाज्ञान के पश्चात् भी ज्ञान अवायरूप भी हो सकता है, ईहारूप भी बना रह सकता है अथवा पुन सशय की

कोटि मे आ सकता है। अवाय के पश्चात् ज्ञान धारणा का रूप ले सकता है या समाप्त हो सकता है। इसी प्रकार धारणा होकर भी कालान्तर मे वह धारणा भी समाप्त हो सकती है।

इस प्रकार आत्मतत्त्व पर वस्तुविज्ञान की दृष्टि से विस्तार के साथ प्रकाश डालने के अनन्तर प्रकृत मे आत्मा का उदाहरण के रूप मे स्पष्टीकरण किया जा रहा है ।

प्रकृत में आत्मा का उदाहरण के रूप में स्पष्टीकरण

ऊपर के कथन से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा के स्वभाव दर्शन का कार्य पदार्थों का दर्पण के समान आत्म प्रदेशो मे प्रतिबिम्बित करना है और आत्मा के स्वभाव ज्ञान का कार्य आत्म प्रदेशो में प्रतिबिम्बित उन पदार्थों को दीपक की तरह प्रकाशित करना है । आत्म प्रदेशो मे पदार्थों के प्रतिबिम्बित होने से जो परिणति आत्मा की या आत्मा के स्वभाव दर्शन की होती है उसमे आत्मा का स्वत सिद्ध दर्शन स्वभाव ही उपादानशक्ति है और उनको प्रतिभासित करने मे आत्मा का स्वत सिद्ध ज्ञान स्वभाव ही उपादानशक्ति है। अर्थात् आत्मा के ये दोनो स्वभाव ही परपदार्थ का अवलम्बन लेकर क्रमश देखने व जानने रूप परिणमन करते रहते हैं। इसलिये जब जैसा परिणमन दृश्यता व ज्ञेयता को प्राप्त होने वाले पदार्थों का होता जायगा उसके आधार पर वैसा ही परिणमन आत्मा के दर्शन और ज्ञानरूप स्वभावो का भी होता जायगा। इसका तात्पर्य यह है कि दृश्य और ज्ञेय पदार्थ अपने उस परिवर्तित रूप से ही उस समय आत्मा मे स्वत अथवा इन्द्रियो या मन की सहायता से यथायोग्य रूप मे प्रतिबिम्बित होकर आत्मा द्वारा जाने जावेंगे । इस प्रकार आत्मा के दर्शन

और ज्ञान दोनों प्रकार के ज्ञायक स्वभाव के उपयोगाकार परिणमन मे उल्लिखित प्रकार से चूकि आत्मा स्वय अथवा उसके उक्त दोनो स्वत सिद्ध स्वभाव उपादान है व देखने और जानने के विषयभूत पदार्थ निमित्त हैं। इसलिये यहां पर भी आकाश, दर्पण और दीपक की तरह उपादानोपादेयभाव तथा निमित्तनैमित्तिकभाव दोनो के आधार पर कार्यकारणभाव की सगति को असगत नही माना जा सकता है। इतना अवश्य है कि आकाश के अवगाहकस्वभाव के अवगाह्यमान पदार्थों को अवगाहित करने रूप परिणमन मे अवगाह्यमान पदार्थो की तरह मुक्तात्मा के दर्शन और ज्ञानरूप ज्ञायक स्वभाव के उपयोगाकार परिणमन मे उनके विषयभूत दृश्य और ज्ञेय पदार्थ केवल उदासीन रूप से ही निमित्त होते है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त (अर्हन्त) अवस्था को प्राप्त संसारी जीवो के दर्शन और ज्ञान रूप ज्ञायकस्वभाव के उपयोगाकार परिणमन मे भी उनके विषयभूत दृश्य और ज्ञेय पदार्थ उदासीनरूप से निमित्त ही होते हैं क्योकि इन मुक्त और जीवन्मुक्त ससारी जीवो को दर्शन और ज्ञान के विपयभूत पदार्थों को देखने व जानने की आकाक्षा एव प्रयत्न नही करने पडते है। उक्त मुक्त और जीवन्मुक्त ससारी जीवो को छोड कर शेष समस्त ससारी जीवो मे से जिनमे पदार्थों का ज्ञान करने के लिये आकाक्षा और प्रयत्न हो रहे हो उनके ज्ञायकस्वभाव के देखने व जानने रूप परिणमन मे उदासीन निमित्तो के अलावा प्रेरक निमित्तो की भी उपयोगिता स्वीकार करनी पडती है।

यहा प्रसगवश पुद्गलद्रव्य के सम्बन्ध मे भी मै इतना कह देना चाहता हू कि पुद्गलद्रव्य के स्वभाव रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के परिणमनो का कथन पूर्व मे किया जा चुका है।

उनके विषय मे प्रकृत मे मै इतना और कह देना चाहता हूँ कि यदि गहराई से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि वे परिणमन भी स्वपरसापेक्ष अर्थात् उपादान और निमित्त दोनो कारणो के वल पर ही हुआ करते हैं। जैसे आम्रफल के स्वभाव रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अपना-अपना जो परिणमन उसकी कच्ची और पकी अवस्था मे हुआ करता है वह सव स्वपर-सापेक्ष ही हुआ करता है।

इस तरह मैंने अब तक वस्तु विज्ञान की दृष्टि से इस वात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि पूर्वोक्त प्रकार जितनी अनन्तानन्त वस्तुये स्वत सिद्ध अर्थात् अनादि, अविनश्वर, स्वाश्रित और अखण्डता के लिये हुए विश्व में विद्यमान हैं उन सव वस्तुओ के स्वत सिद्ध और प्रतिनियत स्वभाव मे पूर्वोक्त प्रकार से स्वसापेक्ष परनिरपेक्ष अर्थात् केवल उपादानोपादेयभाव के आधार पर तथा स्वपरसापेक्ष अर्थात् उपादानोपादेयभाव और निमित्तनैमित्तिकभाव दोनो के आधार पर परिणमन सतत हो रहे हैं। आगे अध्यात्म विज्ञान की दृष्टि से आत्मतत्त्व पर विचार किया जाता है।

अध्यात्मविज्ञान की दृष्टि में आत्मतत्त्व

पूर्व मे ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि आकाशद्रव्य एक है, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, कालद्रव्य असख्यात हैं, जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं और पुद्गलद्रव्य भी अनन्तानन्त हैं। इस तरह कुल मिलाकर विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओ की सख्या अनन्तानन्त है। पूर्व मे ऐसा भी प्रतिपादन किया गया है कि इन सव अनन्तानन्त वस्तुओ मे से प्रत्येक वस्तु अपने स्वत सिद्ध, स्वाश्रित और प्रतिनियत स्वरूप के आधार पर परस्पर एक-

दूसरी वस्तु से सतत भिन्नता को प्राप्त हो रही है। इस प्रकार स्वरूप दृष्टि से पृथक्-पृथक् विद्यमान अर्थात् अपना-अपना अलग-अलग स्वरूप धारण करती हुई उक्त सभी वस्तुओ मे से एक भी वस्तु ऐसी नही है जो अपने से भिन्न अन्य वस्तु से बिल्कुल अस्पृष्ट होकर रह रही हो। अर्थात् सभी वस्तुयें यथा-सम्भव एक दूसरी वस्तु से स्पृष्ट होकर ही रही हैं।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि उक्त सभी वस्तुये जब आकाश के अन्दर समायी हुई है तो वे आकाश को स्पर्श करती हुई ही रह रही है। इसके अलावा अनन्तानन्त प्रदेश वाले अखण्ड आकाश द्रव्य के मध्य उसके असख्यात प्रदेशो पर असख्यात प्रदेशी अखण्ड धर्मद्रव्य विराजमान है और जहा धर्मद्रव्य विराजमान है वही पर समान असख्यात प्रदेशी अखण्ड अधर्मद्रव्य भी विराजमान है। आकाश के जिन और जितने प्रदेशो पर धर्म और अधर्म द्रव्य स्थित है उनमे से प्रत्येक एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य स्थित है। इतना ही नही, सम्पूर्ण अनन्तानन्त जीवद्रव्य और सम्पूर्ण अनन्तानन्त पुद्गल-द्रव्य भी अपनी-अपनी छोटी-बडी अथवा स्थूल-सूक्ष्म आकृति को लेकर आकाश के यथायोग्य इन्ही असंख्यात प्रदेशो पर स्थित हो रहे हैं अथवा विचर रहे हैं।

इतना होने पर भी आकाश, धर्म, अधर्म और सम्पूर्ण काल नाम की वस्तुये परस्पर अथवा जीव और पुद्गल नाम की वस्तुओ के साथ कभी बद्धता (मिश्रण) को प्राप्त नही होती हैं इसलिये इन चारो प्रकार की वस्तुओ को मैं अबद्धस्पृष्ट कहना चाहता हूँ। अर्थात् उक्त चारो प्रकार को वस्तुये यद्यपि अपने से भिन्न वस्तुओ के साथ स्पृष्ट होकर ही रह रही हैं फिर

भी ये सभी वस्तुये परस्पर मिलकर एक पिण्ड का रूप नही धारण करती है। उक्त चारो प्रकार की वस्तुओ को छोडकर शेप जीव और पुद्गल नाम की जितनी वस्तुये विश्व मे विद्यमान है उनके विपय मे जेन-सस्कृति के आगम ग्रन्थो मे निम्न प्रकार की व्यवस्था वतलायी गयी है।

समस्त जीवो का दो वर्गो में विभाजन

स्वरूप दृष्टि से अपनी-अपनी पृथक्-पृथक सत्ता को प्राप्त सम्पूर्ण अनन्तान्त जीव यद्यपि अनादिकाल से ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप पुद्गलो से और मन, वचन तथा कायरूप तीन नोकर्मरूप पुद्गलो से वद्धता (मिश्रण) को प्राप्त होकर रहते आये हैं, परन्तु आगे चलकर ये सव जीव मुक्त और ससारी दो वर्गो मे विभक्त हो गये है।

जो जीव उक्त ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप और मन, वचन और काय इन तीन नोकर्मरूप पुद्गलो के साथ अनादि-कालीन परम्परा से चली आ रही बद्धता को सर्वथा समाप्त कर चुके है वे सब जीव मुक्त कहलाते हैं और जो जीव उक्त कर्म तथा नोकर्मरूप पुद्गलो के साथ अनादिकालीन परम्परा से चली आ रही बद्धता को अभी तक सर्वथा समाप्त नही कर सके है अर्थात् उस बद्धता मे ही रह रहे है वे सब जीव ससारी कहलाते है इस तरह मुक्त जीवो को अवद्धस्पृष्ट और ससारी जीवो को बद्धस्पृष्ट कह सकते है।

मुक्त और ससारी दोनो प्रकार के जीवों का परिमाण

मुक्त और ससारी दोनो प्रकार के जीवो की यदि, परिगणना की जाय तो वे दोनो ही प्रकार के जीव पृथक्-पृथक्

गणना मे अनन्तानन्त ठहरते है फिर भी मुक्त जीवो की सख्या ससारी जीवो की सख्या से अनन्तवेंभाग है और इसी तरह ससारी जीवो की सख्या मुक्त जीवो की सख्या से अनन्तगुणी है। मुक्त और ससारी जीवो का इस प्रकार का परिमाण आगामी अनन्तकाल मे अनन्तान्त ससारी जीवो द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेने के अनन्तर भी बना रहने वाला है क्योकि जैनागम मे अनन्तानन्त के अनन्तानन्त भेद स्वीकार किये गये है। इसलिये उक्त प्रकार मुक्ति की प्रक्रिया चालू रहने के कारण मुक्त जीवो के परिमाण मे अनन्तानन्त जीवो की वृद्धि हो जाने पर भी उनकी सख्या सर्वदा ससारी जोवो की सख्या की अपेक्षा अनन्तवेंभाग ही वनी रहने वाली है। इसी प्रकार ससारी जीवो के परिमाण मे अनन्तानन्त जीवो की कमी हो जाने पर भी उनकी सख्या मुक्त जोवो की सख्या की अपेक्षा अनन्तगुणी बनी रहने वाली है क्योकि जैन-सस्कृति मे यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि जव ससारी जीव अनादिकाल से अब तक नियत-क्रम से सतत मुक्ति को प्राप्त करते जा रहे है और मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् कोई भी मुक्त जीव कभी ससारी नही बनता है तो ससारी जीवो मे अनादिकाल से कमी होते रहते यदि अभी तक अनन्तानन्त काल बीत जाने पर भी उनकी सख्या समाप्त नही हो सकी तो आगे अनन्तानन्त काल मे अनन्तानन्त ससारी जीवो द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेने के अनन्तर भी उनकी उस सख्या की समाप्ति होने वाली नही है। इसके आधार पर ही यह निश्चित होता है कि मुक्त जीवो की सख्या मे वृद्धि हो जाने पर भी उनका परिमाण हमेशा ससारी जीवो के परिमाण की अपेक्षा अनन्तवेंभाग तथा ससारी जीवो की सख्या मे कमी हो जाने पर भी उनका परिमाण हमेशा मुक्त जीवो के परिमाण

की अपेक्षा अनन्तगुणा बना रहने वाला है। ससारी जीव मुक्त होते हैं और मुक्ति प्राप्त जीव कभी पुन ससारी नही बनते— यह सिद्धान्त एक तो आगम वचन होने से श्रद्धा की वस्तु है दूसरे जैन दर्शन ग्रन्थों मे तर्क द्वारा भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। प्रकरण के लिये उपयोगी न होने के कारण मैं यही उक्त सिद्धान्त की तर्क द्वारा पुष्टि करना आवश्यक नहीं समझता हूँ।

ससारी जीवों के दो वर्ग भव्य और अभव्य

संसारी जीवो के भी जैनागम मे दो वर्ग निश्चित किये गये हैं। उनमे से एक वर्ग तो भव्य जीवों का है और दूसरा वर्ग अभव्य जीवों का है। जिन ससारी जीवों मे मुक्ति या मुक्ति प्राप्ति के साधनभूत सम्यग्दर्शन आदि को प्राप्त करने की अथवा मौजूदा ससार के साधनभूत मिथ्यादर्शन आदि को नष्ट करने की योग्यता पायी जाती है वे सब भव्य जीव कहे गये है और जिन संसारी जीवो मे उक्त प्रकार की योग्यता नही पायी जाती है अर्थात् भव्य जीवो से विपरीत योग्यता पायी जाती हैं वे सब अभव्य जीव कहे गये हैं।

आचार्य श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय दो के "जीवभव्याभव्यत्वानिच ॥ ७ ॥" सूत्र द्वारा उक्त प्रकार की योग्यता को भव्यत्व और उसके अभाव या उससे विपरीत योग्यता को अभव्यत्व नामो से ही पुकारा है। स्वामी समन्तभद्र ने आप्त मीमासा मे उसे शुद्धिशक्ति और उसके अभाव या विपरीत योग्यता को अशुद्धि शक्ति नाम दिये है।

तत्त्वार्थ सूत्र के उक्त सूत्र द्वारा ही उक्त भव्यत्व और अभव्यत्व दोनो को जीवत्व भाव के साथ पारिणामिक भावो मे

गिनाया गया है जिसका भाव यह है कि ये दोनों भाव जीवत्व-भाव की तरह जीव के स्वत सिद्ध भाव है और स्वत सिद्ध होने से जहा ये दोनो भाव अनादि है वहा परस्पर विरोधी होने से एक ही जीव मे उन दोनो का पाया जाना असम्भव है। इतना ही नही, जिस जीव मे भव्यत्व अनादि से है उसमे कभी अभव्यत्व नही आ सकता है और जिस जीव मे अभव्यत्व अनादि से है उस जीव मे कभी भव्यत्व नही आ सकता है। इसका भी भाव यह है कि भव्य कभी अभव्य नही होता भव्य ही रहता है और अभव्य कभी भव्य नही होता अभव्य ही रहता है।

भव्यत्व और अभव्यत्व के अन्य प्रकार

प्रसगवश यहाँ हम इतनी बात और कह देना चाहते है कि जीवो के जिन भव्यत्व और अभव्यत्व का ऊपर कथन किया है वे जीव के असाधारण भाव हैं अर्थात् जीवो के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ मे नही पाये जाते है । परन्तु इनके अतिरिक्त दूसरे प्रकार के भी भव्यत्व और अभव्यत्व होते है जो सभी वस्तुओ मे पाये जाते हैं। जैसे प्रत्येक द्रव्य मे परस्पर एक-दूसरे द्रव्यरूप परिणत होने की योग्यता नही पायी जाती है अथवा एकद्रव्य के गुणो का परिणमन दूसरे द्रव्य मे कदापि नही होता है जब कि प्रत्येक द्रव्य सतत अपनी द्रव्यपर्यायो और अपनी स्वभावपर्यायो मे परिणमन करता रहता है । इस प्रकार प्रत्येक वस्तु मे अपनी द्रव्यपर्यायो और स्वभावपर्यायो की अपेक्षा भव्यत्व और अपने से भिन्न वस्तु की द्रव्यपर्यायो और स्वभावपर्यायो की अपेक्षा अभव्यत्व दोनो ही परस्पर अविरोधी होने के कारण सतत एक साथ रहा करते है ।

जीवो और पुद्गलों में एक वैभाविकी शक्ति भी है

समस्त जीवो मे एक वैभाविकी शक्ति भी स्वत सिद्ध रूप मे विद्यमान है जिसके वल पर ही जीव अनादिकाल से पुद्गलद्रव्य के साथ बद्धता को प्राप्त होकर रहता आया है। ऐसी शक्ति पुद्गलद्रव्य मे भी जैन दर्शन द्वारा स्वीकृत की गयी है क्योकि उसके पुद्गलद्रव्य मे स्वीकार किये बिना जीव का पुद्गल द्रव्य से वन्ध को प्राप्त होना असम्भव था। यही कारण है कि पचाध्यायीकार ने जीव और पुद्गल दोनो मे उक्त वैभाविकी शक्ति के सद्भाव का स्पष्ट उल्लेख किया है जो निम्न प्रकार है—

"अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयो पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥२-४५॥

अर्थ—चुम्वक पत्थर द्वारा आकृष्ट सुई के समान जीव पुद्गल दोनो द्रव्यो मे पृथक्-पृथक् विभाव नाम की शक्ति विद्यमान है जो जीव और पुद्गल के परस्पर वन्ध का कारण है।

यह विभाव शक्ति भी एक प्रकार का भव्यत्व भाव ही है क्योकि शक्ति, योग्यता, भव्यत्व और उपादानता ये सब एकार्थ-वाची शब्द है। इसलिये इस दृष्टि से प्रत्येक जीव और कर्म-वर्गणा तथा नोकर्मवर्गणारूप पुद्गल ये सभी भव्यरूपता को प्राप्त हो रहे हैं।

एक भव्यत्व ऐसा है जो केवल पुद्गल द्रव्यो मे ही रहता है और जिसके वल पर सभी पुद्गल द्रव्य यथा काल स्कन्ध-रूपता को प्राप्त होते रहते हैं और यथा काल विछुडते भी रहते हैं।

जीवो का विभाव शक्ति नाम का भव्यत्वभाव ऊपर बतलाये गये भव्य और अभव्य दोनो प्रकार के ससारी जीवो मे और स्वत सिद्ध होने के कारण विनाश रहित होने से मुक्त जीवो मे भी समान रूप से विद्यमान रहता है।

जीवो के भव्यत्व और अभव्यत्व का व्याख्यान

यहा प्रकरण उन भव्यत्व और अभव्यत्व भावो का है जो जीवद्रव्य के अलावा किसी अन्य द्रव्य मे नही पाये जाते है तथा जिनके विषय मे ऊपर कहा गया है कि मुक्ति या मुक्ति के साधनभूत सम्यग्दर्शन आदि को प्राप्त करने अथवा ससार या ससार के साधनभूत मिथ्यादर्शन आदि को विनष्ट करने की योग्यता का नाम भव्यत्व है और इस प्रकार की योग्यता का अभाव अथवा इससे विपरीत योग्यता का नाम अभव्यत्व है।

इनमे से अभव्यत्व जिन ससारी जीवो मे है उनमे वह अनादि काल से तो चला ही आ रहा है साथ ही अनन्तकाल तक रहने वाला भी है। लेकिन जिन ससारी जीवो मे भव्यत्व भाव है उनमे वह यद्यपि अनादिकाल से विद्यमान चला आ रहा है परन्तु किन्ही-किन्ही जीवो मे तो वह अनन्तकाल तक अपने स्वाभाविक भव्यत्वरूप मे ही रहने वाला है और किन्ही-किन्ही जीवो मे वह निमित्त मिलने पर परिवर्तित हो जाने वाला है अथवा यो कहिये कि विनष्ट हो जाने वाला है।

पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि जिन ससारी जीवो मे अभव्यत्व है वे अभव्य कहे जाते है और जिन ससारी जीवो मे भव्यत्व है वे भव्य कहे जाते है चूकि अभव्यतत्व स्थायी है अत अभव्य हमेशा अभव्य ही रहने वाले है परन्तु भव्यत्व मे उक्त

प्रकार की विशेषता रहने के कारण भव्यो मे भी विशेषता हो जाती है। अर्थात् जिन ससारी जीवो का भव्यत्व अनन्तकाल तक अपने स्वाभाविक भव्यत्वरूप मे ही रहने वाला है वे तो हमेशा भव्य ही रहने वाले है और जिनका भव्यत्व परिवर्तित होने वाला है वे मुक्त हो जाने वाले है। इस प्रकार जिनका भव्यत्व परिवर्तित हो चुका है वे भव्य तो मुक्त हो चुके है और जिनका भव्यत्व परिवर्तित होने वाला है वे भी यथा काल मुक्त हो जावेंगे।

तात्पर्य यह है कि "भविष्यतीति भव्य" इस व्यत्पत्ति के अनुसार जो ससारी जीव अभी तक नही प्राप्त हुई मुक्ति या मुक्ति की साधनभूत सम्यग्दर्शनादिरूप पर्याय को आगामीकाल मे अनुकूल निमित्तो के प्राप्त होने पर प्राप्त कर सकते हैं अथवा जो ससारी जीव अभी तक नही नष्ट हुए ससार या ससार के साधनभूत मिथ्यादर्शन आदि को आगामीकाल मे अनुकूल निमित्तो के प्राप्त होने पर नष्ट कर सकते हैं उन्हे ही भव्य सज्ञा दी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि मुक्ति या मुक्ति के साधन-भूत सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति का अथवा ससार या ससार के साधनभूत मिथ्यादर्शन आदि के नाश का भविष्यत्पना ही यहा भव्यत्व शब्द का अर्थ लिया गया है लेकिन जिस प्रकार काल के भविष्यत् समय एक-एक करके अपनी भविष्यत्ता को समाप्त करके वर्तमान होकर भूत होते जाते हैं फिर भी भविष्यत् समयो का कभी अन्त नही होने वाला है उसी प्रकार भव्य जीव भी मुक्ति या मुक्ति के साधनभूत सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति के अनुकूल निमित्त मिलने पर मुक्ति या सम्यग्दर्शन आदि को प्राप्त करते जाते हैं अथवा ससार या ससार के साधनभूत मिथ्यादर्शन आदि के नाश के अनुकूल निमित्त मिलने पर ससार

या मिथ्यादर्शन आदि का नाश करते जाते हैं फिर भी भव्य जोवो का कभी अन्त होने वाला नही है।

प्रश्न—जो भव्यजीव भव्य होकर भी कभी मुक्ति या सम्यग्दर्शनादिक को प्राप्त नही होगे अथवा ससार या मिथ्यादर्शनादिक का नाश नही करेगे उन्हे भव्य कहना असगत क्यो नही है ?

उत्तर—भविष्यत् शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार काल के जिन समयो मे भविष्यत् से वर्तमान होकर भूत होने की योग्यता है उन्हे ही भविष्यत् सज्ञा प्रदान की गयी है तो जो भविष्यत् समय कभी भी वर्तमान होकर भूत होने वाले नही है उन्हे जिस प्रकार भविष्यत् कहना असगत नही है उसी प्रकार जो भव्य जीव भव्य होकर भी कभी मुक्ति या सम्यग्दर्शनादिक को प्राप्त नही होगे अथवा ससार या मिथ्यादर्शनादिक का नाश नही करेगे उन्हे भव्य कहना भी असगत नही है ।

तात्पर्य यह है कि "भविष्यतीति भव्य" इस व्युत्पत्यर्थ के गर्भ मे दो अर्थ समाये हुए हैं—एक तो "भवितु योग्य भव्य" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो मुक्ति या सम्यग्दर्शन प्राप्त करने अथवा ससार या मिथ्यादर्शन का नाश करने की योग्यता रखता है वह भी भव्य है और दूसरा "भवितु शक्य भव्य" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो मुक्ति या सम्यग्दर्शन प्राप्त करने अथवा ससार या मिथ्यादर्शन का नाश करने की सामर्थ्य रखता है वह भी भव्य है । व्याकरणशास्त्र मे योग्यता और सामर्थ्य दोनो के अर्थ मे निम्न प्रकार से अन्तर बतलाया गया है।

व्याकरणशास्त्र मे क्रयार्थक क्री धातु के दो रूप पाये जाते हैं—एक 'क्रेय' और दूसरा 'क्रय्य'। इन दोनो की व्युत्पत्ति

अलग-अलग वहा बतलायी गयी है। अर्थात् "क्रेतुं शक्यं क्रय्यम्" यह क्रय्य शब्द की व्युत्पत्ति है जिसका अर्थ होता है खरीदी के लिये दुकान मे रक्खी हुई वस्तु और "क्रेतु योग्यम्" यह क्रेय शब्द की व्युत्पत्ति है जिसका अर्थ होता है जो खरीद तो की जा सकती है पर खरीदी के लिये दुकान मे नही रक्खी गयी है जैसे घरेलू सामान। घरेलू सामान ऐसा नही होता कि वह कभी खरीदा ही नही जा सकता हो। परन्तु वह तब तक नही खरीदा जाता है जब तक उसे बेचने का उसके स्वामी ने सकल्प न किया हो। इस तरह एक भव्य वह है जिसमे मुक्त होने की योग्यता तो है परन्तु शक्यता नही है और एक भव्य वह है जिसमे मुक्त होने की शक्यता भी है। जो भव्य जीव अनादि-काल से अभी तक कभी सम्यग्दृष्टि नही हुए है उनमे भव्यत्व योग्यता रूप से ही रहा करता है तथा जिनको एक बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त होगया उनमे शक्यता रूप से भव्यत्व रहा करता है। यही प्रक्रिया सम्यग्दर्शन प्राप्ति या मिथ्यादर्शन के विनाश मे समझ लेना चाहिये। अर्थात् जिन भव्य जीवो को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति या मिथ्यादर्शन के विनाश के अनुकूल करणलब्धि प्राप्त हो गयी हो उनमे भव्यत्व शक्यता रूप से रहता है और जिनको अनादिकाल से अभी तक कभी भी करण-लब्धि प्राप्त न हुई उनमे योग्यता रूप से ही भव्यत्व रहा करता है।

भव्यत्व और अभव्यत्व का शुद्धि शक्ति और अशुद्धि शक्ति के रूप मे विवेचन

स्वामी समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमासा मे बन्ध और मोक्ष के कारणो पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपत ।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धित ॥ ९९ ॥

अर्थ—ससारी जीवो मे काम-क्रोध-मोहादि विविध प्रकार के विकारो का जो उद्भव हुआ करता है उसमे उनके द्वारा पूर्व मे बद्धकर्म कारण होते है और उन कर्मों के बन्ध मे इस कर्मबन्ध से पूर्व उद्भूत जीवो के काम-क्रोध-मोहादि विकार कारण होते हैं। वे ससारी जीव शुद्धि शक्ति और अशुद्धि शक्ति के भेद से दो प्रकार के है।

इसका भाव निम्न प्रकार है

(१) ससारी जीवो के कर्मबन्ध और कामादि विकारो की उत्पत्ति मे पायी जाने वाली कार्यकारणभाव की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है।

(२) ससारी जीवो मे जो कामादि भाव उत्पन्न होते है वे सब उनकी अपनी चैतन्य शक्ति मे उत्पन्न होने वाले विभाव (विकारी) परिणमन है। अर्थात् प्रत्येक जीव मे अनादिकाल से पायी जाने वाली स्वत सिद्ध वैभाविक शक्ति के आधार पर उनकी चैतन्य शक्ति का कर्म के सहयोग से काम-क्रोधादि रूप परिणमन सतत हो रहा है।

यहा प्रश्न उठता है कि जब प्रत्येक जीव की चैतन्यशक्ति का कर्म के सहयोग से काम-क्रोधादिरूप परिणमन अनादिकाल से सतत होता आ रहा है तो फिर उन समस्त जीवो मे कोई जीव मुक्ति प्राप्त करलें और कोई जीव हमेशा ससारी बने रहे—इस भेद का कारण क्या है ?

इस प्रश्न का समाधान स्वामी समन्तभद्र ने प्रकृत पद्य के चतुर्थ चरण "जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धित" द्वारा दे दिया है।

जिसका आशय यह है कि प्रत्येक जीव मे जो अनादिकालीन स्वत सिद्ध वैभाविक शक्ति विद्यमान है उसके आधार पर प्रत्येक जीव की चैतन्यशक्ति का वद्धकर्मों के सहयोग से यद्यपि काम-क्रोधादि विकाररूप परिणमन अनादिकाल से होता आ रहा है, फिर भी उस वैभाविक-शक्ति के साथ-साथ किन्ही जीवो मे तो भव्यता नाम की शुद्धि शक्ति और किन्ही जीवो मे अभव्यता नाम की अशुद्धि शक्ति भी अनादिकाल से स्वत सिद्ध रूप मे विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ससारी जीव अनादिकाल से कर्म के सहारे पर अपनी उक्त वैभाविक शक्ति के आधार पर यद्यपि अशुद्ध हो रहा है (काम-क्रोधादिरूप परिणमन कर रहा है) परन्तु इस तरह से अशुद्ध होते हुए इन समस्त ससारी जीवो मे से किन्ही ससारी जीवो मे ऐसी स्वत सिद्ध अनादि-कालीन योग्यता पायी जाती है जो योग्यता भविष्य मे अनुकूल निमित्त प्राप्त होने पर उनके शुद्ध हो जाने का सकेत देती है और चूकि यह योग्यता उक्त प्रकार से अशुद्ध हुए समस्त ससारी जीवो मे नही पायी जाती है तो जिन ससारी जीवो मे यह योग्यता नही पायी जाती है उनके विषय मे यह निष्कर्ष अनायास ही निकल आता है कि वे कभी शुद्ध होने वाले नही हैं।

इस प्रकार वैभाविक शक्तिरूप उपादानशक्ति और कर्मरूप निमित्त के वल पर चित् शक्ति के विभाव परिणमन-स्वरूप काम-क्रोधादि स्वरूप अशुद्धि को प्राप्त समस्त ससारी जीवो मे से कोई जीव तो उक्त प्रकार की शुद्धि शक्ति के धारक भव्य होते हैं और कोई जीव उक्त शुद्धिशक्ति के अभाव मे अभव्य होते हैं। इनमे से कर्मवन्धन की समानता रहने पर भी जो अशुद्ध जीव शुद्ध होने की योग्यता रखने वाले भव्य हैं वे कभी भी अनुकूल निमित्तो का सहयोग प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त कर

लेते हैं और जो अशुद्ध जीव शुद्ध होने की योग्यता के अभाव के कारण अभव्य है वे कभी भी, चाहे निमित्तो का सहयोग उन्हे मिल भी जावे, मुक्ति के पात्र नही होते हैं ।

प्रकृत पद्य के चतुर्थचरण का व्याख्यान अष्टशती और अष्टसहस्री मे निम्न प्रकार किया गया है ।

ननु यदि कर्मवन्धानुरूपत ससार स्यान्न तर्हि केषाचिन्मुक्तिरितरेषां ससारश्च, कर्मबन्धनिमित्ताविशेषादितिचेन्न, तेषा शुद्ध्यशुद्धित प्रतिमुक्तीतरसभवादात्मनाम् । न हि जीवा शश्वदशुद्धित एव व्यवस्थिता स्याद्वादिना याज्ञिकानामिव, कामादि स्वभावत्व निराकरणात् । तत्स्वभावत्वे कदाचिदौदासीन्योपलम्भ विरोधयत् । नापि शुद्धित एवावस्थिता कापिलनामिव, प्रकृति ससर्गेऽपि तत्र कामाद्युपलम्भे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात्, तदुपभोगस्यापि तत्रैव सभवात् । न ह्यन्य कामयतेऽन्य काममनुभवतीति युक्तम् । नापि सर्वे सभवद्विशुद्धय एव जीवा. प्रमाणत प्रत्येतु शक्या ससारशून्यत्वप्रसगात् । किं तर्हि ? शुद्ध्यशुद्धिभ्या व्यवतिष्ठन्ते "जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धित" इति वचनात् । तत शुद्धिभाजायात्मना प्रतिमुक्तिरशुद्धिभाजां ससार ।"

अर्थ—यहा यह समस्या पैदा होती है कि "यदि कर्मवन्ध के अनुरूप ही जीवो के ससार का निर्माण होता है तो समस्त ससारी जीवो मे से किन्ही जीवो को मुक्ति प्राप्त हो और उनसे भिन्न अन्य जीव ससारी बने रहे यह बात नही बनती है क्योकि कर्मवन्ध तो मुक्ति प्राप्त करने योग्य और ससारी बने रहने योग्य दोनों ही प्रकार के ससारी जीवो मे समान रूप से ही हुआ करता है ।" इस समस्या का निराकरण इस प्रकार है कि सम्पूर्ण जीव शुद्धिशक्ति वाले और अशुद्धिशक्ति वाले इस

तरह दो भेदो मे विभक्त है। अत जो ससारी जीव शुद्धशक्ति वाले है उनको तो मुक्ति प्राप्त होने की सम्भावना है और जो अशुद्धि शक्ति वाले ससारी जीव हैं वे हमेशा समारी ही वने रहते हैं। इसका आधार यह है कि स्याद्वादी जैनियो ने सम्पूर्ण ससारी जीवो को मीमासको की तरह हमेशा अशुद्ध रहने वाले नही स्वीकार किया है इसका कारण यह है कि उन्होने समस्त ससारी जीवो मे पायी जाने वाली कामादि रूप अशुद्धि को जीव का स्वत-सिद्ध भाव मानने का निषेध किया है। इसका भी कारण यह है कि उनमे कभी-कभी जो कामादिक से विरक्ति भाव देखा जाता है वह कामादिको जीव का स्वत सिद्ध भाव मानने के विरुद्ध है। इसी प्रकार जैनियो ने सम्पूर्ण जीवो को साख्य की तरह हमेशा शुद्ध रहने वाले भी नही स्वीकार किया है क्योकि जो जीव हमेशा शुद्ध रहने वाला होगा उसमे प्रकृति का ससर्ग होने पर भी कामादि की उपलब्धि होना असम्भव होगा। यदि कामादि की उपलब्धि प्रकृति मे ही मानी जाय तो फिर पुरुष (जीव) को मानना ही व्यर्थ हो जायगा। इसका कारण यह है कि तब प्रकृति मे कामादि की उपलब्धि की तरह कामादि के फल का उपभोग भी स्वीकार करना अनिवार्य हो जायगा। इसका भी कारण यह है कि अन्य (प्रकृति) मे तो भोगाभिलाषा उत्पन्न हो और अन्य (पुरुष) भोग का उपभोक्ता हो—ऐसा मानना युक्ति सगत नहीं है। मीमासक और साख्य मतवादियो को मान्य उक्त दोनो विकल्पो के अलावा तीसरा यह विकल्प भी जैनियो को प्रमाण रूप से मान्य नही है कि सम्पूर्ण ससारी जीव भविष्य मे कभी भी मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता रखने वाले अर्थात् शुद्धि शक्ति के धारक भव्य ही होते है। क्योकि इस विकल्प को स्वीकार करने से ससार की

शून्यता का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। तो फिर इन तीनो विकल्पो को छोड कर कौनसा विकल्प जैनियो का मान्य है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि स्वामी समन्तभद्र के "जोवास्ते शुद्‌ध्यशुद्धित" इस वचन के अनुसार जैनियो ने जीवो को शुद्धि शक्ति वाले और अशुद्धि शक्ति वाले इस तरह दो भेदरूप स्वीकार किया है । इस तरह शुद्धिशक्ति वाले जीवों को मुक्ति प्राप्त होती है और अशुद्धि शक्ति वालो का ससार बना रहता है।

शुद्धिशक्ति और अशुद्धिशक्ति के प्रतिनियम का आधार

ऊपर जो अष्टशती और अष्टसहस्री का उद्धरण दिया गया है उसमे यह स्पष्ट किया गया है कि समस्त ससारी जीव समान रूप से अशुद्ध है अर्थात् समस्त ससारी जीवो की चैतन्य-शक्ति का वैभाविक शक्ति के आधार पर कर्मों के सहयोग से समान रूप से काम-क्रोधादिरूप रूपविकारी परिणमन हो रहा है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि उन समस्त ससारी जीवो मे से बहुतो मे तो स्वभावत शुद्धि शक्ति (शुद्ध होने की योग्यता) विद्यमान है और उनसे अतिरिक्त शेष जीवो मे स्वभावत्त ही अशुद्धिशक्ति (शुद्ध होने की योग्यता का अभाव या विपरीत योग्यता का सद्भाव) विद्यमान है। अब यहा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बहुत से ससारी जीवो मे तो शुद्धिशक्ति विद्यमान है और शेष ससारी जीवो मे अशुद्धिशक्ति विद्यमान है—इस प्रतिनियम का आधार क्या है इस प्रश्न का समाधान स्वामी समन्तभद्र ने ही आप्तमीमासा मे कारिका ९९ के आगे कारिका १०० मे शुद्धिशक्ति और अशुद्धिशक्ति का स्पष्टीकरण करते हुए किया है। कारिका १०० निम्न प्रकार है—

शुद्ध्यशुद्धी पुन शक्ती ते पाक्यापाक्य शक्तिवत् ।
साद्यनादी तयो व्यंक्ती स्वभावोऽतर्क गोचर. ॥१००॥

अर्थ—ससारो जीवो मे यथा सम्भव विद्यमान उपर्युक्त शुद्धि और अशुद्धि नाम की दोनो शक्तियो को मूग अथवा उडद मे यथा सम्भव विद्यमान पाक्य और अपाक्य—इन दोनो शक्तियो के समान समझना चाहिये। इन दोनो शुद्धि और अशुद्धि नाम की शक्तियो मे से शुद्धि शक्ति की व्यक्ति (विकास) तो सादि है तथा अशुद्धि शक्ति की व्यक्ति (विकास) अनादि है और यह सब व्यवस्था स्वभावभूत होने से तर्क का विषय नही है।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मूग अथवा उडद के किसी-किसी दाने मे तो स्वभावत पाक्य शक्ति और किसी-किसी दाने मे स्वभावत अपाक्य शक्ति पायी जाती है उसी प्रकार समस्त ससारी जीवो मे से किसी-किसी ससारी जीव मे तो स्वभावत शुद्धि शक्ति का सद्भाव और किसी-किसी ससारी जीव मे स्वभावत अशुद्धि शक्ति का सद्भाव जानना चाहिये तथा जिस प्रकार मूग अथवा उडद के जिस दाने मे स्वभावत पाक्य शक्ति पायी जाती है उस दाने मे अपाक्य शक्ति नही पायी जाती है और मूग अथवा उडद के जिस दाने मे स्वभावत अपाक्य शक्ति पायी जाती हे उस दाने मे पाक्य शक्ति नही पायी जाती है उसी प्रकार जिस ससारी जीव मे स्वभावत शुद्धि शक्ति विद्यमान है उसमे अशुद्धि शक्ति का और जिस ससारी जीव मे स्वभावत. अशुद्धि शक्ति विद्यमान है उसमे शुद्धिशक्ति का अभाव जानना चाहिये। इतना ही नही, जिस प्रकार नियत मूग अथवा उडद के दाने मे स्वभावत विद्यमान पाक्य शक्ति की व्यक्ति (पकी हुई अवस्था मे पहुँच जाना) सादि है व नियत मूग अथवा उडद के दाने मे स्वभावत

विद्यमान अपाक्य शक्ति की व्यक्ति (अपक्व अवस्था मे ही बना रहना) अनादि है उसी प्रकार नियत ससारी जीव मे स्वभावत· विद्यमान शुद्धिशक्ति की व्यक्ति (शुद्ध अवस्था मे पहुँच जाना) सादि जानना चाहिये व नियत ससारी जीव मे स्वभावत विद्यमान अशुद्धि शक्ति की व्यक्ति (अशुद्ध दशा मे ही बना रहना) अनादि जानना चाहिये ।

भावार्थ—उपर्युक्त पाक्य शक्ति और अपाक्य शक्ति तथा शुद्धि शक्ति और अशुद्धि शक्ति इन सबका अपने-अपने स्थान मे सद्भाव तो स्वभावत होने से अनादि है व अपाक्य शक्ति तथा अशुद्धि शक्ति की व्यक्ति (विकास) भी अनादि है लेकिन पाक्य शक्ति और शुद्धि शक्ति की व्यक्ति (विकास) सादि है ।

इस सब प्रतिनियत व्यवस्था को वस्तु स्वभाव का खेल ही समझना चाहिये इसमे तर्क का सहारा लेना व्यर्थ है—यह बात स्वामी समन्तभद्र के "स्वाभावोऽतर्कगोचर" वाक्य से स्पष्ट हो जाती है । अष्टशती और अष्टसहस्री मे इस वाक्य का जो अर्थ किया है वह निम्न प्रकार है ।

"कुत शक्ति प्रति नियम इति चेत् तथा स्वभावत्वादिति ब्रूम । नहि भावस्वभावा पर्यनुयोक्तव्या, तेषा मतर्कगोचर-त्वात् ।"

अर्थ—अमुक जीव मे तो शुद्धिशक्ति है और अमुक जीव मे अशुद्धिशक्ति है—इत्यादि रूप से जो दोनो शक्तियो की प्रतिनियतता का प्रतिपादन किया गया है इसमे उन शक्तियो की प्रतिनियतता का कारण क्या है यह प्रश्न यदि उपस्थित किया जाय तो ग्रन्थकार कहते है कि उस-उस वस्तु का स्वभाव

शुद्ध्यशुद्धी पुन' शक्ती ते पाक्यापाक्य शक्तिवत् ।
साद्यनादी तयो र्व्यक्ती स्वभावोऽतर्क गोचर ॥१००॥

अर्थ—ससारो जोवो मे यथा सम्भव विद्यमान उपर्युक्त शुद्धि और अशुद्धि नाम की दोनो शक्तियो को मूग अथवा उडद मे यथा सम्भव विद्यमान पाक्य और अपाक्य—इन दोनो शक्तियो के समान समझना चाहिये। इन दोनो शुद्धि और अशुद्धि नाम की शक्तियो मे से शुद्धि शक्ति की व्यक्ति (विकास) तो सादि है तथा अशुद्धि शक्ति की व्यक्ति (विकास) अनादि है और यह सब व्यवस्था स्वभावभूत होने से तर्क का विषय नही है।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मूग अथवा उडद के किसी-किसी दाने मे तो स्वभावत पाक्य शक्ति और किसी-किसी दाने मे स्वभावत. अपाक्य शक्ति पायो जाती है उसी प्रकार समस्त ससारी जीवो मे से किसी-किसी ससारी जीव मे तो स्वभावत शुद्धि शक्ति का सद्भाव और किसी-किसी ससारी जीव मे स्वभावत अशुद्धि शक्ति का सद्भाव जानना चाहिये तथा जिस प्रकार मूग अथवा उडद के जिस दाने में स्वभावत पाक्य शक्ति पायी जाती है उस दाने मे अपाक्य शक्ति नही पायी जाती है और मूग अथवा उडद के जिस दाने मे स्वभावत अपाक्य शक्ति पायी जाती है उस दाने मे पाक्य शक्ति नही पायी जाती है उसी प्रकार जिस ससारी जीव मे स्वभावत शुद्धि शक्ति विद्यमान है उसमे अशुद्धि शक्ति का और जिस ससारी जीव मे स्वभावत. अशुद्धि शक्ति विद्यमान है उसमे शुद्धिशक्ति का अभाव जानना चाहिये। इतना ही नही, जिस प्रकार नियत मूग अथवा उडद के दाने मे स्वभावत विद्यमान पाक्य शक्ति की व्यक्ति (पकी हुई अवस्था मे पहुँच जाना) सादि है व नियत मूग अथवा उडद के दाने मे स्वभावत

विद्यमान अपाक्य शक्ति की व्यक्ति (अपक्व अवस्था मे ही बना रहना) अनादि है उसी प्रकार नियत ससारी जीव मे स्वभावत' विद्यमान शुद्धिशक्ति की व्यक्ति (शुद्ध अवस्था मे पहुँच जाना) सादि जानना चाहिये व नियत ससारी जीव मे स्वभावत विद्यमान अशुद्धि शक्ति की व्यक्ति (अशुद्ध दशा मे ही बना रहना) अनादि जानना चाहिये।

भावार्थ—उपर्युक्त पाक्य शक्ति और अपाक्य शक्ति तथा शुद्धि शक्ति और अशुद्धि शक्ति इन सबका अपने-अपने स्थान मे सद्भाव तो स्वभावत होने से अनादि है व अपाक्य शक्ति तथा अशुद्धि शक्ति की व्यक्ति (विकास) भी अनादि है लेकिन पाक्य शक्ति और शुद्धि शक्ति की व्यक्ति (विकास) सादि है।

इस सब प्रतिनियत व्यवस्था को वस्तु स्वभाव का खेल ही समझना चाहिये इसमे तर्क का सहारा लेना व्यर्थ है—यह बात स्वामी समन्तभद्र के "स्वाभावोऽतर्कगोचर" वाक्य से स्पष्ट हो जाती है। अष्टशती और अष्टसहस्री मे इस वाक्य का जो अर्थ किया है वह निम्न प्रकार है।

"कुत शक्ति प्रति नियम इति चेत् तथा स्वभावत्वादिति ब्रूम। नहि भावस्वभावा पर्यनुयोक्तव्या, तेषा मतर्कगोचर-त्वात्।"

अर्थ—अमुक जीव मे तो शुद्धिशक्ति है और अमुक जीव मे अशुद्धिशक्ति है—इत्यादि रूप से जो दोनो शक्तियो की प्रतिनियतता का प्रतिपादन किया गया है इसमे उन शक्तियो की प्रतिनियतता का कारण क्या है यह प्रश्न यदि उपस्थित किया जाय तो ग्रन्थकार कहते है कि उस-उस वस्तु का स्वभाव

ही ऐसा है और स्वभाव कभी तर्क का विषय नही होता है इसलिये इसमे तर्क-वितर्क नही करना चाहिये।

अशुद्धिशक्ति की व्यक्ति अनादि है और शुद्धिशक्ति की सादि है—इसका स्पष्टीकरण प्रकृत पद्य की अष्टसहस्री टीका की टिप्पणी मे निम्न प्रकार पाया जाता है।

"अशुद्धत्वमनादित्त एव मन्तव्य सादित्वे मते सति तत पूर्वं शुद्धे सभवापत्तो । शुद्धिस्तु न जीवाना पूर्वंत, पूर्वंत शुद्धि स्वीकारे पुनर्वन्धासभवापत्तो । न च वन्धो नास्तीति, प्रत्यक्षतो वन्धकृते शरीरादि पारतन्त्र्यस्यानुभावात् । इति बन्धस्याशुद्ध दशाया मेव सभवादनादिरशुद्धि । शुद्धिस्तु प्रयोग-जन्यत्वात्सादि । कनकपाषाणगत सुवर्णस्याशुद्धिरनादिस्त-च्छुद्धिस्तु सादिरिति दृष्टान्तोऽत्रभावनीय ।"

(अष्टसहस्री पृष्ठ २७५ टिप्पणी–५)

अर्थ—अशुद्धशक्ति की व्यक्तिरूप अशुद्धि का सद्भाव अनादिकाल से ही मानना चाहिये क्योकि यदि उसे सादि माना जाता है तो उससे पूर्व वहा हमे शुद्धि का सद्भाव स्वीकार करना होगा, लेकिन अशुद्धिशक्ति की व्यक्ति के पूर्व शुद्धि का सद्भाव जीवो मे नही माना जा सकता है क्योकि अशुद्धि शक्ति की व्यक्तिरूप अशुद्धि के पूर्व जीवो मे शुद्धि के स्वीकार करने पर फिर वन्ध का होना असम्भव हो जायगा और ऐसा है नही, कि उनमे बन्ध का सर्वथा अभाव ही मान लिया जाय, कारण कि वन्ध के फलस्वरूप शरीरादि की परतत्रता का जीव मे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। इस प्रकार बन्ध की उत्पत्ति अशुद्ध दशा मे ही सम्भव होने से अशुद्धि शक्ति की व्यक्ति रूप अशुद्धि अनादि ही सिद्ध होती है और चूकि शुद्धि शक्ति की व्यक्तिरूप

शुद्धि प्रयोग (प्रयत्न) जन्य है अत यह सादि ही सिद्ध होती है । यहा पर इस दृष्टान्त का समन्वय कर लेना चाहिये—कि स्वर्ण पाषाण मे रहने वाले स्वर्ण की अशुद्धि तो अनादि है और शुद्धि सादि है ।

ऊपर मैंने समस्त ससारी जीवो को भव्य और अभव्य इन दो वर्गो मे विभक्त करके भव्यत्व और अभव्यत्व को क्रमश शुद्धि शक्ति और अशुद्धिशक्ति का नाम देकर शुद्धिशक्ति और अशुद्धिशक्ति के विषय मे आप्तमीमासा की कारिका ९९ और १०० तथा इनकी टीका अष्टशती और अष्टसहस्री के आधार पर विस्तार से विवेचन किया है । अब प्रकरण के लिये उपयोगी होने के कारण प० फूलचन्द्रजी की विचारधारा को लेकर इस सम्बन्ध मे थोडा और विचार किया जाता है ।

प० फूलचन्द्र जी ने आप्तमीमासा कारिका १०० का अर्थ करते हुए जो व्याख्यान किया है वह निम्न प्रकार है—

"यहा पर जो ये दो प्रकार की शक्तिया कही गयी है उन द्वारा प्रकारान्तर से उपादानशक्ति का ही प्रतिपादन कर दिया गया है । जीवों मे ये दो प्रकार की शक्तिया होती है । उनमे से अशुद्धि नामक शक्ति की व्यक्ति तो अनादिकाल से प्रति समय होती आ रही है जिसके आश्रय से नाना प्रकार के पुद्गल कर्मों का बन्ध होकर कामादि रूप भाव ससार की सृष्टि होती है । जो- अभव्य जीव है उनके इस शक्ति की व्यक्ति अनादि-अनन्त है और जो भव्यजीव हैं उनके इस शक्ति की व्यक्ति अनादि होकर भी सान्त है ।"

(जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ ६८–६९)

यद्यपि प० जी के इस व्याख्यान का मुझे यहा पर विरोध नही करना है परन्तु इतना निश्चित है कि उनके इस व्याख्यान से कारिका का स्वारस्य समाप्त हो जाता है। प० जी के ही निम्नलिखित कथन से यह बात ठीक तरह से पाठको की समझ मे आ जायगी। वे लिखते हैं—

"इस विषय को स्पष्ट करने के लिये आचार्य महाराज (स्वामी समन्तभद्र) ने पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्ति को उदाहरण के रूप मे उपस्थित किया है। आशय यह है कि जिस प्रकार वही उडद अग्नि सयोग को निमित्त कर पकता है जो पाक्य शक्ति से युक्त होता है। जिसमे अपाक्य शक्ति पायी जाती है वह अग्नि सयोग को निमित्त कर त्रिकाल मे नही पक सकता ऐसी वस्तु मर्यादा है उसी प्रकार प्रकृत मे जानना चाहिये। यहा पर पाक्यशक्ति युक्त उडद और अपाक्य शक्ति युक्त उडद ऐसा भेद किया गया है जो सब जीवो पर पूर्ण तरह से लागू नही होता, क्योकि भव्यजीवो मे शुद्धिशक्ति और अशुद्धि शक्ति का सद्भाव समान रूप से उपलब्ध होता है सो प्रकृत मे दृष्टान्त को एक देश रूप से ग्राह्य मान कर मुख्यार्थ को फलित कर लेना चाहिये। दृष्टान्त मे दृर्ष्टान्ति के सब गुण उपलब्ध होते ही है, ऐसा है भी नही। वह तो मुख्यार्थ की सूचना मात्र करता है।"

(जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ ६९–७०)

मालूम पडता है कि कारिका मे विद्यमान शुद्धिशक्ति का ऊपर लिखे प्रकार अर्थ करने पर जब पं० जी को यह भान हुआ कि उसका मेल दृष्टान्त रूप से उपस्थित पृथक्-पृथक् उडद मे विद्यमान पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्ति के साथ पूरा-

पूरा नही बैठता है तो उन्हे स्पष्ट करना पडा कि "दृष्टान्त मे दृष्टान्ति के सब गुण उपलब्ध होते ही है ऐसा है भी नही, वह तो मुख्यार्थ को सूचना मात्र करता है" लेकिन स्वामी समन्तभद्र जैसे तार्किक महापुरुष यहा पर ऐसा दृष्टान्त उपस्थित करेगे जिसका दृष्टान्त के साथ पूरा मेल आवश्यक होने पर भी नही बैठता हो—ऐसी कल्पना करना अनुचित ही माना जायगा। अत कारिका मे विद्यमान शुद्धि शक्ति का अर्थ भव्यत्व और अशुद्धि शब्द का अर्थ अभव्यत्व करना ही सर्वथा उचित है। इस अर्थ के साथ पाक्य शक्ति और अपाक्य शक्ति का दृष्टान्त भी सर्वथा सगत हो जाता है तथा फिर प० जी को दृष्टान्त का दृष्टान्ति के साथ समन्वय करने के लिये उक्त खीचातानी करने की भी कोई आवश्यकता नही रह जाती है।

श्रीमद्भट्टाकलकदेव और स्वामी विद्यानन्दी ने कारिका का व्याख्यान करते हुए शुद्धिशक्ति का अर्थ भव्यत्व और अशुद्धि शक्ति का अर्थ अभव्यत्व ही किया है। यथा—

"शुद्धिस्तावज्जीवाना भव्यत्व केषाचित्सम्यग्दर्शनादि-योगान्निश्चयिते । अशद्धिरभव्यत्व तद्वैपरीत्यात् प्रवर्तनादव-गम्यते छद्मस्थै, प्रत्यक्षतश्चातीन्द्रियार्थदर्शिभि । इति भव्येतर स्वभावौ शुद्ध्यशुद्धी जीवाना तेषा सामर्थ्या सामर्थ्ये शक्त्शक्ती इति यावत् । ते माषादिपाक्यापरशक्तिवत् सभाव्येते सुनिश्चि-तासभवद्बाधकप्रमाणत्वात् ।"

अर्थ—यहा पर शुद्धि शब्द का अर्थ भव्यत्व है जो किन्ही के सम्यग्दर्शन आदि के आधार पर निश्चित होता है । इसी तरह अशुद्धि शब्द का अर्थ यहा पर अभव्यत्व है जो भव्यत्व से विपरीत प्रवर्तन के आधार पर तो छद्मस्थो द्वारा जाना जाता

है तथा अतीद्रिय पदार्थों का दर्शन करने वालो के द्वारा प्रत्यक्ष से जाना जाता है । इस तरह जीवो के भव्यत्व और अभव्यत्व स्वभाव ही क्रमश शुद्धि और अशुद्धि है। इन्हे जीवो की सामर्थ्य और असामर्थ्य अथवा शक्ति और अशक्ति भी कह सकते हैं। इन्हे उडद आदि मे पायी जाने वाली पाक्य और अपाक्य शक्तियो की तरह समझना चाहिये । चूकि इनकी अस्तित्व सिद्धि मे बाधक प्रमाणो का अभाव है अत इनका सद्भाव पृथक्-पृथक् जीवो मे सुनिश्चित समझना चाहिये ।

भट्टाकलकदेव ने इस व्याख्यान के साथ प० फूलचन्दजी का भी कोई विरोध नही है अत वे लिखते हैं—

"यहा पर जीवो के सम्यग्दर्शनादिरूप परिणाम का नाम शुद्धि शक्ति है और मिथ्यादर्शनादिरूप परिणाम का नाम अशुद्धि शक्ति है। इस अभिप्राय को ध्यान मे रखकर यह व्याख्यान किया है। वैसे शुद्धिशक्ति का अर्थ भव्यत्व और अशुद्धिशक्ति का अर्थ अभव्यत्व करके भी व्याख्यान किया जा सकता है । भट्ट अकलकदेव ने अष्टशती मे और आचार्य विद्यानन्दी ने अष्टसहस्री मे सर्वप्रथम इसी अर्थ को ध्यान मे रखकर व्याख्यान किया है । इसी अर्थ को ध्यान में रखकर आचार्य अमृतचन्द्र ने पचास्तिकाय गाथा १२० की टीका मे यह वचन लिखा है—"ससारिणो द्विप्रकारा, भव्या अभव्याश्च । ते शुद्धस्वरूपोपलम्भशक्तिसद्भावासद्भावाभ्या पाच्यापच्य मुद्गवदभिधीयन्त इति ।" (जैनतत्त्वमीमासा टिप्पणी पृष्ठ ६९)

प० फूलचन्द्रजी ने आचार्य अमृतचन्द्र का जो उक्त उद्धरण दिया है उसका अर्थ यह है कि ससारी जीव दो प्रकार के हैं—भव्य और अभव्य । जिन जीवो मे अपने स्वरूप की उपलब्धि की योग्यता पायी जाती है वे भव्य और जिन जीवो

मे वह योग्यता नही पायी जाती है वे अभव्य कहे गये हैं। जीवो के ये दोनो प्रकार ऐसे जानना चाहिये जैसे पकने योग्य मूग और नही पकने योग्य मूग इस तरह मूगो के दो प्रकार पाये जाते है।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्र द्वारा दिये गये पाक्य और अपाक्य शक्तियो के दृष्टान्त से, श्रीमद्भट्टाकलकदेव और स्वामी विद्यानन्दी द्वारा किये गये उल्लिखित व्याख्यान से, पचास्तिकाय गाथा १२० की टीका मे विद्यमान आचार्य अमृत-चन्द्र के उल्लिखित वचन से और श्री प० फूलचन्द्र को भी उनके उल्लिखित वक्तव्य के आधार पर मान्य होने से यही मानना उचित है कि आप्तमीमासा कारिका ९९ व १०० मे पठित शुद्धि और अशुद्धि शब्दो से स्वामी समन्तभद्र को उडद अथवा मूग के पृथक्-पृथक् दानो मे पायी जाने वाली पाक्यशक्ति और अपाक्य शक्तियो की तरह ही भिन्न-भिन्न जीवो मे विद्यमान क्रमश भव्यत्व शक्ति और अभव्यत्वशक्ति हो अर्थ स्वीकार है।

आप्तमीमासा कारिका १०० का व्याख्यान करते हुए श्रीमद्भट्टाकलकदेव ने अष्टशती मे और आचार्य विद्यानन्दी ने अष्टसहस्री मे शुद्धि और अशुद्धि शब्दो का निम्नलिखित व्याख्यान भी किया है—

"यदि वा जीवानामभिसन्धिनानात्व शुद्ध्यशुद्धी। स्वनिमित्तवशात् सम्यग्दर्शनादिपरिणामात्मकोऽभि सन्धि. शुद्धि। मिथ्यादर्शनादि परिणामात्मकोऽशुद्धिर्दोषावरणहानी-तरलक्षणत्वात्तेषा शुद्ध्यशुद्धिशक्तयोरितिभेद माचार्य प्राह। ततोऽन्यत्रापि भव्याभव्याभ्या भव्येष्वेव साद्यनादिप्रकृतशक्तयो-र्व्यक्ती सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्ते पूर्वमशुद्ध्यभिव्यक्तेर्मिथ्यादर्शनादि सततिरूपाया पुन शक्त्यभिव्यक्ते सादित्वात्।"

(अष्टसहस्री पृष्ठ २७४-२७५)

अर्थ—अथवा जीवो मे विद्यमान अभिप्रायो की भिन्नता शुद्धि और अशुद्धि कहलाती है। जैसे अपने-अपने निमित्त से जोव के सम्यग्दर्शनादि परिणाम स्वरूप अभिप्राय को शुद्धि व मिथ्यादर्शनादि परिणाम स्वरूप अभिप्राय को अशुद्धि समझना चाहिये। क्योकि जीवो की शुद्धिशक्ति तो दोषो (काम-क्रोधादि भाव कर्मो) तथा आवरणो (ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्यकर्मो) की हानि (विनाश) स्वरूप है और उनकी (जीवो की) अशुद्धिशक्ति उक्त दोषो तथा आवरणो के सद्भाव-रूप है। दोनो शक्तियो मे पाये जाने वाले इस भेद (अन्तर) को आचार्य समन्तभद्र ने "साद्यनादी तयोर्व्यक्ती" इस कारिकाश द्वारा कहा है। अत भव्य तथा अभव्य दोनो मे से केवल भव्यो मे प्रकृत शुद्धि और अशुद्धि शक्तियो की व्यक्ति क्रमश सादि और अनादि समझना चाहिये। क्योकि भव्यो मे सम्यग्दर्शनादि को उत्पत्ति से पूर्व मिथ्यादर्शनादि की अनादिकाल से चली आ रही परम्परा स्वरूप अशुद्धि शक्ति की व्यक्ति मे कथचित् अनादिपना पाया जाता है तथा सम्यग्दर्शनादि की अभिव्यक्ति मे सादिपना पाया जाता है।

आप्तमीमासा को कारिका १०० के व्याख्यान के गर्भ मे अष्टशती और अष्टसहस्री मे जो उक्त व्याख्यान पाया जाता है, मालूम पडता है, कि प० फूलचन्द्र जी ने इसके आधार पर ही शुद्धि और अशुद्धि शब्दो का अर्थ अपने अभिप्रायानुसार किया है। लेकिन वास्तव मे कारिका का वही मुख्यार्थ (अभिधेयार्थ) समझना चाहिये जिसका प्रतिपादन अष्टशती और अष्टसहस्री मे सर्वप्रथम किया गया है। पश्चात् किया गया अर्थ सूचित अर्थ ही समझना चाहिये।

कथन का सार यह है कि सम्पूर्ण जीवो मे पुद्गलद्रव्य के सयोग से विभावरूप परिणमन करने की योग्यता स्वरूप स्वत सिद्ध अनादि-निधन विभाव शक्ति विद्यमान है। इस विभाव शक्ति के बल पर प्रत्येक जीव अनादिकाल से पुद्गल-द्रव्य के सयोग से विभावरूप परिणमन करता आया है व इसी आधार पर प्रत्येक जीवो को 'ससारी' सज्ञा प्राप्त हुई है। ये ही ससारी जीव अपनी-अपनी भव्यत्व या अभव्यत्व शक्तियो के आधार पर दो भागो मे विभक्त हो गये है तथा इनमे से जो अभव्य जीव है वे सभी अनादिकाल से तो ससारी है ही, लेकिन अनन्तकाल तक ससारी ही वने रहने वाले है। भव्यजीवो मे से अभी तक वहुत से भव्यजीव तो साधनो की अनुकूलता पाकर अपना ससार नष्ट कर चुके हैं तथा बहुत से भव्यजीव साधनो की अनुकूलता प्राप्त करते हुए अपना ससार नष्ट करते जा रहे है। इस तरह भव्य जीवो द्वारा अपना-अपना ससार नष्ट करने को यह प्रक्रिया अनादिकाल से चलती आयी है और अनन्तकाल तक चलती जायगी, कभी इसका अन्त होने वाला नही है।

जीवो का बद्धस्पृष्ट और अबद्धस्पृष्ट रूप मे विवेचन

जिन जीवो ने अपना ससार नष्ट कर दिया है उन्हे मुक्त सज्ञा जैनागम प्रदान की गयी है इस तरह अभी तक जितने जीव मुक्त हो चुके है उन सबको आकाश, धर्म, अधर्म और काल की तरह पूर्वोक्त प्रकार अवद्धस्पृष्ट जीवद्रव्य समझना चाहिये क्योकि वे भी आकाश, धर्म, अधर्म और काल द्रव्यो की तरह दूसरी वस्तुओ के साथ स्पृष्ट होकर तो रह रहे है फिर भी मुक्त दशा को प्राप्त हो जाने के कारण वे अव कभी किसी वस्तु के साथ मिल कर एक पिण्ड का रूप धारण करने वाले नही हैं

जैसा कि ससारी जीव पुद्गलद्रव्य के साथ मिल कर एक पिण्ड का रूप धारण किये हुए हैं और यही कारण है कि जिन जीवों ने साधनो की अनुकूलता प्राप्त न होने से अभी तक मुक्ति प्राप्त नही की है उन भव्यजीवो और सभी अभव्य जीवो को पुद्गल-द्रव्य के साथ मिल कर एक पिण्डरूप स्थिति मे विद्यमान रहने के कारण वद्ध और आकाशादि सभी द्रव्यो के साथ स्पष्टरूप स्थिति मे रहने के कारण स्पृष्ट—इस तरह वद्धस्पृष्ट जीवद्रव्य मैंने कहना उचित समझा है।

पुद्गलों का भी वद्धस्पृष्ट अवद्धस्पृष्ट रूप में विवेचन

पूर्व मे वतला दिया गया है कि जीवो मे वद्धता का कारण उनमे स्वत सिद्ध रूप से विद्यमान वैभाविकी शक्ति है और यह भी वतला दिया गया है कि यह शक्ति जिस प्रकार जीवो मे है उसी प्रकार पुद्गलो मे भी है। इस तरह जिस प्रकार जीवो को पुद्गलद्रव्य के साथ मिल कर एक पिण्डरूप स्थिति मे रहने के कारण वद्ध माना गया है उसी प्रकार पुद्गलद्रव्यो को भी जीवो के साथ अथवा अपने से भिन्न पुद्गलद्रव्यो के साथ मिलकर एक पिण्डरूप स्थिति मे रहने के कारण वद्ध माना गया है। इस तरह जिस प्रकार जीव वद्ध-स्पृष्ट और अवद्धस्पृष्ट दो भागो मे विभक्त है उसी प्रकार पुद्गलो को भी वद्धस्पृष्ट और अवद्धस्पृष्ट दो भागो मे विभक्त समझ लेना चाहिये।

जीवों और पुद्गलों में बद्धस्पृष्टता और अबद्धस्पृष्टता के आधार पर विशेषता

जीवो और पुद्गलो मे वद्धस्पृष्टता और अवद्धस्पृष्टता के आधार पर इस प्रकार की विशेषता समझ लेनी चाहिये कि

सभी जीव अनादिकाल से पुद्गलो के साथ बद्धस्थिति को प्राप्त होकर ही रहते आये है लेकिन उनमे से जिन जीवो ने पुरुषार्थ द्वारा अपनी उस बद्धस्थिति को समाप्त कर अबद्धस्थिति को प्राप्त कर लिया है वे अब कभी बद्धस्थिति को प्राप्त नही होंगे। पुद्गलद्रव्यो मे यह विशेषता है कि कोई पुद्गल तो अनादिकाल से जीवो अथवा पुद्गलो के साथ वद्धस्थिति को प्राप्त हो रहे है और यदि उनकी वह बद्ध समाप्त भी हुई है तो पुनः बद्धस्थिति को प्राप्त हो गये है या हो सकते है। इसी प्रकार कोई पुद्गल अनादिकाल से अबद्धस्थिति को प्राप्त होकर भी रह रहे है परन्तु वे आगे चल कर यथायोग्य जीव अथवा पुद्गलो के साथ बद्धस्थिति को भी प्राप्त हुए है और आगे भी बद्धस्थिति को प्राप्त हो सकते है। इस प्रकार जोवो आर पुद्गलो मे परस्पर जो विशेपतायें सम्भव है वे नीचे प्रकार है।

(१) सभी अनन्तानन्त जीव अनादिकाल से यथायोग्य पुद्गलो के साथ वद्ध होकर ही रहते आये है जबकि समस्त पुद्गलो मे से वहुत से पुद्गल तो अनादिकाल से जीवो अथवा दूसरे पुद्गलो के साथ वद्ध होकर रहते आये हैं और बहुत से अबद्ध होकर भी रहते आये है।

(२) अनादिकाल से उक्त प्रकार से बद्धता प्राप्त सभी जीवो मे से बहुत से जीवो ने आगे चलकर अपनी बद्धस्थिति को समाप्त कर दिया है और वहुत से जीव अपनी उस वद्धस्थिति को समाप्त करते जा रहे है। इस तरह जीवो द्वारा अपनी वद्धस्थिति को समाप्त करने की इस प्रक्रिया का आगे चलकर कभी अन्त होने वाला नहीं है, लेकिन जिन जीवो ने अपनी वद्धस्थिति को समाप्त कर दिया है अथवा जो जीव अपनी वद्धस्थिति को समाप्त करते जा रहे हैं वे सव आगे चलकर

कभी पुन वद्धस्थिति को न तो प्राप्त हुए है और न प्राप्त होवेंगे। पुद्गलद्रव्यो मे वद्धस्थिति की प्रक्रिया मे जीवो की वद्धस्थिति की प्रक्रिया से यह विशेषता है कि जो पुद्गल अनादिकाल से अवद्धस्थिति को प्राप्त रहे है उन्होने अपनी उस अवद्धस्थिति को समाप्त कर वद्धस्थिति को भी प्राप्त किया है व प्राप्त कर सकते है। इसी प्रकार जो पुद्गल अनादिकाल से वद्धस्थिति को प्राप्त रहे हैं उन्होंने भी अपनी उस वद्धस्थिति को समाप्त कर अवद्धस्थिति को प्राप्त किया है व आगे प्राप्त कर सकते है। इस तरह सभी पुद्गल अपनी अवद्धस्थिति को समाप्त कर वद्धस्थिति को प्राप्त होते रहते है और वद्धस्थिति को समाप्त कर अवद्ध-स्थिति को प्राप्त होते रहते हैं।

(३) एक जीव कभी दूसरे जीव के साथ वद्ध नहीं होता केवल पुद्गल के साथ ही वद्ध होता है जव कि पुद्गल जीव और पुद्गल दोनो के साथ यथायोग्य वद्धता को प्राप्त करता रहता है।

(४) अनादिकाल से वद्धस्थिति को प्राप्त समस्त जीवो मे से वहुत से जीव ऐसे है जिनमे अपनी वद्धस्थिति को समाप्त करने की योग्यता तो पायी जाती है परन्तु वे कभी अपनी उस वद्धस्थिति को समाप्त नही करेंगे, परन्तु वहुत से जीव ऐसे भी हैं जिनमे अपनी वद्धस्थिति को समाप्त करने की योग्यता ही नही है। सभी पुद्गलो मे अपनी वद्धस्थिति को समाप्त कर अवद्धस्थिति प्राप्त करने की और अवद्धस्थिति को समाप्त कर वद्धस्थिति प्राप्त करने की योग्यता विद्यमान है।

(५) पुद्गलद्रव्यो का यह स्वभाव भी है कि जो पुद्गल अपनी वर्तमान स्थिति मे जीवो अथवा अन्य पुद्गलो के

साथ बद्ध होने की योग्यता नही रखते है वे आगे चल कर उस योग्यता को भी प्राप्त कर लेते है। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप से परिणत पुद्गल अपनी वर्तमान स्थिति मे यद्यपि एक दूसरे रूप परिणत नही हो सकते है परन्तु आगे चलकर उस योग्यता का सम्पादन कर वे परस्पर एक दूसरे रूप भी परिणत हो जाया करते है। यही कारण है कि जैन दर्शन मे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप से परिणत होने वाले स्वतन्त्र स्वतन्त्र पुद्गल नही स्वीकार किये गये है। इसी प्रकार कोई भी पुद्गल कभी कर्मवर्गणा की और कभी नौकर्मवर्गणा की योग्यता सम्पादन कर जीव का निमित्त पाकर कर्मरूप और नोकर्मरूप परिणत हो जाया करते है।

पुद्गलद्रव्यो का जितना वस्तु विज्ञान की दृष्टि से विवेचन किया जा सकता है वह तत्त्वार्थ सूत्र के पचम अध्याय मे निम्नलिखित सूत्रो के आधार पर किया गया है।

"स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला ॥ २३ ॥, शव्दवन्ध-सौक्ष्म्य स्थौल्यसस्थानभेदतमश्छायातपोद्यतवन्तश्च ॥ २४ ॥, अणव स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥, भेदसघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥, भेदादणु ॥ २७ ॥, भेदसघाताभ्याचाक्षुष ॥ २८ ॥, स्निग्धरू-क्षत्वाद्बन्ध ॥ ३२ ॥, न जघन्यगुणानाम् ॥ ३३ ॥, गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥, द्वयधिकादिगुणाना तु ॥३५॥ वन्धेऽधिकौ पारिणाम कौ च ॥ ३६ ॥"

अर्थ—पुद्गल रूप, रस, गन्ध और वर्ण वाले होते है। शव्द, वन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत ये उनकी पर्यायें हैं। वे पुद्गल अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार के होते है। इन दोनो प्रकार के पुद्गलो का

निर्माण क्रमश भेद और सङ्घात से होता है (अर्थात् पुद्गल स्कन्धों की खण्डन क्रिया अणुरूप पुद्गल के निर्माण में कारण है और अणु रूप, पुद्गलों का सङ्घात (सङ्गठन) स्कन्ध रूप पुद्गलों के निर्माण में कारण है। लेकिन यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि बड़े पुद्गल स्कन्धों से खण्डन क्रिया (भेद) के आधार पर छोटे स्कन्धों का और छोटे स्कन्धों से सङ्गठन क्रिया (सङ्घात) के आधार पर बड़े स्कन्धों का भी निर्माण होता है।) अणुओं की उत्पत्ति भेद से होती है सघात से नहीं होती। चाक्षुष स्कन्धों की उत्पत्ति भेद और सघात दोनों के आधार पर होती है। बन्ध (सङ्घात) का कारण पुद्गलों में विद्यमान स्निग्धता और रूक्षता नाम के गुण हैं। लेकिन स्निग्धता और रूक्षता के जघन्य अंश बन्ध के कारण नहीं होते हैं और स्निग्धता अथवा रूक्षता के समान अंश वाले पुद्गल यदि सदृश अर्थात् स्निग्ध-स्निग्ध अथवा रूक्ष-रूक्ष भी हों तो भी बन्ध नहीं होता है। इस तरह स्निग्ध-स्निग्ध अथवा रूक्ष-रूक्ष या स्निग्ध रूक्ष पुद्गलों का यदि बन्ध हो रहा हो तो वहाँ एक स्निग्ध से दूसरे स्निग्ध के, एक रूक्ष से दूसरे रूक्ष के तथा स्निग्ध से रूक्ष के अथवा रूक्ष से स्निग्ध के दो गुण अधिक होना अधिक आवश्यक है। इस तरह बन्ध के अवसर पर जिसके दो गुण अधिक होंगे उस रूप दूसरा पुद्गल परिणत हो जाया करता है। यहाँ इतना विशेष अवश्य समझना चाहिये कि बन्ध होने पर दोनों किसी एक रूप न होकर तीसरी अवस्था को ही प्राप्त हो जाते हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण वैज्ञानिक दृष्टि की अधिकाधिक अपेक्षा रखता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से बन्ध और उसके अभाव का विवेचन—

पुद्गल स्कन्धों अथवा पुद्गलाणुओं के निर्माण की वस्तु-विज्ञान की दृष्टि से उपर्युक्त प्रक्रिया है। अध्यात्म विज्ञान

की दृष्टि मे होने वाली बन्ध प्रक्रिया इससे भिन्न है कारण कि वहा पुद्गल पुद्गल के साथ बद्ध न होकर आत्मा पुद्गल के साथ अथवा पुद्गल आत्मा के साथ बद्ध होता है। इसी तरह अध्यात्म विज्ञान की दृष्टि से बद्ध आत्मा और पुद्गल के पृथक्करण (भेद) की प्रक्रिया भी बद्ध पुद्गलो के पृथक्करण (भेद) की प्रक्रिया से भिन्न जानना चाहिये। गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थो मे इसका ही विवेचन किया गया है तथा बद्ध होने व पृथक् होने पर जो आत्मा और पुद्गल की अवस्थाये (परि-णतियाँ) बनती है उनका विवेचन गोम्मटसार जीवकाण्ड आदि ग्रन्थो मे किया गया है।

अध्यात्म विज्ञान की दृष्टि से होने वाले बन्ध मे आत्मा कार्मणवर्गणा रूप और नोकर्मवर्गणा रूप पुद्गलो से अथवा कार्माणर्गवणा रूप और नोकर्मवर्गणा रूप पुद्गल आत्मा से वद्ध होते हैं—यह नियम है। कार्माणवर्गणारूप पुद्गलों का अर्थ है ज्ञानावरणादि कर्म रूप से परिणत होने की योग्यता रखने वाले पुद्गल और नोकर्म वर्गणारूप पुद्गलो का अर्थ है शरीरादि नोकर्म रूप परिणत होने की योग्यता रखने वाले पुद्गल। यह भी नियम है कि कार्माणवर्गणारूप और नोकर्मवर्गणारूप पुद्गलो का क्रमश कर्मरूप और नोकर्मरूप परिणमन आत्मा के प्रति-नियत परिणमन का निमित्त मिलने पर ही होता है और जब कार्माणवर्गणारूप पुद्गल कर्मरूप तथा नोकर्मवर्गणारूप पुद्गल नोकर्म परिणत हो जाते हैं तो यथाकाल होने वाले उनके प्रति-नियत परिणमन आत्मा के प्रतिनियत परिणमन के निमित्त होते है। जैसा कि समयसार गाथा ८६ मे कहा गया है—

"जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति।
पुग्गल कम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ॥"

अर्थात् जीव के परिणामो का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म रूप परिणत होते है और पुद्गल कर्मों का निमित्त पाकर जीव भी अपनी योग्यतानुसार तदनुकूल परिणत हुआ करता है।

यद्यपि ऊपर मै यह वतला चुका हूँ कि कार्माण वर्गणा ही कर्म रूप परिणत होती है और नोकर्म वर्गणा ही नोकर्मरूप परिणत होती है परन्तु यहाँ मै इतनी बात और वतला देना चाहता हूँ कि कार्माणवर्गणा मे स्थित पुद्गल कालान्तर मे नोकर्मवर्गणा का अथवा और दूसरे प्रकार का रूप भी धारण कर लिया करते हैं व नोकर्मवर्गणा मे स्थित पुद्गल भी कालान्तर मे कर्माणवर्गणा का अथवा और दूसरे प्रकार का रूप धारण कर लिया करते हैं, इसी प्रकार और दूसरे प्रकार के पुद्गल भी कालान्तर मे कार्माणवर्गणा का या नोकर्मवर्गणा का रूप धारण कर लिया करते हैं। इतना ही नही, एक प्रकार को कार्माणवर्गणा के पुद्गल कालान्तर मे दूसरी कार्माणवर्गणा का रूप धारणा कर लिया करते हैं और एक प्रकार की नोकर्मवर्गणा के पुद्गल भी कालान्तर मे दूसरी नोकर्मवर्गणा का रूप धारण कर लिया करते हैं। इस प्रसङ्ग मे प० फूलचन्द्रजी ने जैनतत्त्वमीमासा के पृष्ठ १६६ पर निम्नलिखित कथन किया है—

"कर्मबन्ध होने के पहले सब कार्माणवर्गणाये एक प्रकार की होती है या सब कर्मो की अलग-अलग वर्गणायें होती हैं? साथ ही यह भी देखना है कि कार्माणवर्गणाये ही कर्मरूप क्यो परिणत होती हैं अन्य वर्गणाये निमित्तो के द्वारा कर्मरूप परिणत क्यो नही हो जाती? यद्यपि ये प्रश्न थोडे जटिल तो प्रतीत होते हैं परन्तु शास्त्रीय व्यवस्थाओ पर ध्यान

देने से इनका समाधान हो जाता है। शास्त्रो मे वतलाया गया है कि योग के निमित्त से प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध होता है। अब थोडा इस कथन पर विचार कीजिये कि क्या योग सामान्य से कार्माणवर्गणाओ के ग्रहण मे निमित्त होकर ज्ञानावरणादिरूप से उनके विभाग मे निमित्त होता है या ज्ञानावरणादिरूप से जो कार्माणवर्गणाये पहले से अवस्थित हैं उनके ग्रहण मे निमित्त होता है ? इनमे से पहली वात तो मान्य नही हो सकती है क्योकि कार्माणवर्गणाओ मे ज्ञानावरणादिरूप स्वभाव पैदा करने मे योग की निमित्तता नही है। जो जिस रूप मे है उनका उसी रूप मे ग्रहण हो—इसमे योग निमित्त होता है।"

इस कथन से प० फूलचन्द्रजी ने यह सिद्ध किया है कि ज्ञानावरणादि आठो कर्मों की कार्माणवर्गणाये अलग-अलग है और योग के निमित्त से आठो प्रकार की वर्गणायें अपने-अपने ज्ञानावरणादि नियतरूप रूप से आत्मा के साथ सम्वन्ध कर लेती हैं। इसकी पुष्टि मे उन्होने वीरसेन आचार्य का वर्गणाखड बन्धन अनुयोग द्वार चूलिका वाला कथन भी वहाँ पर उद्धृत किया है।

प० फूलचन्द्रजी ने जो उक्त कथन किया है उसमे उनका अभिप्राय निमित्तभूत योग को ज्ञानावरणादि कर्मो की कार्माण वर्गणाओ का जीव के साथ बधने मे अकिंचित्कर वतलाना है। परन्तु इस प्रकार वे अपने इस अभिप्राय की पुष्टि नही कर सके है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

मैं, जैसा कि ऊपर बतला दिया है, मानता हूँ कि ज्ञानावरण कर्म रूप परिणत होने की योग्यता रखने वाली कार्माण-वर्गणा ही योग के निमित्त से आत्मा के साथ सम्वन्ध करके

ज्ञानावरण कर्मरूप परिणत होती है व दर्शनावरण कर्म रूप परिणत होने की योग्यता रखने वाली कार्माणवर्गणा ही योग के निमित्त से आत्मा के साथ सम्बन्ध करके दर्शनावरण कर्म रूप परिणत होती है इसलिए विवाद इस बात मे नही है, परन्तु इससे ज्ञानावरणादि कर्मों की कार्माणवर्गणाओ का जीव के साथ बधने मे योग अकिंचित्कर कैसे सिद्ध हो सकता है ? जबकि प्रत्येक कार्माणवर्गणा योग के सद्भाव मे ही आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होती है व योग के अभाव मे कभी बन्ध को प्राप्त नही होती है। यह एक आश्चर्य की बात है कि एक ओर तो उपर्युक्त कथन मे स्वय प० फूलचन्द्रजी योग को कार्माणवर्गणाओ का आत्मा के साथ बधने मे निमित्तरूपसे कारण स्वीकार करते है और दूसरो ओर उस बन्ध मे योग को अकिंचित्कर भी मानते है। इस विषय पर आगे विस्तृत रूप से विचार किया जायगा। यहाँ पर प० जी के उपर्युक्त कथन को उद्धृत करने मे मेरा मुख्य अभिप्राय इतना ही है कि उनकी उक्त विचारधारा के आगे इतना और जोडना है कि एक जाति की वर्गणा के पुद्गल वहाँ से पृथक् होकर दूसरी जाति की वर्गणा मे भी मिल जाते हैं तथा इस तरह पहली जाति की वर्गणा के रूप मे छोडकर उस दूसरी जाति की वर्गणा के रूप को धारण कर लेते है।

बद्ध स्पृष्टता और अबद्ध स्पृष्टता का उपसंहार

ऊपर किये गये कथन का सार यह है कि आकाश द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और सभी काल द्रव्य ये सब अनादि काल से अबद्ध स्पृष्ट स्थिति को धारण किये हुए हैं और आगे भी सतत इसी अबद्ध स्पृष्ट स्थिति मे ही रहने वाले है। जीव नाम

के सभी द्रव्य अनादिकाल से यद्यपि बद्धस्पृष्ट स्थिति को धारण करते आये है परन्तु आगे चलकर उनमे से बहुत से जीव पुरुषार्थ द्वारा अपनी बद्ध स्थिति को समाप्त कर अबद्ध स्थिति को प्राप्त कर चुके है तथा बहुत से जीवो मे अपनी बद्ध स्थिति को समाप्त कर अवद्ध स्थिति को प्राप्त करने की यह प्रक्रिया अभी भी चालू है और अनन्त काल तक वरावर चालू रहेगी। जीवो मे बहुत से जीव ऐसे भो हैं, जिनमे अपनो अनादि कालोन बद्धस्थिति को समाप्त करने को योग्यता रहते हुये भी वे कभी अवद्ध स्थिति को प्राप्त नही होगे तथा जिन जीवो मे अपनी अनादि कालीन बद्धस्थिति को समाप्त करने की योग्यता ही नही है वे भी हमेशा वद्धस्थिति मे रहेगे। सभी पुद्गल द्रव्यो मे व्यवस्था यह है कि अबद्धस्थिति को प्राप्त पुद्गल कालान्तर मे बद्धस्थिति को प्राप्त हो जाता है और बद्धस्थिति प्राप्त पुद्गल कालान्तर मे अवद्धस्थिति को भी प्राप्त हो जाता है। कोई भी जीव जो एक वार अपनी बद्धस्थिति को समाप्त कर अबद्धस्थिति को प्राप्त हो जाता है पुन कभी वद्धस्थिति को प्राप्त नही होता।

इस प्रकार यह वात निश्चित हो जाती है कि विश्व मे जितने पदार्थ है वे सब बद्धस्पृष्ट और अवद्धस्पृष्ट इस तरह दो वर्गों मे विभक्त है। इन पदार्थो मे यथासम्भव पायी जाने वाली वद्धता और स्पृष्टता दोनो ही पृथक्-पृथक् दो आदि पदार्थो की सयोग विशेष रूप अवस्थाये है। स्पृष्टता तो सव पदार्थो मे एक दूसरे पदार्थों के साथ यथायोग्य रूप मे सदा बनी रहती है परन्तु बद्धता केवल जीव और पुद्गल नाम के पदार्थो मे ही सम्भव हुआ करती है। जीवो की बद्धता केवल पुद्गल द्रव्यो के साथ सम्भव है परन्तु पुद्गल द्रव्यो की बद्धता यथायोग्य जीवो तथा पुद्गलो दोनो के साथ सम्भव है।

द्रव्यों की अर्थपर्यायें और व्यंजनपर्यायें

सभी द्रव्य परिणमन स्वभाव वाले हैं—यह वात पूर्व मे वतलायी जा चुकी है यहा पर मैं यह वतलाना चाहता हूँ कि द्रव्यो के परिणमन अर्थपर्यायो और व्यजनपर्यायो के रूप मे हुआ करते है । द्रव्यो की स्वभाव पर्यायो या गुणपर्यायो को आगम मे अर्थपर्याय नाम दिया गया है और उनकी द्रव्यपर्यायो को व्यजनपर्याय नाम दिया गया है। यथा—

"गुणपर्ययाणामिह केचिन्नामान्तर वदन्ति बुधाः ।
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्यया इति च ॥ ६२ ॥
अपि चोद्दिष्टाना मिह देशांशैर्द्रव्य पर्ययाणां हि ।
व्यजन पर्याया इति केचिन्नामान्तर वदन्ति बुधा ॥ ६३ ॥

(पचाध्यायी अध्याय १)

अर्थ—विद्वानो ने गुणपर्यायो का ही अपरनाम अथपर्याय कहा है और द्रव्यपर्यायो का ही अपरनाम व्यजनपर्याय कहा है। क्योकि अर्थ तथा गुण एक से अर्थ के वोधक शव्द हैं तथा देशाशो पर (द्रव्य के अशो) को ही द्रव्यपर्याय कहते है।

इस कथन से यह भलीभाति सिद्ध हो जाता है कि स्वभावपर्यायें, गुणपर्यायें और अर्थपर्यायें एक हैं और द्रव्यपर्यायें व व्यजनपर्यायें एक हैं।

अर्थपर्यायो का विवेचन

पूर्व कथनानुसार स्वभावपर्यायें या गुणपर्यायें दो प्रकार की होती हैं—एक स्वप्रत्यय और दूसरी स्वपरप्रत्यय। इस तरह स्वभाव अथवा गुणपर्यायाओ से अभिन्न होने के कारण

अर्थपर्यायों के भी स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय ऐसे दो भेद जानना चाहिये। पूर्व कथनानुसार यह भी जानना चाहिये कि अगुरुलघु गुण के शक्त्यशो (अविभागि प्रतिच्छेदो) मे षड्गुण हानि वृद्धिरूप स्वभाव या गुणपर्याये ही स्वप्रत्यय अर्थपर्याये है तथा इन्हे छोड कर जितनो स्वभाव या गुणपर्याये है वे सब स्वपरप्रत्यय अर्थपर्याये है। जैसे आकाश उन सब पदार्थों को अवगाहित कर रहा है जो विश्व मे विद्यमान है लेकिन आकाश का पदार्थों को अवगाहित करने का स्वभाव असीमित है अर्थात् विश्व मे जितने पदार्थ विद्यमान है उनसे भो अनन्तगुणे पदार्थ यदि विद्यमान होते तो उन्हे भी आकाश अपने अन्दर अवगाहित कर सकता है। इससे जाना जाता है कि आकाश का पदार्थों को अवगाहित करने रूप परिणमन पदार्थाधीन होने से स्वपरप्रत्यय है। यही वात धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और जीवद्रव्य के स्वभाव के विषय मे भी जान लेना चाहिये। मैं पूर्व मे वतला चुका हूँ कि प० फूलचन्द्रजी केवलज्ञान के विषय मे स्वय यह वात स्वीकार करते है कि केवलज्ञान मे विश्व के समस्त विद्यमान पदार्थो से अनन्तगुणे पदार्थो को जानने की योग्यता रहते हुए भी केवल उन्ही पदार्थो को जानता है जो पदार्थ विद्यमान है। इस तरह अविद्यमान पदार्थ को न जानने का कारण केवलज्ञान मे उस जाति की योग्यता का अभाव नही है किन्तु पदार्थों का असद्भाव ही उसमे कारण है। आगम भी यही वतलाता है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार यह निष्कर्ष निकल आता है कि प्रत्येक वस्तु का परिणमन करने का स्वभाव तो असीमित ही होता है परन्तु वे परिणमन यदि परसापेक्ष हो तो उनमे से उसका वही परिणमन होगा जिसके अनुकूल पर की सहायता

प्राप्त रहेगी। जैसे कुम्हार का घटनिर्माण का स्वभाव असीमित है लेकिन वह निर्माण उसी घट का करता है जिसके अनुकूल उसे उपादान सामग्री तथा अन्य सहायक सामग्री प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार मिट्टी की योग्यताये तो असीमित हैं परन्तु उससे वही कार्य निष्पन्न होना है जिसके अनुकूल निमित्त सामग्री की समग्रता उसे प्राप्त हो जाती है।

पूर्व मे स्वप्रत्यय परिणमन को स्वसापेक्ष परनिरपेक्ष अथवा केवल परनिरपेक्ष परिणमन भी कहा गया है इसी प्रकार स्वपरप्रत्यय परिणमन को स्वपरसापेक्ष अथवा केवल परसापेक्ष परिणमन भी कहा गया है वैसा यहा भी समझना चाहिये तथा 'स्व' का अर्थ उपादान और 'पर' का अर्थ निमित्त पूर्व मे जो कहा गया है वही वात यहा भी समझ लेना चाहिये।

व्यंजनपर्यायो का विवेचन

उपर्युक्त प्रकार अर्थपर्यायो का विवेचन करने के अनन्तर अव यहा व्यजनपर्यायो का विवेचन किया जा रहा है।

यह वात भी पूर्व मे स्पष्ट हो चुकी है कि विश्व के समस्त पदार्थ वद्धस्पृष्ट और अवद्धस्पृष्ट दो भागो मे विभक्त है अर्थात् विश्व के वहुत से पदार्थों मे पर-पदार्थ के साथ वद्धता और स्पृष्टता दोनो वातें पायी जाती है और वहुत से पदार्थो मे केवल स्पृष्टता ही पायी जाती है वद्धता नही पायी जाती। आकाश, धर्म, अधर्म ये तीनो द्रव्य और समस्त कालद्रव्य तथा समस्त जीवो मे से केवल मुक्त जीव एव समस्त पुद्गल द्रव्यो मे केवल अणुरूप स्थिति को प्राप्त पुद्गलद्रव्य ये सव अवद्धस्पृष्ट पदार्थ हैं क्योकि ये सव पदार्थ एक दूसरे पदार्थ के साथ वद्ध न

होकर केवल स्पृष्ट होकर ही रह रहे है। इन्हे छोड कर सम्पूर्ण ससारी जीव और सम्पूर्ण स्कन्धरूप पुद्गल ये सब बद्धस्पृष्ट पदार्थ हैं। क्योकि ससारी जीव तो कर्म व नोकर्मरूप पुद्गलो के साथ तथा पुद्गल जीवो या दूसरे पुद्गलो के साथ बद्धता को भी प्राप्त हो रहे है और स्पृष्ट भी हो रहे है।

इस प्रकार आकाश, धर्म, अधर्म, समस्त काल, मुक्तजीव और अणुरूपता को प्राप्त पुद्गल इन सब पदार्थो की परस्पर एक दूसरे पदार्थ के साथ विद्यमान स्पृष्टता रूप सयोग के आधार पर जो पर्याये बनती रहती है वे सब स्पृष्टद्रव्य पर्याये है और पुद्गल के साथ बद्धजीवो तथा जीव व अन्य पुद्गलो के साथ बद्ध पुद्गलद्रव्यो की जितनी स्पृष्टतारूप सयोग के आधार पर द्रव्यपर्याये होती हैं वे सब तो स्पृष्ट द्रव्यपर्याये है तथा जितनी बद्धतारूप सयोग के आधार पर द्रव्यपर्यायें होती है वे सब बद्धद्रव्यपर्याये है। ये स्पृष्टरूप और बद्धरूप दोनो ही प्रकार की सभी पर्याये व्यजनपर्याये कहलाती है और ये सभी स्वपरप्रत्यय ही हुआ करती हैं। क्योकि ये पर्याये पर (निमित्त) का योग पाकर स्व (उपादान) मे उत्पन्न हुआ करती है। अर्थात् जिस पदार्थ मे वह पर्याय उत्पन्न होती है वह उसमे उपादान कारण होता है और जिन पदार्थो के योग से वह पर्याय उत्पन्न होती है वे उसमे निमित्तकारण होते है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह बात निर्णीत हो जाती है कि स्वभाव, गुण या अर्थरूपपर्याये तो स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दोनो प्रकार की होती है लेकिन स्पृष्ट और बद्ध दोनो ही प्रकार की द्रव्य या व्यजनरूप पर्याये केवल स्वपरप्रत्यय ही हुआ करती है स्वप्रत्यय नही होती। द्रव्य या व्यजनपर्यायो

के स्वप्रत्यय न होने का कारण यह है कि प्रत्येक द्रव्य के जितने अश (प्रदेश) नियत है उनमे कभी घटा वढी नही होती है। इसका आशय यह है कि पुद्गल के दो अणु मिल कर द्व्यणुक नाम का एक मिला हुआ द्रव्य भले ही वन जावे परन्तु उस मिली हुई अवस्था मे अणु सर्वदा एक प्रदेश वाला ही रहेगा जैसा कि अपनी पृथक् अवस्था मे वह एक प्रदेश वाला रहता है। इसी प्रकार द्व्यणुक भी हमेशा दो प्रदेश वाला ही रहेगा। अर्थात् अणु कभी दो आदि प्रदेशो वाला नही होता हमेशा एक प्रदेश वाला ही रहा करता है । इसी प्रकार द्व्यणुक कभी एक प्रदेश वाला या तीन आदि प्रदेशो वाला नही होता हमेशा दो प्रदेश वाला ही रहा करता है। यहा इस कथन का यह आशय नही लेना चाहिये कि द्व्यणुक कभी विघटित नही होता अथवा मिलकर त्र्यणुक आदि नही बनता, किन्तु यही आशय लेना चाहिये कि जव तक दो अणु परस्पर वन्ध को प्राप्त हैं तभी तक वह द्व्यणुक है विघटित होने पर द्व्यणुक सज्ञा भी समाप्त हो जायगी। इसी प्रकार द्व्यणुक से त्र्यणुक बन जाने पर भी द्व्यणुक सज्ञा समाप्त हो जायगी। यही व्यवस्था आकाशादि द्रव्यो के विषय मे भी जानना चाहिये। अर्थात् जैन-सस्कृति मे आकाशद्रव्य को नियत परिमाण मे अनन्त प्रदेशी, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और प्रत्येक जीव द्रव्य को नियत परिमाण मे असख्यात प्रदेशी और प्रत्येक कालद्रव्य को नियत परिमाण मे एक प्रदेशी जो स्वीकार किया गया है तो इनके प्रदेशो मे कभी घटा बढी होने वाली नही है। जीवो मे जो शरीर के आधार पर सकोच अथवा विस्तार उनके आकार का होता है तो वहा पर भी प्रदेशो की घटा वढी नही होती है।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य मे प्रदेशो की घटा वढी के आधार पर कोई द्रव्यपर्याय नही वनती

है उनमे तो केवल परद्रव्य के साथ होने वाली स्पृष्टता अथवा बद्धता के आधार पर ही यथायोग्य द्रव्यपर्यायें बनती है और चूकि उनकी वे पर्यायें परद्रव्य के स्पृष्टता अथवा बद्धतारूप सयोग के आधार पर ही बनती है अत वे सभी द्रव्यपर्यायें स्वपरप्रत्यय ही है स्वप्रत्यय नही।

बद्धजीवद्रव्यों की यथायोग्य पुद्गल द्रव्य के साथ विद्यमान बद्धतारूप सयोग का सर्वथा विच्छेद होने पर जो अबद्धपर्यायें होती है इसी प्रकार बद्धपुद्गल द्रव्यो की भी यथायोग्य जीवद्रव्यो अथवा अन्य पुद्गलद्रव्यो के साथ विद्यमान बद्धतारूप सयोग का विच्छेद होने पर जो अबद्धपर्यायें होती है उन सब पर्यायो को भी स्पृष्टद्रव्यपर्यायो के अन्तर्गत समझना चाहिये। क्योकि बद्धतारूप सयोग का विच्छेद हो जाने पर भी स्पृष्टतारूप सयोग तो वहा पर बना ही रहता है। इस प्रकार इन सब द्रव्यपर्यायो को स्वपरप्रत्यय पर्यायें मानने मे कोई बाधा उपस्थित नही होती है। बद्धजीवो और पुद्गलो की बद्धपर्यायो का विच्छेद होने पर जो पर्यायें होती हैं उन्हे यदि अबद्धपर्याय ही कहा जाय तो वह पर्याय भी स्वपरप्रत्यय ही है क्योकि उस पर्याय मे परद्रव्य के साथ पूर्व मे विद्यमान बद्धतारूप सयोग का विच्छेद निमित्तकारण होता है।

जीव का पुद्गल के साथ बद्धतारूप संयोग वास्तविक है

जीव का पुद्गलद्रव्य के साथ जो बद्धतारूप सयोग होता है वह वास्तविक है परन्तु प० फूलचन्द्रजी उसे अवास्तविक (उपचरित) मानते है जैसा कि उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट होता है।

"जीव की ससार और मुक्त अवस्था है ओर वह वास्तविक है इसमे सन्देह नही। पर इस आधार से कर्म और आत्मा के सश्लेप रूप सम्बन्ध को वास्तविक मानना उचित नही है। जीव का ससार उसकी पर्याय मे है और मुक्ति भी उसी की पर्याय मे ही है। ये वास्तविक हैं और कर्म तथा आत्मा का सश्लेप-सम्बन्ध उपचरित है। स्वय सश्लेप-सम्बन्ध यह शब्द ही जीव और कर्म के पृथक्-पृथक् होने का ख्यापन करता है। इसीलिए यथार्थ अर्थ का ख्यापन करते हुये शास्त्रकारो ने यह वचन कहा है कि जिस समय आत्मा शुभ भावरूप से परिणत होता है उस समय वह स्वय शुभ है, जिस समय अशुभ भाव रूप से परिणत होता है उस समय वह स्वय अशुभ है और जिस समय शुद्ध भावरूप से परिणत होता है उस समय वह स्वय शुद्ध है। यह कथन एक ही द्रव्य के आश्रय से किया गया है दो द्रव्यो के आश्रय से नहीं, इसलिए परमार्थभूत है और कर्मों के कारण जीव शुभ या अशुभ होता है और कर्मों का अभाव होने पर वह शुद्ध होता है यह कथन उपचरित होने से अपरमार्थभूत हैं, क्योकि जब दोनो द्रव्य स्वतन्त्र है और एक द्रव्य के गुण धर्म का दूसरे द्रव्य मे सक्रमण होता नही, तब एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य का कारणरूप गुण और दूसरे द्रव्य मे उसका कर्मरूप गुण कैसे रह सकता है ? अर्थात् नही रह सकता।"

(जैनतत्वमीमासा पृष्ठ १८-१९ विषय प्रवेश प्रकरण)

प० फूलचन्द्रजी का जो यह कथन मैंने उद्धृत किया है यदि उस पर ध्यान दिया जाय तो मालूम होगा कि उन्होंने उसमे जैनतत्त्वमीमासा पुस्तक की पूरी भूमिका बतलादी है।

लेकिन इसमे तथ्याश होते हुए भी मुझे मजबूर होकर यह कहना पडता है कि वस्तु तत्त्व का सही निर्णय करने के लिए यह कथन उपयोगी साधन नही है, क्योकि इसमे अधूरापन विद्यमान है। यही कारण है कि जैनतत्त्वमीमासा मे इसी के आधार पर एकागी दृष्टिकोण का प्रतिपादन होने के कारण वह स्वय मीमासा का विषय बन गई है।

मेरे इस कथन का तात्पर्य यह है कि प० फूलचन्द्रजी ने अपने उल्लिखित कथन मे जो यह कहा है कि जीव की ससार और मुक्ति दोनो अवस्थाये वास्तविक हैं तथा कर्म और आत्मा का सश्लेषरूप सम्बन्ध उपचरित है—इसमे उपचरित शब्द से दो अर्थो का ग्रहण हो सकता है एक तो यह कि कर्म और आत्मा कभी सश्लिष्ट ही नही होते इसलिए इन दोनो मे सश्लेष-सबन्ध का सद्भाव कल्पित है और दूसरा यह कि कर्म और आत्मा ये दोनो सश्लिष्ट तो होते हैं लेकिन यह सश्लेष दो आदि पदार्थों मे होने के कारण इसमे एकाश्रयता का अभाव रहता है इसलिए उपचरित शब्द से पुकारा जाता है।

इन दोनो अर्थों मे से प० जी को यदि पहला अर्थ अभीष्ट है तो इसमे निम्नलिखित आपत्तिया उपस्थित होती है—

(१) पहली आपत्ति यह है कि कर्म और आत्मा के सश्लेषरूप सम्बन्ध को कल्पित मानने से आगम का विरोध है क्योकि आगम मे कर्म और आत्मा के सश्लेषरूप सम्बन्ध को ऐसा उपचरित नही माना गया है कि वह असद्भावात्मक होकर बिल्कुल कल्पित हो। इस बात को मैं आचार्य अमृतचन्द्र की समयसार टीका के "न जातुरागादि निमित्तभावम्" इत्यादि कलशपद्य के आधार पर पहले ही बतला चुका हूँ। इस कलश

पद्य मे यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है कि आत्मा मे उत्पन्न होने वाले रागादि की उत्पत्ति कर्मरूप से परिणत पुद्-गल का आत्मा के साथ होने वाला सश्लेषरूपसम्बन्ध ही निमित्त है। इस तरह कहा जा सकता है कि कर्म और आत्मा का संश्लेपरूप सम्बन्ध वास्तविक (सद्भावात्मक) ही है अत उसे कल्पित (अभावात्मक) नही माना जा सकता है। स्वय आचार्य कुन्दकुन्द ने भी समयसार सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार मे सश्लेप सम्बन्ध को सद्भावात्मक ही स्वीकार किया है। यथा—

> "चेदा दु पयडियट्ठ उप्पज्जइ विणस्सदि।
> पयडीवि चेययट्ठ उप्पज्जदि विणस्सदि ॥३३२॥
> एव बधोदु दुण्हपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
> अप्पणो पयडीए य ससारो तेण जायदे ॥३३३॥

अर्थ—चेतयिता (आत्मा) प्रकृति (पुद्गलकर्म) का निमित्त पाकर उत्पन्न विनष्ट होता है और प्रकृति भी आत्मा का निमित्त पाकर उत्पन्न और विनष्ट होती है। इस तरह आत्मा और प्रकृति दोनो ही एक-दूसरे के साथ बन्ध (सश्लेषणरूप सम्बन्ध) को प्राप्त हो रहे हैं तथा इस बन्ध से ही आत्मा और प्रकृति का ससार निर्मित होता है।

इसी तरह के और भी बहुत से प्रमाण आगम ग्रन्थो मे मिलते हैं जिनसे उक्त बन्ध की सद्भावात्मकता ही सिद्ध होती है। इस तरह आगम का विरोध होने से प्रकृत मे उपचरित शब्द से कर्म और आत्मा के सश्लेषरूप सम्बन्ध को अभावात्मक स्वीकार करके उसका कल्पित सद्भाव मानना उचित नही है।

(२) दूसरी आपत्ति यह है कि कर्म और आत्मा के संश्लेपरूप सम्बन्ध को अभावात्मक स्वीकार करके उसका

कल्पित सद्भाव मानने से उसके निमित्त से होने वाली जीव की ससार अवस्था को तथा पुद्गल की कर्मरूप अवस्था को कल्पित (अभावात्मक) ही मानना होगा जब कि प० फूलचन्द जी जीव की ससार अवस्था को वास्तविक (सद्भावात्मक) स्वीकार कर चुके है। ससार अवस्था विभावरूप है स्वभावरूप नही है—यह बात निर्विवाद है।

(३) तीसरी आपत्ति यह है कि यदि कर्म और आत्मा का सश्लेषरूप सम्बन्ध सद्भावात्मक न होकर कल्पित (अभावात्मक) है तो इसी के समान दो आदि पुद्गल-परमाणुओ के परस्पर सश्लेषरूप सम्बन्ध को भी कल्पित (अभावात्मक) मानने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । ऐसी हालत मे विश्व के घटादि पदार्थों की प्रत्यक्ष सिद्ध स्कन्धरूपता को भी कल्पित रूप देना होगा, तब एक ओर तो घटादि वस्तुओ द्वारा जलाहरणादि क्रियाओ का सम्पन्न होना असम्भव हो जाने से प्राणियो के जीवनयापन की समस्याये जटिल हो जावेगी तथा दूसरी ओर घात-प्रतिघात की स्थिति समाप्त हो जाने से नदियो मे बाढ का आना, कही पर आग का लग जाना, बस व रेलगाडी आदि का गिर जाना आदि प्राणियो की सभी विपत्तियो के कारणो का एक साथ लोप हो जायगा जबकि ये सब बाते प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिए द्वयणुकादि स्कन्ध जिस प्रकार वास्तविक हैं उसी प्रकार कर्म तथा नोकर्म का आत्मा के साथ सश्लेषरूप सम्बन्ध भी वास्तविक (सद्भावात्मक) ही मानना उचित है कल्पित (अभावात्मक) नही ।

इस सब स्थिति को ध्यान मे रखते हुए उपचरित शब्द का प्रकृत मे कल्पित (अभावात्मक) अर्थ करना सङ्गत नही है।

अब यदि उपचरित शब्द का दूसरा अर्थ यह स्वीकार किया जाय कि कर्म और आत्मा ये दोनो परस्पर सश्लिष्ट तो है फिर भी यह सश्लेष चूँकि दो आदि पदार्थो मे ही होता है अत एकाश्रयता का अभाव रहने से इसे उपचरित माना गया है तो ऐसी उपचरितता को मानने मे कोई विरोध नही है क्योकि यह तो सभी मानते हैं कि बद्धता आत्मा का स्वत सिद्ध स्वभाव नही है किन्तु कर्म और आत्मा का जो एकमेक पनेरूप मेल हो रहा है उसी का नाम बद्धता है अत उसमे एकाश्रयता कैसे आ सकती है ? फिर भी वह पूर्वोक्त आगम प्रमाणों के आधार पर आत्मा को ससाररूप उस विकारी अवस्था निमित्त सिद्ध होती है जिसे प० फूलचन्द्रजी ने वास्तविक स्वीकार किया है। आगम के अलावा प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष और तर्क भी यह बतलाते है कि उपादान की स्वपरप्रत्यय कार्य परिणति मे निमित्त कारणभूत वस्तुओ का योगदान लेना आवश्यक होता है और ऐसा योगदान प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उपादान से होने वाली कार्योत्पत्ति के लिए लिया भी जाता है। प० फूलचन्द्रजी भी इससे परिचित हैं। इतना ही नही, वे स्वय उपादान की कार्य परिणति मे निमित्तभूत वस्तुओ का योगदान न लेते हो—यह बात नही है। वे अपनी जीवन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भोजन मे प्रवृत्त होते हैं, वस्त्र पहिनते हैं, रुपया-पैसा लेते-देते हैं और कही जाने के लिए वाहनो का भी उपयोग करते है। इस तरह उनके सामने भी कार्य सिद्धि मे निमित्तो की सार्थकता स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नही है।

यदि प० फूलचन्द्रजी यह कहते हैं कि कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्तो की उपस्थिति का निषेध वे नही करते हैं

केवल यह वतलाते हैं कि कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्त स्वयमेव मिल जाते है उन्हे जुटाना नही पडता है और तव उपादान भी अपने स्वकाल के अनुसार अपने आप (निमित्तो के सहयोग के बिना) कार्यरूप परिणत हो जाया करता है, तो इस विपय में मेरा कहना यह है कि निमित्तो को जुटाने न जुटाने की वात अलग है स्थान-स्थान उस पर तो आगे विचार किया जायगा, यहा पर सिर्फ इस बात पर विचार करना है कि उपादान निमित्त के सहयोग के बिना स्वपरप्रत्यय कार्यरूप परिणत हो सकता है क्या ? इस प्रश्न के समाधान के प्रसग में हमारे सामने उन घडो का दृष्टान्त उपस्थित हो जाता है जिनकी उत्पत्ति के लिए उपादानभूत मिट्टी का सद्भाव रहते हुए भी कुम्भकार के तदनुकूल व्यापार के अभाव मे वह मिट्टी अपना परिणमन घडो के रूप में करने मे असमर्थ रहा करती है तथा कुम्भकार की कुशलता और अकुशलता का तारतम्य उन घडो की सुन्दरता और असुन्दरता मे तारतम्य पैदा करता रहता है। इस तरह कार्यों और कारणो मे उपादानोपादेय-भाव की तरह यह प्रत्यक्ष सिद्ध निमित्त नैमित्तिक भाव की स्थिति रहते हुए भी जनसाधारण के लिए अनुपयोगी केवल ज्ञान की छाप लगाकर "जव जो होना होता है सो होता है" इत्यादि निमित्तों की अवहेलना करने वाला एकान्त रूप वचन का प्रयोग उचित नही है। केवलज्ञान द्वारा [illegible] की समस्त पर्यायो की त्रैकालिक अनुस्यूतता एव [illegible]
मे क्षणिक उपादान आदि की व्यवस्था किस
आगे प्रकाश डालूँगा, यहा पर तो प्र
चढाया जा रहा है।

लोक में देखा जाता है कि दो द्रव्य परस्पर बद्ध स्पृष्टतारूप संयोग को प्राप्त रहते हैं तो उन दोनों में से एक के गतिमान होने पर उसके साथ दूसरा भी गतिमान हो जाता है। जैसे एंजन के साथ जुड़े हुए रेलगाड़ी के डब्बे एंजन के चलने पर चल पड़ते हैं। तो जहां बद्धतारूप संयोग दो द्रव्यों में विद्यमान हो वहां एक द्रव्य की क्रिया का असर दूसरे द्रव्य पर पड़ना असम्भव नहीं है। यह बात दूसरी है कि बद्ध अथवा स्पृष्ट वस्तुओं में जो भी क्रिया होगी वह उनकी अपनी अपनी पृथक् पृथक् ही होगी, यह नहीं होगा कि दोनों मिल कर एक क्रिया करने लगेंगे। इस प्रकार यद्यपि यह ठीक है कि "एक द्रव्य के गुणधर्म का दूसरे द्रव्य में संक्रमण नहीं होता" इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा और कर्म का बद्धतारूप संयोग होने पर भी आत्मा की संसाररूप परिणति आत्मा में होगी और कर्म की अपनी उदयरूप परिणति कर्म में होगी, परन्तु जिस प्रकार एंजन की गति रेलगाड़ी के डब्बों की गतिक्रिया में सहायक रूप से कारण होती है उसी प्रकार कर्म की उदयरूप परिणति आत्मा की संसार रूप परिणति में सहायक रूप से कारण होती है।

इस प्रकार आत्मा की संसार रूप परिणति कर्मनिमित्तक होने पर भी चूंकि आत्मा की निजी परिणति है इसलिये यदि इस आधार पर उसे वास्तविक माना जाय और बद्धता चूंकि कर्म और आत्मा दो द्रव्यगत है इसलिये उसे अवास्तविक (उपचरित) माना जाय तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। परन्तु इस तरह से जीव की संसार अवस्था को वास्तविक (सद्भावात्मक) और बद्धता को अवास्तविक

(अभावात्मक) माना जाय तो यह मान्यता अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष एव युक्ति के विरुद्ध पडती है ।

यहा पर एक बात और ध्यान मे देने योग्य है कि आत्मा के ससार को वास्तविक और कर्म के साथ उसकी वद्धता को उपचरित मानने मे प० जी का लक्ष्य यह है कि वे आत्मा के ससार का कर्मवद्धता के साथ निमित्तनैमित्तिक भावरूप कार्यकारणभाव को कार्यकारी मानने के लिये तैयार नही है वे केवल उपादानोपादेय भावरूप कार्यकारणभाव के आधार पर ही आत्मा की ससार दशा और मुक्ति दशा की सस्थापना कर लेना चाहते है । यही सवव है कि उन्होने अपने उक्त कथन मे आगम के आधार पर यह लिखा है कि "जिस समय आत्मा शुभ भादरूप परिणत होता है उस समय वह स्वय शुभ है और जिस समय आत्मा अशुभ भावरूप परिणत होता है उस समय वह स्वय अशुभ है तथा जिस ससय आत्मा शुद्धभावरूप परिणत होता है उस समय वह स्वय शुद्ध है ।" प० जी के इस कथन के विषय मे मैं सिर्फ इतना कहना चाहता हूँ कि "जिस समय आत्मा शुभ भावरूप परिणत होता है उस समय वह स्वय शुभ है' इत्यादि कथन को तो सभी लोग सत्य मानते हैं परन्तु इस कथन मे सिर्फ इतनी बात वतलायी गयी है कि "आत्मा की शुभ भावरूप परिणति मे आत्मा शुभ होता है, अशुभ भावरूप परिणति मे अशुभ होता है और शुद्धभावरूप परिणति मे शुद्ध होता है" अव प्रश्न यह है कि ये परिणतिया आत्मा की किन कारणों से होती है ? तो इसके समाधान के लिये हमे आवश्यकतानुसार उपादान और निमित्त दोनो प्रकार के कारणो का प्रतिपादन करना जरूरी हो जायगा । इसलिये आगम के आधार पर किये गये "जिस समय आत्मा शुभ

भावरूप परिणत होता है उस समय वह स्वयं शुभ है" इत्यादि कथन का यह निष्कर्ष निकालना अयुक्त है कि "कार्य उपादान के बल पर ही उत्पन्न हो जाता है और निमित्त वहा अकिंचित्कर ही बना रहता है" अथवा यह निष्कर्ष निकालना अयुक्त है कि "कार्योत्पत्ति मे उपादान ही मुख्य हेतु है निमित्त तो गौणरूप से ही हेतु होता है" इतना अवश्य है कि कार्यरूप परिणति उपादान की ही होती है निमित्त की नही, वह तो वहा पर उपादान की कार्यरूप परिणति सहायक मात्र होता है अत इस दृष्टि से यदि उपादान को मुख्य और निमित्त को गौण माना जाता है तो फिर इसमे कोई विरोध की बात नही है । परन्तु कार्योत्पत्ति मे जहा तक उपादान और निमित्त के बलाबल का प्रश्न है तो यही कहा जायगा कि वस्तु मे कार्य की उपादान-शक्ति के अभाव मे जहा निमित्त कुछ नही कर सकता है वहा निमित्तो के अभाव मे भी उपादान शक्ति सुसुप्त ही रहा करती है। इस तरह अपने अपने ढग की शक्ति के धारक होने से उपादान और निमित्त दोनो ही शक्तिशाली है अर्थात् कार्यो-त्पत्ति मे दोनो ही एक दूसरे का मुख ताकने वाले है । इतना होने पर भी यह बात अवश्य है कि जहा उपादानपरक कथन की विवक्षा होती है वहा उपादान को मुख्यता मिल जाती है और जहा निमित्तपरक कथन की विवक्षा होती है वहा निमित्त को मुख्यता मिल जाती है तथा एक की मुख्यता होने पर दूसरा अपने आप गौण हो जाता है।

जिस प्रकार प० फूलचन्द्र जी ने जीव और कर्म के सश्लेप रूप सम्बन्ध को अपरमार्थभूत, अवास्तविक और उपचरित वतलाया है उसी प्रकार उन्होने दो आदि वस्तुओ मे पाये जाने वाले आधाराधेयभाव आदि सम्बन्धो को भी

अपरमार्थभूत, अवास्तविक और उपचरित बतलाने का प्रयत्न किया है। वे लिखते है—

"प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। इसमे उसके गुण और पर्याय भी इसी प्रकार स्वतन्त्र है—यह कथन आ ही जाता है। इसलिये विवक्षित किसी एक द्रव्य का या उसके गुणो और पर्यायो का अन्य द्रव्य या उसके गुणो और पर्यायों के साथ किसी प्रकार भी सम्बन्ध नही है। यह परमार्थ सत्य है। इसलिये एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ जो सयोग-सम्बन्ध या आधाराधेयभाव आदि कल्पित किया जाता है उसे अपरमार्थभूत ही जानना चाहिये। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये कटोरी मे रखा हुआ घी लीजिये। हम पूछते है कि उस घी का परमार्थभूत आधार क्या है ? कटोरी या घी ? आप कहोगे कि घी के समान कटोरी भी है तो हम पूछते हैं कि कटोरी को ओधा करने पर वह फिर गिर क्यो जाता है ?" जो जिसका वास्तविक आधार होता है उसका वह कभी त्याग नही करता "इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कटोरी भी घी का वास्तविक आधार है तो उसे (घी को) कटोरी को कभी भी नही छोडना चाहिये। परन्तु कटोरी को ओधा करने पर वह कटोरी को छोड ही देता है। इससे मालूम पडता है कि कटोरी घी का वास्तविक आधार नही है। उसका वास्तविक आधार तो घी है क्योकि वह उसे कभी नही छोडता। वह चाहे कटोरी मे रहे चाहे भूमि पर रहे या चाहे हवा मे विलीन हो जावे। वह रहेगा घी ही। यहा दृष्टान्त घी रूप पर्याय को द्रव्य मान कर दिया गया है, इसलिये घी रूप पर्याय बदल जाने पर वह बदल जाता है यह कथन प्रकृत मे लागू नही होता। यह एक उदाहरण है। इसी प्रकार कल्पित किये गये जितने भी सम्बन्ध है उन सब के विषय मे इसी दृष्टिकोण से विचार कर लेना

चाहिये। स्पष्ट है कि माने गये सम्वन्धो मे एकमात्र तादात्म्य सम्वन्ध ही परमार्थभूत है। इसके सिवा निमित्तादि की दृष्टि से अन्य जितने भो सम्वन्ध कल्पित किये गये है उन्हे उपचरित अतएव अपरमार्थभूत ही जानना चाहिये। वहुत से मनीषी यह मानकर कि इससे व्यवहार का लोप हो जायगा ऐसे कल्पित सम्वन्धो को परमार्थभूत मानने की चेष्टा करते हैं। परन्तु यही उनकी सवसे वडी भूल है, क्योंकि इस भूल के सुधारने से यदि उनके व्यवहार का लोप होकर परमार्थ की प्राप्ति होती है तो अच्छा ही है ऐसे व्यवहार का लोप भला किसे अभोष्ट नही होगा। इस ससारी जीव को स्वय निश्चय रूप वनने के लिये अपने अनादिकाल से चले आ रहे इस अज्ञानमूलक व्यवहार का ही तो लोप करना है। उसे और करना ही क्या है? वास्तव मे देखा जाय तो यही इसका परम (सम्यक्) पुरुषार्थ है, इसलिये व्यवहार का लोप हो जायगा इस भ्रान्तिवश परमार्थ से दूर रह कर व्यवहार को ही परमार्थभूत समझने की चेष्टा करना उचित नही है।"

(जैनतत्वमीमासा पृष्ठ १७-१८ विषय प्रवेश प्रकरण)

आगे इस पर विचार किया जाता है

जैन-सस्कृति की मान्यता यह है कि वही वस्तु द्रव्य सज्ञा को प्राप्त होती है जिसकी अपनी स्वत सिद्ध और प्रतिनियत स्वरूप सत्ता एव प्रदेश सत्ता हो, इसलिये यद्यपि प० फूलचन्द्र जी के इस कथन से मैं सहमत हू कि "प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है और इस प्रकार उसके गुण और पर्याय भी स्वतन्त्र है" परन्तु इससे उनका (प० फूलचन्द्र जी का) यह निष्कर्ष निकालना कि "इसलिये विवक्षित किसी एक द्रव्य का या उसके गुणो और पर्यायो का अन्य द्रव्य या उसके गुणो और पर्यायो के साथ किसी प्रकार

का भो सम्वन्ध नही है" सही नही है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य और गुणो तथा पर्यायो को स्वतन्त्रता के साथ दो आदि वस्तुओ मे पाये जाने वाले सयोग, आधाराधेयभाव, निमित्तनैमित्तिक भाव आदि सम्वन्धो का कुछ भी विरोध नहो है।

प्राय देखने मे आता है कि लोक व्यवहार मे प्रवृत जन जिस प्रकार दो आदि वस्तुओ एव उनके गुणो और पर्यायो को पृथक्-पृथक् अनुभव मे लाते हैं उसी प्रकार वे उनमे यथासम्भव विद्यमान सयोग, आधाराधेयभाव तथा निमित्तनैमित्तिक भाव आदि सम्बन्धो को भी सतत अनुभव मे लाते रहते है इसलिये जिस प्रकार लोक व्यवहार मे प्रवृत्त जनो के पहले प्रकार के अनुभव के आधार पर दो आदि वस्तुओ एव उनके गुणो और पर्यायो का पृथक्पना वास्तविक है उसी प्रकार उनके दूसरे प्रकार के अनुभव के आधार पर उन दो आदि वस्तुओ मे यथा सम्भव विद्यमान सयोग, आधाराधेयभाव तथा निमित्त-नैमित्तक सम्वन्ध आदि को भी वास्तविक ही समझना चाहिये'। यह बात दूसरी है कि तादात्म्य सम्वन्ध मे एकाश्रयता होने से वह जहा निश्चयनय का विपय है वहा सयोगादि सम्बन्धो मे अनेकाश्रयता होने से वह व्यवहारनय का विषय है । लेकिन व्यवहारनय का विपय कल्पित अर्थात् सर्वथा अभावात्मक है निश्चयनय का विपय ही सद् भावात्मक है ऐसा नही है। केवल दोनो मे इतना अन्तर है कि तादात्म्य सम्बन्ध निश्चयनय का विषय है इसलिये वह निश्चय रूप मे वास्तविक है और सयोगादि सम्वन्ध व्यवहारनय के विषय है इसलिये वे व्यवहार रूप मे वास्तविक है । जो लोग व्यवहारनय के विषय को कल्पित अर्थात् सर्वथा अभावात्मक मानते है वे भ्रम मे है तथा जो लोग व्यवहारनय के विषय को निश्चयनय का विषय मानते

है वे भी भ्रम मे है अर्थात् व्यवहार विमूढ है। जो लोग व्यवहार नय के विषय को सर्वथा अभावात्मक अर्थात् कल्पित न मानकर व्यवहार रूप मे सत्य मानते हैं वे सम्यग्ज्ञानी हैं। क्योकि व्यवहार का अर्थ वस्तु का भेदाश्रित अथवा पराश्रित स्थिति ही होती है सर्वथा अभावात्मक स्थिति व्यवहार शब्द का अर्थ नही हो सकता है जैसे गधे के सीग सर्वथा अभावात्मक होने से व्यवहार रूप नही हैं अतएव ही वे व्यवहारनय के विषय नही है लेकिन जीव का ससार स्वाभाविक न होकर वैभाविक है अर्थात् कर्मोदय जन्य होने से पराश्रित अर्थात् व्यवहार रूप है अतएव वह व्यवहारनय का विषय है। ऐसा तो नही है कि जीव को ससार रूप परिणति होनी ही नही है। स्वय प० फूलचन्द्र जी ने भी जीव की ससार अवस्था को वास्तविक स्वीकार किया है लेकिन इसका यदि वे यह अर्थ लेना चाहते हैं कि वह सर्वथा निश्चयनय का विषय है तो वे भ्रम मे हैं क्योकि जहा जीव की तदात्मक परिणति होने के कारण वह निश्चय नय का विषय है वही कर्मोदयजन्य होने से वह व्यवहारनय का भी विषय है। जैन-सस्कृति की अनेकान्तात्मक तत्त्व व्यवस्था को ध्यान मे रखकर ही प० फूलचन्द्रजी को प्रकृत विषय पर विचार करना चाहिये क्योकि तब कोई विरोध पैदा ही नही होगा।

जैन-सस्कृति मे आकाश द्रव्य को आधार तथा विश्व की अन्य सभी वस्तुओ को आधेय स्वीकार किया गया है। आकाश शब्द का पारिभाषिक और व्युत्पत्तिपरक अर्थ आधारता गर्भित है इसलिये कहना चाहिये कि जैन-सस्कृति मे जहा एक ओर आकाश द्रव्य को और उससे भिन्न अन्य सभी द्रव्यो को अपनी-अपनी स्वत सिद्ध और प्रतिनियत स्वरूप सत्ता एव

प्रदेश सत्ता की अपेक्षा पृथक्-पृथक् स्वीकार किया गया है वहा दूसरी ओर आकाश तथा अन्य सभी वस्तुओ मे विद्यमान आधाराधेयभाव की वास्तविकता को भी स्वीकार किया गया है। अब यदि दो आदि वस्तुओ मे यथासम्भव विद्यमान सयोग आधाराधेयभाव एव निमित्त नैमित्तिक आदि सम्वन्धो को को वास्तविक न मानकर केवल कल्पना का ही विषय मान लिया जाता है तो इस तरह आकाश द्रव्य के साथ विद्यमान विश्व की अन्य सभी वस्तुओ के आधाराधेयभाव रूप सम्बन्ध को भी केवल कल्पनामात्र का विषय मानने का प्रसग उपस्थित हो जायगा। ऐसी दशा मे आकाश द्रव्य की निरर्थकता सिद्ध हो जाने से वह भी कल्पना मात्र का विपय रह जायगा। इतना ही नहीं, आकाश की तरह निरर्थक बन जाने की यह समस्या धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य आर समस्त काल द्रव्यो के विपय मे भी खडी हो जायगी।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आकाश शब्द का पारिभाषिक और व्युत्पत्तिपरक अर्थ अपनी-अपनी प्रदेशसत्ता के अनुसार अवगाह्यमान विश्व के सभी द्रव्यो को अपने अन्दर समा लेना है उसी प्रकार धर्म शब्द का पारि-भापिक और व्युत्पत्तिपरक अर्थ स्थिति प्राप्त जीव और पुद्-गल द्रव्यो को अपने-अपने कारणो के आधार पर होने वाली उनकी गति परिणति मे अवलम्बन होना, अधर्म शब्द का पारि-भापिक और व्युत्पत्तिपरक अर्थ गति प्राप्त जीव और पुद्गल द्रव्यो को अपने-अपने कारणो के आधार पर होने वाली उनकी अवस्थिति मे अवलम्बन होना तथा काल शब्द का पारिभाषिक और व्युत्पत्तिपरक अर्थ विश्व के सभी पदार्थों मे स्वभावत एव कार्य कारणभाव के आधार पर ध्रौव्य तथा उत्पाद और व्यय

को स्थायीपनेरूप (सार्वकालिक) एव समय, आवलो, घडो, घण्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि के रूप मे अस्थायीपनेरूप वृत्तिता मे अवलम्बन होना है। इसलिये जिस प्रकार आकाश और विश्व के अन्य सभी पदार्थों से आधाराधेय-भाव का सद्भाव स्वीकार किया गया है उसी प्रकार धर्म द्रव्य का स्थिति प्राप्त जीव और पुद्गल द्रव्यो की गति परिणति के के साथ, अधर्म द्रव्य का गति प्राप्त जीव और पुद्गल द्रव्यो की अवस्थिति रूप परिणति के साथ तथा कालद्रव्य का विश्व के समस्त पदार्थों की स्थायापने और अस्थायीपनेरूप वृत्तिता के साथ अवलम्बन रूप से निमित्त नैमित्तिक भाव का भी सद्भाव स्वीकार किया गया है। इस तरह दो आदि वस्तुओ मे यथासम्भव विद्यमान, सयोग, आधाराधेयभाव एव निमित्त नैमित्तिकभाव रूप सम्बन्धो को वास्तविक न मानकर केवल कल्पनामात्र का विषय मान लेने से जैसे आकाश द्रव्य की निरर्थकता का प्रसग मैं ऊपर बतला चुका हूँ वैसे ही धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य और सम्पूर्ण काल द्रव्यो की निरर्थकता का भी प्रसग उपस्थित हो जायगा और तब आकाश द्रव्य की तरह धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा सम्पूर्ण काल द्रव्य ये सभी द्रव्य भी केवल कल्पना मात्र के ही विषय रह जावेगे।

इसी प्रकार आत्मा के स्वभाव ज्ञान और विश्व के अन्य सभी पदार्थों मे पाये जाने वाले ज्ञेयज्ञायक भाव अथवा प्रमाण-प्रमेयभाव रूप सम्बन्धो की भी सयोग, आधाराधेयभाव एव निमित्त नैमित्तिकभाव आदि सम्बन्धो की तरह द्वयाश्रितता की वजह से अवास्तविकता सिद्ध हो जाने पर एक तरफ तो प० फूलचन्द्रजी का यह लिखना है कि "जैन धर्म मे तत्त्वप्ररूपण का मुख्य आधार केवल ज्ञान है" (जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ २६०

केवल ज्ञान स्वभाव मीमासा प्रकरण) निरर्थक हो जायगा तथा दूसरी तरफ जैन-सस्कृति मे स्वीकृत सम्पूर्ण तत्त्वव्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जायगी। यह सब कुछ न हो, इसके लिए यदि आत्मा के ज्ञान और अन्य सभी पदार्थों मे विद्यमान ज्ञेय-ज्ञायक भाव तथा प्रमाणप्रमेयभाव आदि सम्वन्धो को पं० फूल-चन्द्रजी वास्तविक मान लेते है तो फिर दो आदि वस्तुओ मे यथा सम्भव पाये जाने वाले सयोग, आधाराधेयभाव तथा निमित्त नैमित्तिक भाव आदि सम्बन्धो की वास्तविकता को कैसे अस्वीकृत किया जा सकता है ? यह वात तो है कि तादा-त्म्य सम्वन्ध की निष्पत्ति एक वस्तु के आश्रय से होती है और अन्य सयोगादि सम्बन्धो की निष्पत्ति दो आदि वस्तुओ के आश्रय से हुआ करती है लेकिन इतने मात्र भेद के कारण एक को सद्भूत व वास्तविक और दूसरे को असद्भूत व अवास्तविक कह देना युक्ति सगत नही है दोनो ही अपने-अपने ढग से सद्भूत है और वास्तविक है। इसको वात अवश्य है एक की सद्भूतता और वास्तविकता मे एकाश्रयता रहने से निश्चयनय का विषय है और दूसरे की सद्भूतता और वास्तविकता मे अनेकाश्रयता रहने से व्यवहारनय का विपय है। कथन मात्र या कल्पना मात्र दोनो मे से कोई नही है।

शब्द और अर्थ मे वाच्यवाचक भाव रूप सम्बन्ध पाया जाता है लेकिन दोनो का यह सम्वन्ध यदि अवास्तविक है तो शब्दो द्वारा प्रतिपादन न हो सकने के कारण न कोई वक्ता रह जायगा और न कोई श्रोता रह जायगा इसी प्रकार न कोई लेखक रह जायगा न कोई पाठक रह जायगा। पाठक स्वय विचार करे।

प० फूलचन्द्र जी के जिस कथन का उद्धरण मैंने ऊपर दिया है उसमे उन्होने वतलाया है कि "एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ जो सयोग सम्बन्ध या आघाराधेय भाव कल्पित किया जाता है उसे अपरमार्थभूत ही जानना चाहिये" साथ ही इसकी पुष्टि के लिये वहा पर उन्होने कटोरी मे रक्खे हुए घी का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि घी का आधार घी ही है कटोरी उसका वास्तविक आघार नही है और इसमे उन्होने वही पर यह तर्क उपस्थित किया है कि यदि कटोरी घी का वास्तविक आघार है तो कटोरी को ओधा करने पर वह फिर गिर क्यो जाता है ?

प० फूलचन्द्र जी के इस कथन के सम्बन्ध मे मेरा कहना है कि लोक व्यवहार मे प्रवृत्तजन दो आदि वस्तुओ मे आधारा-धेय भाव की वास्तविकता (सद्भावात्मकता) को समझकर ही आवश्यकता पडने पर कटोरी मे घी रखने की चेष्टा करते है। इतना ही नही, कटोरी मे घी रखते समय घी के परिमाण के अनुरूप कटोरी के छोटे-वडे रूप पर भी उनका ध्यान दौड जाता है तथा इसके साथ ही उस समय वे घी को विकृति से वचाने के लिये कटोरी की प्रकृति व उसकी स्वच्छता आदि पर भी लक्ष्य रख लिया करते हैं। लेकिन इतना सव कुछ करते हुए भी उनके ध्यान मे यह वात रहा करतो है कि घी को कटोरी मे रख देने पर भी घी हमेशा घी ही वना रहता है वह कदापि कटोरी नही वन जाता है और कटोरी हमेशा कटोरी ही वनी रहती है वह कभी घी नही वन जाती है क्योकि घी और कटोरी दोनो वस्तुयें अपने स्वरूप और प्रदेशो की भिन्नता के कारण पृथक्-पृथक् ही हैं।

इस प्रकार घी और कटोरी के पृथक्-पृथक् अस्तित्व का ज्ञान रखते हुए भी लोक-व्यवहार मे प्रवृत्तजनो की घी को कटोरी मे बुद्धिपूर्वक रखने की प्रवृत्ति, घी के परिमाण के अनुरूप कटोरी मे छोटे-बडे रूप पर उनका बराबर लक्ष्य बना रहना और घी को विकृति से बचाने के लिए कटोरी की प्रकृति एव स्वच्छता की ओर उनका ध्यान जाना इत्यादि बातो से यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि दो आदि वस्तुओ मे दिखने वाले सयोग, आधाराधेयभाव और निमित्त नैमित्तिक भाव आदि विविध प्रकार के जो भी सम्बन्ध जब और जहाँ सम्भव हो, वे सब सबध वास्तविक (सद्भूत) ही माने जाने योग्य है कल्पित (असद्भूत) नही, तथा ऐसा मान लेने पर भी उन दो आदि वस्तुओ की एव उनके गुणो और पर्यायो की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने मे कोई बाधा उपस्थित नही होती है ।

दो आदि वस्तुओ की स्वरूपसत्ता और प्रदेशसत्ता को पृथक्-पृथक् मानते हुए भी उनमे यथायोग्य पाये जाने वाले सयोग, आधाराधेयभाव और निमित्त नैमित्तिकभाव आदि सम्बन्धो को वास्तविक (सद्भूत) मानने वाले व्यवहार मे प्रवृत्त जन प० फूलचन्द्र जी की दृष्टि मे भले ही अज्ञानी रहें, लेकिन लोक मे उन्हे अज्ञानी न मानकर तब तक ज्ञानी ही माना जाता है जब तक उनकी समझ और प्रवृत्ति मे लोक विरुद्धता और तत्त्व विरुद्धता नही पायी जाती है ।

तात्पर्य यह है कि अध्यात्म तथा लोक दोनो मे ज्ञानी और अज्ञानी कहलाने की समान स्वरूप मर्यादाये हैं। जैसे अपने प्रतिनियत स्वरूप और प्रदेशो की अपेक्षा पृथक-पृथक् विद्यमान कटोरी और घी मे आधाराधेयभाव रूप सम्बन्ध की

वास्तविकता (सद्भूतता) को समझता हुआ कोई व्यक्ति यदि घी को कटोरी मे रखता है तो उस व्यक्ति की इस चेष्टा को लोक मे मिथ्या नही माना जाता है। परन्तु वही या अन्य व्यक्ति 'कटोरी तो घी का वास्तविक आधार नही है कल्पित आधार है उसका वास्तविक आधार तो घी ही है" ऐसा समझकर कटोरी और घी के आधाराधेय सम्बन्ध की उपेक्षा करके यदि छोटी कटोरी मे अधिक घी रखने की चेष्टा करने लगे या घी से भरी हुई कटोरी को ओधा करदे तो ऐसे व्यक्ति को—भले ही वह अपने को आध्यात्मिक मान रहा हो—लोक मे पागल या मूर्ख ही मान जायगा। इतना ही नही, उक्त प्रकार की चेष्टा करता हुआ वह व्यक्ति घी को कटोरी से बाहर भूमि पर गिरता हुआ देखकर स्वय भी अपनी समझ और चेष्टा पर हँसे विना नही रहेगा। इसी प्रकार जिस कटोरी मे घी रखने से वह विकृत हो सकता है उसमे यदि कोई व्यक्ति घी रखने की चेष्टा करे तो उसे भी लोग अज्ञानी ही कहेगे।

इस प्रकरण मे दूसरा उदाहरण यह दिया जा सकता है कि टोपी शिर पर ही रक्खी जाती है और जूता पैर मे पहिना जाता है। अब यदि कोई व्यक्ति टोपी और शिर तथा जूता और पैर मे विद्यमान सम्बन्ध को कल्पनामात्र का विषय मानकर जूता को शिर पर रख ले और टोपी को पैर मे पहिन ले तो ऐसे व्यक्ति को लोक मे निर्विवादरूप से पागल ही कहा जायगा, क्योकि लोक मे टोपी से शिर की ही और टोपी से ही शिर की तथा जूता से पैर की ही और जूता से ही पैर की शोभा एव सुरक्षा का सम्बन्ध जुडा हुआ है। इतना ही नही, दाये पैर के जूता का सम्बन्ध दाये पैर से और बाये पैर के जूता का सबध बाये पैर से जुड़ा हुआ होने पर भी यदि कोई व्यक्ति बाये पैर के

जूता को दाये पैर में और दायें पेर के जूता को बाये पैर मे कदाचित् पहिन लेता है तो ऐसा करने पर एक तो उस व्यक्ति को अपने दोनो पैरो मे अटपटापन मालूम होगा, दूसरे दोनो ही जूते उस-उस पैर मे काटने लगेगे और तीसरे देखने वाले लोग उसे मूर्ख या पागल कहने लगेगे।

यह भी बात है कि प्रत्येक प्राणी के जीवन मे दो आदि वस्तुओ के सहारे से निष्पन्न सयोग, आधाराधेयभाव और निमित्त नैमित्तिकभाव आदि सम्वन्धो की आवश्यकता सदा ही वनी रहतो है क्योकि उनकी सभी जीवन प्रवृत्तियाँ उक्त सम्बन्धो के आधार पर ही चला करती हैं। इसलिये इस विषय मे यदि उदाहरणो का ताँता बाँधा जाय तो उसका कही अन्त नही होगा, फिर भी कुछ उदाहरणो द्वारा मै यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उक्त सम्बन्ध अज्ञानी जीवो की कल्पनामात्र न होकर वास्तविक ही है।

जैसे प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के सरक्षण एव क्षुधा जन्य कष्ट के निवारण के लिए बुद्धिपूर्वक भोजन मे प्रवृत्ति करता है, भोजन थाली आदि आधारभूत वस्तु मे रखकर ही किया जाता है, थाली आदि की स्वच्छता पर भी भोजन करने वाले व्यक्ति का ध्यान रहा करता है, विवेकीजन भोजन की शुद्धि-अशुद्धि का विचार कर ही भोजन किया करते है और इस तरह वे अशुद्धि पैदा करने वाले निमित्तो से भोजन का बचाव करना तथा शुद्धि पैदा करने वाले निमित्तो को जुटाना आदि प्रवृत्तियो को अपने परम कर्तव्यो मे समाविष्ट कर लिया करते है। रसोई बनाने वाला व्यक्ति भोजन की प्रक्रिया मे आटे को परात मे बुद्धिपूर्वक रखकर ही गूँदता है दाल तथा चावल

आदि को बुद्धिपूर्वक ही पानी मे धोकर पकाने की दृष्टि से आवश्यक पानी से भरी हुई बटलोई मे रखकर आग जलते चूल्हे पर चढाता है, भोजन को स्वादिष्ट बनाने की दृष्टि से वह उसमे नमक आदि का आवश्यकतानुसार उपयोग करने का भी बुद्धिपूर्वक ध्यान रखता है, शीत आदि से बचाव के लिए कपडे बुद्धिपूर्वक ही पहिने जाते है, रोग दूर करने के लिये औषधियो का निर्माण व सेवन बुद्धिपूर्वक ही किया जाता है, कही पर जल्दी पहुँचने की दृष्टि से यथायोग्य रेलगाडी, मोटर, हवाई जहाज आदि का बुद्धिपूर्वक ही उपयोग किया जाता है, अजीविका सचालन के लिए एक व्यक्ति व्यापार करता है, दूसरा नौकरी करता है, तीसरा कृषि करता है और चौथा विविध प्रकार की कलाओ मे से किसी कला को अपनाता है। ये भिन्न-भिन्न तरीके बुद्धिपूर्वक ही लोक मे अपनाये जाते हैं तथा साधनो की अनुकूलता या प्रतिकूलता होने पर प्राणियो को उसमे क्रमश सफलता या असफलता भी प्राप्त होती है और इस तरह वे यथायोग्य सफलता मिलने पर सुखी तथा असफलता मिलने पर दुखी होते देखे जाते है। इसी तरह कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने लोकहित भावना की दृष्टि से ही समयसार आदि ग्रन्थो की बुद्धिपूर्वक रचना की है और इसी तरह प० फूलचन्द्रजी ने भी जैनतत्त्वमीमासा अपनी दृष्टि से लोगो को जैन-सस्कृति का सही ज्ञान कराने के लिए बुद्धिपूर्वक ही लिखी है।

इन उदाहरणो से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि दो आदि वस्तुओ मे पाये जाने वाले सयोगादि सभी सम्बन्ध कल्पित न होकर वास्तविक ही है। विचार कर देखा जाय तो यही स्थिति अध्यात्म मे भी मिलेगी।

समयसार गाथा १४ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र ने

एक पदार्थ के साथ दूसरे पदार्थ के दृश्यमान स्पर्श आदि सयोगो को भूलार्थ ही प्रतिपादित किया है। यथा—

यथा खलु विसनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्व-पर्यायेणानुभूयमानताया सलिलस्पृष्टत्व भूतार्थमपि एकान्तत सलिलास्पृश्य विसनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।

इसमे यह बात झलकती है कि जल मे विद्यमान कमल-पत्र का जल के साथ दृश्यमान स्पर्श यद्यपि कमलपत्र का स्वत-सिद्ध प्रतिनियत स्वभाव नही है फिर भी जल मे डूबा हुआ तो वह है ही। अत उसका वह जल मे डूबा हुआ रहना भूतार्थ ही है।

आगे भी वे इस प्रकार लिखते हैं कि "यथा चापा सप्तार्चि प्रत्ययौष्ठय समाहितत्त्व पर्यायेणानुभूयमानताया सयुक्त-त्व भूतार्थमपि एकान्तत शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायाम-भूतार्थम्।"

इसमे भी यह बात झलकती है कि अग्नि के साथ सयोग को प्राप्त जल की उष्णता यद्यपि जल का स्वत सिद्ध प्रतिनियत स्वभाव नही है उसका स्वत सिद्ध प्रतिनियत स्वभाव तो शीतता ही है फिर भी अग्नि के साथ उसका सयोग तो है ही। अत वह भी भूतार्थ ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त दोनो उदाहरण उस प्रकरण मे दिये हैं जहा आत्मा के स्वत सिद्ध प्रतिनियत चैतन्यस्वभाव का वर्णन किया है। अर्थात् वे यह कहना चाहते है कि यद्यपि आत्मा अनादिकाल से पुद्गल कर्म और नोकर्म के साथ स्पृष्ट एव बद्ध होकर चला आ रहा है यह नही समझना चाहिये कि वह उनके साथ स्पृष्ट एव बद्ध नही है, परन्तु इतना अवश्य है कि वह स्पृष्टता एव बद्धता उसका (आत्मा का) स्वत सिद्ध

प्रतिनियत स्वभाव नही है उसका स्वत सिद्ध प्रतिनियत स्वभाव तो चैतन्य भाव ही है।

इस प्रकार उक्त दृष्टान्तो, समयसार टीका के कथन। तथा इसी प्रकार के अन्य प्रकरणो व ग्रन्थो के विवेचनो से यही सिद्ध होता है कि एक वस्तु के साथ दृश्यमान सयोग, आधाराधेयभाव तथा निमित्तनैमित्तिकभाव आदि सम्बन्ध स्वत.सिद्ध प्रतिनियत रूप मे भूतार्थ न होते हुए भी सद्भावात्मक रूप मे भूतार्थ ही है कल्पना मात्र नही है। केवल इतना अवश्य है कि वे स्वाश्रित न होकर पराश्रित ही है। एक बात और है कि लोक व्यवहार मे प्रवृत्त जनो का समस्त लोक व्यवहार पराश्रित होने के कारण यदि केवल कल्पित मान लिया जाय उसमे कुछ भी सद्रूपता न मानी जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि अपनी-अपनी रुचि, आवश्यकता और परिस्थितिवश लोक व्यवहार मे प्रवृत्त रहने वाले प्रथम गुणस्थान से षष्ठ गुणस्थान तक के जीवो की उन प्रवृत्तियो को असद्भूत ही मानना होगा, ऐसी हालत मे लोक मे मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का, विरत, अविरत और देशविरत का, मूर्ख और विद्वान का, विक्षिप्त और अविक्षिप्त का, धर्मात्मा और अधर्मात्मा का तथा पुण्यात्मा और पापात्मा का जीवो मे पाया जाने वाला भेद समाप्त ही हो जायगा। इसी तरह प्रथम गुणस्थान से द्वादश गुणस्थान तक के ससारी जीवो के ज्ञान-दर्शन स्वभाव का जो उपयोगाकार परिणमन होता है उसमे उन्हे यथायोग्य पौद्गलिक हृदय, मस्तिष्क, तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्णरूप इन्द्रियो व बाह्य प्रकाशादिक की जो अपेक्षा रहा करती है एव त्रयोदश गुणस्थान मे जीवो की योगप्रवृत्ति मे जो मन, वचन और काय की अपेक्षा रहा करती

है व चतुर्दश गुणस्थान मे जहा आत्म स्वभाव की पूर्णता के साथ योग प्रवृत्ति का पूर्णत अभाव भी हो चुका है—अघाती कर्मों और नोकर्मों का बद्धतारूप सयोग जो जीव को ससारी बनाये हुए है इन सब को या तो कथचित् मानना होगा अथवा इनके आधार पर सयोग, आधाराधेयभाव व निमित्तनैमित्तिक-भाव आदि नयाश्रित सम्बन्धो को भी कथचित् सद्भूत ही मानना होगा। इनमे से कौनसी मान्यता सत्य है इसका निर्णय पाठक स्वय कर सकते हैं इस विषय मे अब अधिक विवेचन की आवश्यकता नही रह गयी है।

ऊपर उद्धृत प० फूलचन्द्र जी के कथन मे जो यह लिखा है कि "जो जिसका वास्तविक आधार होता है वह उसका कभी भी त्याग नही करता। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कटोरी घी का वास्तविक आधार है तो उसे कटोरी को कभी नही छोडना चाहिये परन्तु कटोरी को ओधा करने पर वह कटोरी को छोड ही देता है। इससे मालूम पडता है कि कटोरी घी का वास्तविक आधार नही है उसका वास्तविक आधार तो घी ही है क्योकि वह उसे कभी नही छोडता।"

प० जी के इस कथन पर मैं यह कहना चाहता हू कि चूकि कटोरी घी का वास्तविक आधार है इसलिये ही कटोरी को ओधा करने पर घी उसे छोड देता है। लेकिन प० जी के मतानुसार यदि कटोरी घी का वास्तविक आधार नही है तो कटोरी को सीधा रखने पर भी उसमे से घी गिर क्यो नही जाता है? अथवा कटोरी को ओधा करने पर वह घी गिर क्यो जाता है? जबकि कटोरी को सीधा रखने पर वह नही गिरता है। प० फूलचन्द्र जी के पास इस प्रश्न का कोई युक्ति सगत समाधान नही है क्योकि वे कटोरी और घी मे विद्यमान

आधाराधेयभाव को कल्पित ही मानते हैं। आगम के अनुसार तो उसका समाधान यह है कि चूकि कटोरी घी का वास्तविक आधार है इसलिये उसे जब तक कटोरी का सहारा मिल रहा है तब तक वह नही गिरता और जब उसे कटोरी का सहारा नही मिलता तब वह गिर जाता है।

घी का घी के साथ जो आधाराधेयभाव है वह भी वास्तविक है और घी का कटोरी के साथ जो आधाराधेयभाव है वह भी वास्तविक है तो इन दोनो प्रकार के आधाराधेयभावो मे फिर अन्तर ही क्या रह जाता है ?—यदि कोई ऐसा प्रश्न करे तो इसका समाधान यह है कि आधाराधेयभाव तो दोनो ही वास्तविक है परन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि घी का घी के साथ जो आधाराधेयभाव है वह स्वाश्रित अर्थात् तादात्म्य को लिये हुए है और वह स्थायी है जब कि घी का कटोरी के साथ जो आधाराधेयभाव है वह पराश्रित अर्थात् पदार्थद्वयसयोगजन्य है और वह स्थायी भी नही है अर्थात् नष्ट होने वाला है। इस तरह यह निर्णीत हो जाता है कि जिस प्रकार घी का घी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध के आधार पर निर्मित आधाराधेयभाव वास्तविक है उसी प्रकार घी का कटोरी के साथ सयोग सम्बन्ध के आधार पर निर्मित आधाराधेयभाव भी वास्तविक ही है गधे के सीग की तरह कल्पित नही है।

दूसरी बात यह है कि प० फूलचन्द्र जी को "जो जिसका वास्तविक आधार है वह उसका कभी त्याग नही करता" यह सिद्धान्त यदि मान्य है तो फिर आकाश द्रव्य भी अपने से भिन्न अन्य सभी वस्तुओ का वास्तविक आधार सिद्ध हो जाता है क्योकि विश्व की कोई भी वस्तु कभी आकाश को नही छोडती है। लेकिन इस तरह प० जी द्वारा आकाश को विश्व की सभी

वस्तुओ का वास्तविक आधार मान लिये जाने पर उनकी यह मान्यता ही समाप्त हो जायगी कि "एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ जो सयोग सम्बन्ध या आधाराधेयभाव कल्पित किया जाता है उसे अपरमार्थभूत ही जानना चाहिये।"

यहा यह बात अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिये कि प० फूलचन्द्र जी अपरमार्थभूत का अर्थ कल्पित ही करते है। लेकिन यदि वे अपरमार्थभूत का अर्थ पराश्रितरूप कर लेते है तब कोई विरोध नही रह जाता है। इतना अवश्य है कि इस तरह पराश्रित सयोगादि सम्बन्धो की वास्तविकता सिद्ध हो जाती है जो उन्हे अभीष्ट नही है।

प० फूलचन्द्र जी दो आदि वस्तुओ के आश्रय से सत्ता प्राप्त सयोग, आधाराधेयभाव और निमित्तनैमित्तिकभाव आदि सम्बन्धो को केवल कल्पना का विषय मान कर एक वस्तु के आश्रय से सत्ता प्राप्त तादात्म्य सम्बन्ध को ही वास्तविक मानने का आग्रह करते है जैसा कि उन्होने लिखा है—"माने गये सम्बन्धो मे एक मात्र तादात्म्य सम्बन्ध ही परमार्थभूत है इसके सिवा निमित्तादि की दृष्टि से अन्य जितने भी सम्बन्ध कल्पित किये गये है उन्हे उपचरित अतएव अपरमार्थभूत ही जानना चाहिये।"

प० जी इस कथन द्वारा घी का घी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करके "घी का आधार घी ही है" ऐसा मान रहे हैं, परन्तु इसमे विचारणीय बात यह है कि जब घी स्वय एक अखण्ड वस्तु है तो उसमे तादात्म्य सम्बन्ध भी कैसे बन सकता है ? क्योकि कोई भी सम्बन्ध, फिर भले ही वह तादात्म्य ही क्यो न हो, भेद के आधार पर ही बनता है। दो आदि वस्तुओ मे जिन सम्बन्धो को स्वीकार किया गया है

आधाराधेयभाव को कल्पित ही मान
तो उसका समाधान यह है कि चूंकि
आधार है इसलिये उसे जब तक क
है तब तक वह नही गिरता और ज
नही मिलता तब वह गिर जाता है।

घी का घी के साथ जो
वास्तविक है और घी का कटोरी के
है वह भी वास्तविक है तो इन दोन
मे फिर अन्तर ही क्या रह जाता है
करे तो इसका समाधान यह है कि
ही वास्तविक हैं परन्तु दोनो मे अ
साथ जो आधाराधेयभाव है वह स्व
लिये हुए है और वह स्थायी है ज
जो आधाराधेयभाव है वह पराश्रि
है और वह स्थायी भी नही है अ
तरह यह निर्णीत हो जाता है कि
साथ तादात्म्य सम्बन्ध के आधार
वास्तविक है उसी प्रकार घी का क
के आधार पर निर्मित आधाराधेय
गधे के सीग की तरह कल्पित नही

दूसरी बात यह है कि प० पू
वास्तविक आधार है वह उसका व
सिद्धान्त यदि मान्य है तो फिर आ
अन्य सभी वस्तुओ का वास्तविक
क्योकि विश्व की कोई भी वस्तु क
है। लेकिन इस तरह प० जी द्वारा

अभेद दृष्टि रहा करती है तब तक वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना भी अयुक्त है। तात्पर्य यह है कि तादात्म्य सम्वन्ध अभिन्न एक वस्तु मे हमे भेद का दर्शन कराने वाला है। यही कारण है कि तादात्म्य का अर्थ आगम मे भेदाभेद ही स्वीकार किया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकल आता है कि तादात्म्य और सयोगादि सम्बन्ध भेद परक ही सिद्ध होते है और जब तादात्म्य सम्वन्ध सयोगादि सम्बन्धो की तरह भेदपरक ही सिद्ध होता है तब तादात्म्य सम्वन्ध ही वास्तविक है सयोगादि सम्बन्ध वास्तविक नही है कल्पित ही है—ऐसा मानना अयुक्त ही है। इतना अवश्य है जहाँ तादात्म्य सम्वन्ध अखण्ड एक वस्तु मे स्वरूप और स्वरूपवान का तथा प्रदेश का प्रदेशवान का भेद करने पर निष्पन्न होता है वहाँ सयोगादि सम्बन्ध स्वभावत: प्रथग्भूत दो आदि वस्तुओ मे निष्पन्न होते है अर्थात् तादात्म्य जहाँ अभेद मे भेद का दर्शन कराता है वहाँ सयोगादि भेद मे अभेद के दर्शन कराते है।

यद्यपि समयसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थो मे एक तादात्म्य सम्बन्ध को छोडकर शेष दो आदि वस्तुओ के आश्रय से निष्पन्न सयोगादि सम्वन्धो का निषेध किया है परन्तु जहाँ जिन आध्यात्मिक ग्रन्थो मे उक्त सयोगादि सम्बन्धो का निषेध किया है वहा उन्ही आध्यात्मिक ग्रन्थो मे उन सयोगादि सम्वन्धो की सत्ता भी स्वीकार की गई है उन्हे कल्पित नही माना गया है जैसा कि प० फूलचन्द्र जी मानना चाहते है। इसलिए विचारणीय बात केवल इतनी ही है कि आध्यात्मिक ग्रन्थो मे क्यो तो सयोगादि सम्वन्धो का निषेध किया है और क्यो उन्हे स्वीकार किया है ? और इस पर विचार करने से यह बात समझ मे आ जाती है कि समयसार आदि आध्यात्मिक

वहा तो भेद के दर्शन स्पष्ट होते है, परन्तु एक ही वस्तु मे जो तादात्म्य सम्बन्ध जैनागम मे स्वीकार किया गया है उसका आधार भी उस वस्तु मे स्वरूप और स्वरूपवान तथा प्रदेश और प्रदेशवान के भेद की स्वीकृति ही है।

इस कथन से यह निष्कर्ष निकला कि घी का तादात्म्य घी के साथ न होकर उसके स्वरूप अथवा प्रदेशो के साथ ही है। "क्व भवानास्ते ? स्वात्मनि" इत्यादि स्थानो पर भी स्वात्मा का अर्थ उसका अपना स्वरूप अथवा उसके अपने प्रदेश ही ग्रहण किये गये हैं। इस तरह "आप कहा रह रहे हैं ?" इस प्रश्न का भेदपरक यही समाधान उपयुक्त माना गया है कि "हम अपने स्वरूप अथवा प्रदेशो मे ही रह रहे हैं" अभेदपरक यह समाधान उपयुक्त नही है कि "हम हमो मे रह रहे हैं।" क्योकि अभिन्न एक वस्तु मे आधार और आधेय इन दो अवस्थाओ की स्थिति बिना भेदस्थिति को स्वीकार किये नही बनती है। इसका कारण यह है कि जो आधार है वह आधेय नही है और जो आधेय है वह आधार नही है। तथा यह बात निश्चित है कि उक्त तादात्म्य सम्बन्ध मे भी आधाराधेयभाव का बोध होता है। इसलिये प० फूलचन्द्रजी का यह कथन कि "घी का वास्तविक आधार घी ही है" इसी रूप मे सगत होता है कि घी का वास्तविक आधार उसका स्वरूप अथवा उसके प्रदेश ही हैं।

इस तरह यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि एक वस्तु मे भी जब स्वरूप और स्वरूपवान का अथवा प्रदेश और प्रदेशवान का भेद विवक्षित होता है तभी वहाँ पर तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना होती है। इसके अतिरिक्त जब तक उसमे

है। इसलिए प० फूलचन्द्रजी ने केवल तादात्म्य सम्वन्ध को ही वास्तविक बतलाते हुए शेष दो आदि वस्तुओ के आश्रय से निष्पन्न सयोगादि सम्बन्धो को जो अवास्तविक बतलाया है वह असत्य ही है।

वात वास्तव मे यह है कि आत्मा नाम की अनादि-निधन, स्वत सिद्ध प्रतिनियत चैतन्य स्वभाव वाली वस्तु का अनादिकाल से पुद्गल नाम की अन्य अचेतन्य स्वभाव वाली वस्तु के परिणमन ज्ञानावरणादि कर्मों और शरीरादि नोकर्मों के साथ बद्ध (मिला हुआ) एकत्व चला आ रहा है लेकिन आत्मा और कर्म तथा नोकर्म का यह मिला हुआ एकत्व सद्भूत होते हुए भी आत्मा का स्वत सिद्ध निजी एकत्व नही है। अब यह वात है कि अज्ञानीजनो को इस मिले हुए एकत्व मे मिलावट के दर्शन न होकर अखण्ड एकत्व के ही दर्शन हो रहे हैं। अर्थात् अनादिनिधन स्वत सिद्ध प्रतिनियत उक्त स्वभाव वाले अखण्ड आत्मा के दर्शन उन अज्ञानी जीवो को उस मिले हुए एकत्व से पृथक् रूप मे नही हो रहे है अत समय-सार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थो मे उन अज्ञानी जीवो के सबोध-नार्थ यह प्रयास किया गया है कि भो ! ससारी प्राणियो ! तुम्हे अपनी इस कर्म और नोकर्म रूप पुद्गलो के साथ विद्यमान मिलावट मे ही जो अनादिकाल से निजी एकत्व का दर्शन हो रहा है अर्थात् उसे तुम जो अपना स्वरूप समझ बैठे हो, वह तुम्हारा भ्रम है उसे तुम अपना निजी स्वत सिद्ध प्रतिनियत स्वरूप नही समझो, तुम्हारी यह स्थिति तो कर्म तथा नोकर्मरूप पुद्गल द्रव्य के सयोग से वन रही है, इसे अपनी स्वतन्त्र स्वरूप स्थिति समझना मिथ्या है, तुम्हारा अपना स्वत सिद्ध

ग्रन्थो मे एक तादात्म्य सम्बन्ध के अलावा सयोगादि सम्बन्धो का जो निषेध किया है उसका कारण यह है कि कोई भी वस्तु उसी हालत मे स्वतन्त्र रूप से वस्तु मानी जा सकती है जबकि उसका स्वत सिद्ध अनादिनिधन प्रतिनियत अस्तित्व हो, इसलिए जब हम दूसरी वस्तुओ से सयुक्त अथवा असयुक्त किसी भी वस्तु के निजी अस्तित्व की सिद्धि करना चाहते हैं तो यह सिद्धि एक तादात्म्य सम्बन्ध के आधार पर ही हो सकती है सयोगादि सम्बन्धो के आधार पर नही, क्योंकि सयोगादि सम्बन्ध अपने आप मे वास्तविक होते हुए भी किसी भी वस्तु के निजी वस्तुत्व की सिद्धि मे सहायक नही होते हैं और इसका भी कारण यह है कि सयोगादि सम्बन्ध पहले से ही स्वतन्त्ररूप से सिद्ध वस्तुओ मे ही हुआ करते है। समयसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थो मे सयोगादि सम्बन्धो का निषेध इसी दृष्टि से किया गया है, ऐसा नही समझना चाहिये कि सयोगादि सम्बन्ध सर्वथा कल्पित ही हैं। क्योंकि समयसार ग्रथ के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार के सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार मे "चेया दु पयडीयत्थ" इत्यादि गाथाओ द्वारा स्वय ही आत्मा और प्रकृति (पुद्गल) दोनो का ससारोत्पत्ति का कारणभूत बन्ध स्वीकार किया है। दो आदि पुद्गल परमाणुओ का स्कन्धरूप परिणमन यदि उनका एक क्षेत्रावगाह रूप सयोग नही है तो फिर क्या है ? इसी प्रकार दूध और जल का तथा सोना और चाँदी का एक क्षेत्रवगाहरूप सयोग प्रत्यक्ष ही देखने मे आता है। इस प्रकार जिस तरह एक ही वस्तु मे स्वरूप और स्वरूपवान का तथा प्रदेश और प्रदेशवान का भेद करके तादात्म्य सम्बन्ध की सत्ता सिद्ध होती है उसी तरह दो आदि स्वतन्त्र वस्तुओ मे भी सयोगादि सम्बन्धो की सत्ता सिद्ध होती

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
अण्णं ज परदव्व सच्चित्ताचित्त मिस्सं वा ॥२५॥
आसि मम पुव्वमेद अहमेद चावि पुव्वकालह्मि ।
होहिदि पुणोवि मज्झ अहमेद चावि होस्सामि ॥२६॥
एव तु असभूदं आदवियप्पं करेदि समूढो ।
भूदत्थ जाणन्तो ण करेदि दु त असमूढ़ो ॥२७॥
अण्णाणमोहिदमदो मज्झमिण भणदि पुग्गल दव्व ।
बद्धमबद्ध च तहा जीवो बहुभाव सजुत्तो ।.२८॥
सवण्हुणाणादिट्ठो जीवो उवओगलक्खणोणिच्च ।
कह सो पुग्गलदव्वो भूदो ज भणसि मज्झमिण ॥२९॥
जदि सो पुग्गलदव्वी भूदो जीवत्तमागद इदर ।
तो सक्का वुत्तु जे मज्झमिण पुग्गल दव्व ॥३०॥

इन गाथाओ का भाव यह है कि जो जोव अपने से भिन्न जितना भी सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त (मिश्र) पदार्थ समूह है उसके साथ 'मैं यह हूँ', 'यह मैं हूँ', 'ये मेरा है', 'मैं इसका हूँ' इस प्रकार वर्तमान रूप और इसी प्रकार भूत तथा भविष्यद्रूप असत्य विकल्प करता रहता है वह अज्ञानी है और जो अपनी तथा पर की वास्तविक (स्वतन्त्र) स्वरूप स्थिति को समझ लेता है वह ज्ञानी है। जब तक जीव की बुद्धि मोहकर्म से आच्छादित रहती है तब तक ही वह बद्ध तथा अबद्ध पुद्गल द्रव्य मे अहभाव और ममभाव किया करता है। चूँकि सर्वज्ञ के ज्ञान मे जीव नित्य उपयोग स्वरूप ही प्रतिभासित हुआ है अत वह पुद्गल द्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? यदि जीव पुद्गल द्रव्यरूप हो जाता व पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य रूप हो जाता तो कहा जा सकता था कि पुद्गल द्रव्य मेरा है।

प्रतिनियत ज्ञायकत्वरूप स्वभाव इससे पृथक् ही है। इस प्रकार आत्मा और पौद्गलिक कर्म तथा नोकर्म की मिलावट से वने हुए एकत्व मे भी अपने पृथक् एकत्व का ज्ञान अज्ञानीजनो को करा देना ही समयसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थो का उद्देश्य है क्योकि जव तक अज्ञानीजन इस मिलावट को मिलावट नही समझकर अखण्ड एकरूपता ही इसमे समझते रहेगे तव तक वे अपने कल्याण मार्ग मे अग्रसर नही हो सकते है। समयसार की निम्नलिखित गाथाये इसी अभिप्राय को प्रगट करती हैं।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगवन्धकहा।
एयत्तस्सुवलम्भो णवरि ण सलभो विहत्तस्स ॥४॥
त एयत्तविभत्त दाएह अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाण चुविकज्ज छल ण घित्तव्व ॥५॥

इन गाथाओ का भाव यह है कि ससारी प्राणी अपने इस कर्म-नोकर्म की मिलावट से वने एकत्र मे अनादिकाल से रम रहे हैं इसलिये आचार्य कहते है कि आत्मा के स्वतन्त्र एकत्व का उन्हे भान करा देना ही इस ग्रन्थ-निर्माण मे मेरा उद्देश्य है। इसके आगे अज्ञानी का लक्षण समयसार मे निम्न प्रकार वतलाया है—

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहक च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिवुद्धो हवदि ताव ॥२२॥

अर्थ—जव तक जीव कर्म और नोकर्म मे अपना और अपने मे कर्म और नोकर्म का रूप देखता रहता है तव तक वह अज्ञानी है।

इसके आगे समयसार मे ही ज्ञानी और अज्ञानी का भेद निम्न वतलाया गया है—

अहमेदं एदमह अहमेदस्सेव होमि मम एद।
अण्ण ज परदव्व सचित्ताचित्त मिस्स वा ।।२५।।
आसि मम पुव्वमेद अहमेद चावि पुव्वकालह्मि।
होहिदि पुणोवि मज्झ अहमेद चावि होस्सामि ।।२६।।
एव तु असभूदं आदवियप्प करेदि समूढ़ो।
भूदत्थ जाणन्तो ण करेदि दु त असमूढो ।।२७।।
अण्णाणमोहिदमदो मज्झमिण भणदि पुग्गल दव्व।
बद्धमबद्ध च तहा जीवो बहुभाव सजुत्तो ।।२८।।
सवण्हुणाणादिट्ठो जीवो उवओगलक्खणोणिच्च।
कह सो पुग्गलदव्वी भूदो ज भणसि मज्झमिण ।।२९।।
जदि सो पुग्गलदव्वी भूदो जीवत्तमागद इदर।
तो सक्का वुत्तु जे मज्झमिण पुग्गल दव्व ।।३०।।

इन गाथाओ का भाव यह है कि जो जीव अपने से भिन्न जितना भी सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त (मिश्र) पदार्थ समूह है उसके साथ 'मै यह हूँ', 'यह मैं हूँ', 'ये मेरा है', 'मैं इसका हूँ' इस प्रकार वर्तमान रूप और इसी प्रकार भूत तथा भविष्यद्रूप असत्य विकल्प करता रहता है वह अज्ञानी है और जो अपनो तथा पर की वास्तविक (स्वतन्त्र) स्वरूप स्थिति को समझ लेता है वह ज्ञानी है। जब तक जीव की बुद्धि मोहकर्म से आच्छादित रहती है तव तक ही वह वद्ध तथा अवद्ध पुद्गल द्रव्य मे अहभाव और ममभाव किया करता है। चूँकि सर्वज्ञ के ज्ञान मे जीव नित्य उपयोग स्वरूप ही प्रतिभासित हुआ है अत वह पुद्गल द्रव्यरूप कैसे हो सकता है? यदि जीव पुद्गल द्रव्यरूप हो जाता व पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य रूप हो जाता तो कहा जा सकता था कि पुद्गल द्रव्य मेरा है।

इस विवेचन से यह वात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि समयसार आदि ग्रन्थो मे जितना भी विवेचन मिलता है उसमे यही दृष्टि रही है कि जो प्राणी अपने से पृथक् अथवा अपृथक् रूप मे विद्यमान परपदार्थो मे अहकार अथवा ममकार करता रहता है वह ससार मे ही भ्रमण करता रहता है उसके ससार का कभी विच्छेद होने वाला नही है और जो प्राणी उन पर-पदार्थों मे अपने अहकार और ममकार को समाप्त कर देता है वह ससार परिभ्रमण का उच्छेद करके मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार अखण्ड एक वस्तु मे स्वरूप और स्वरूपवान तथा प्रदेश और प्रदेशवान का भेद दिखलाकर जो तादात्म्य सम्वन्ध की स्थापना की जाती है वह तथा उसके आधार पर माने जाने वाले आधाराधेयभाव व उपादानोपादेयभाव आदि सम्बन्ध जिस प्रकार सद्भूतता को लिये हुए हैं उसी प्रकार दो आदि स्वतन्त्र वस्तुओ मे पाये जाने वाले आधाराधेयभाव व निमित्तनैमित्तिकभाव आदि सम्वन्ध भी सद्भूतता को लिये हुए ही हैं। इनमे केवल इतना ही अन्तर स्वतन्त्र अपने अस्तित्व (सद्भूतता) के निर्माण मे जो पदार्थ परस्पराश्रित है उनका तो तादात्म्य सम्वन्ध होता है और स्वतन्त्ररूप से अस्तित्व (सद्भूतता) को प्राप्त पदार्थो का सयोग सम्वन्ध हुआ करता है। इस तरह सयोग सम्त्रन्ध को कथन मात्र, असत्य या असद्भूत नही समझना चाहिये।

प० फूलचन्द्र जी के पूर्वोद्धृत कथन मे और भी जो यह लिखा है कि "वहुत से मनीषी यह मानकर कि इससे व्यवहार का लोप हो जायगा, ऐसे कल्पित सम्वन्धो को परमार्थभूत मानने की चेष्टा करते हैं, परन्तु यही उनकी सवसे वडो भूल है

क्योकि इस भूल के सुधरने से यदि उनको व्यवहार का लोप होकर परमार्थ की प्राप्ति होती है तो अच्छा ही है। ऐसा व्यवहार का लोप भला किसे इष्ट नही होगा। इस ससारी जीव को स्वय निश्चय स्वरूप बनने के लिये अपने मे अनादिकाल से चले आ रहे इस अज्ञानमूलक व्यवहार का ही तो लोप करना है उसे और करना ही क्या है ? वास्तव मे देखा जाय तो यही उसका परम (सम्यक्) पुरुपार्थ है इसलिये व्यवहार का लोप हो जायगा इस भ्रान्तिवश परमार्थ से दूर रह कर व्यवहार को ही परमार्थ समझने की चेष्टा करना अनुचित है।"

प० फूलचन्द्र जी के इस कथन पर मैं यह कहना चाहता हूँ कि पूर्व विवेचन के अनुसार सयोगादि सम्बन्धो के विपय मे सद्भूतता और असद्भूतता को लेकर मेरी प० जी के साथ यद्यपि मतभिन्नता पायी जाती है तो भी प० जी के उक्त कथन की कई बातो मे मेरा उनके साथ मतैक्य है। इसलिये मतभेद और मतैक्य की स्थिति को उपयोगी समझकर मै यहा स्पष्ट कर रहा हूँ।

(१) प० जी की तरह मैं भी यह मानता हूँ कि जो लोग परमार्थ से दूर रहकर व्यवहार को ही परमार्थ समझने की चेष्टा करते है वे अज्ञानी हैं। परन्तु इस विषय मे मेरा प० जी के साथ मतैक्य का कारण यह नही है कि एक सद्भूत और दूसरा असद्भूत (कथनमात्र, असत्य या काल्पनिक) है बल्कि मतैक्य का कारण यह है कि प० जी ने अपने कथन मे परमार्थ से निश्चय का अर्थ ग्रहण किया है और यह निर्विवाद है कि व्यवहार अपने आप मे सद्भूत होते हुए भी कभी निश्चयरूप नही होता है।

(२) पं० जी की इस बात को भी मैं मानता हू कि ससारी जीव को स्वय निश्चय स्वरूप बनने के लिये अनादिकाल से चले आ रहे अपने अज्ञानमूलक व्यवहार का ही लोप करना है। परन्तु इस विषय मे मैं यह कहना चाहता हूँ कि उसके लिये (ससारी प्राणी के लिये) पराश्रित अशुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार तो सर्वथा हेय है, लेकिन पराश्रित शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार हेय होते हुए भी किसी एक सीमा तक उन ससारी जीवो के लिये भी उपादेय है जो स्वय (आप) निश्चयस्वरूप बनने की चेष्टा करने लगते हैं। अर्थात् धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थो का अपने जीवन मे समन्वय करते हुए अन्त मे केवल धर्म पुरुषार्थी अर्थात् मोक्ष पुरुषार्थी बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक व्यवहार ऐसा भी होता है जो त्याज्य तो है लेकिन उसे छोडने के लिये जीव को पुरुषार्थ नही करना पडता है वह अनुकूल परिस्थितियो का निर्माण होने पर स्वत छूट जाता है तथा एक व्यवहार ऐसा भी होता है जो न तो त्याज्य है और न कभी छूटता ही है। इन सब प्रकार के व्यवहारो के विषय मे मैं आगे विवेचन करूंगा।

(३) प० जी की इस बात से भी मैं सहमत हूँ कि जिन्हे व्यवहार के लोप का भय बना हुआ है वे अज्ञानी हैं परन्तु इस विषय मे भी मैं इतना और कहना चाहता हूँ कि विवक्षित व्यवहार का लोप करके निश्चयरूप बनना तो उत्तम है लेकिन व्यवहाराश्रित बने रह कर अपने को परमार्थवादी (निश्चयस्वरूप) समझने वाले जो लोग व्यवहाररूप प्रवृत्ति करते हुए भी अपनी परमार्थवादिता (निश्चयरूपता) को प्रगट करने के लिये पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति और पापमय अशुभ प्रवृत्ति के मध्य पाये जाने वाले अन्तर को सर्वथा समाप्त कर देना

चाहते हैं तथा व्यवहार धर्म को भी अधर्म की तरह सर्वथा ससार का कारण बतलाकर उसके महत्व को समाप्त कर देना चाहते है उनकी इस तरह की मान्यता से विवेकीजनो का भयभीत होना उचित ही है। क्योंकि जनसाधारण "हेये स्वय सती बुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शुभे" इस नीति वाक्य के अनुसार स्वभाव से ही पाप प्रवृत्तिरूप व्यवहार मे सर्वदा रुचि रख रहा है। इसलिये उसकी दृष्टि मे पाप प्रवृत्तिरूप व्यवहार मे और पुण्य प्रवृत्तिरूप व्यवहार मे तथा कषाय का क्षयोपशम हो जाने पर उत्पन्न कथचित् निवृत्तिरूपव्यवहार जिसे व्यवहारधर्म नाम से आगम मे पुकारा गया है— मे यदि अन्तर समाप्त हो जाता है तो लोक मे व्यवहारधर्माचरण के साथ-साथ शुभ प्रवृत्तिरूप पुण्याचरण की समाप्ति होकर केवल अशुभ प्रवृत्तिरूप पापाचरण का ही बोलवाला हो जायगा। क्योकि जनसाधारण का इन सबसे युगपत् छुटकारा पाकर सर्वथा निवृत्यात्मक निश्चयधर्म मे पहुँच जाना सम्भव नही है। अर्थात् आगम की व्यवस्था यह है कि पापप्रवृत्तिरूप व्यवहार के यथायोग्य त्याग के साथ पुण्यप्रवृत्तिरूप व्यवहार को अपनाना उत्तम है और आगे अशक्ति, आवश्यकता और कर्तव्यवश पाप और पुण्य प्रवृत्तिरूप व्यवहार को अपनाते हुए भी यथाशक्ति कथचित् निवृत्तिरूप व्यवहारधर्म को स्वीकार करना उत्तम है, कारण कि इस क्रम से ही अन्त मे सर्वथा निवृत्तिरूप निश्चयधर्म पर पहुँचा जा सकता है।

उपर्युक्त सभी बातो पर विस्तृत प्रकाश डालने की आवश्यकता है अत निश्चय और व्यवहार की स्थिति क्या है ?, किस प्रकार का व्यवहार सर्वथा हेय है ?, किस प्रकार का व्यवहार हेय होकर भी कहाँ तक उपादेय है ?, किस प्रकार का व्यवहार यथास्थान अपने आप छूट जाता है उसे छोडने का

प्रयत्न नही करना पडता है ? और किस प्रकार का व्यवहार न तो कभी छूटता है और न उसे छोडने की आवश्यकता ही है ? इन प्रश्नो पर यहाँ विचार किया जाता है। इनमे से मैं सर्व-प्रथम निश्चय और व्यवहार के रूपो का दिग्दर्शन करा रहा हूँ—

निश्चय और व्यवहार के रूप

आगम मे वस्तु को द्रव्य, गुण और पर्यायात्मक स्वीकार किया गया है जैसा कि पञ्चास्तिकाय के ज्ञेयाधिकार की गाथा १ मे पाया जाता है—

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहि पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥1॥

अर्थ—वस्तु द्रव्यरूप है, द्रव्य गुण स्वरूप होता है और द्रव्य तथा गुण दोनो की पर्यायें होती हैं। जितने परसमय हैं वे सब पर्याय मे विमूढ हो रहे है अर्थात् पर्याय को ही सब कुछ मान रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु यद्यपि अखण्ड एकरूपता को प्राप्त हो रही है फिर भी उसमे आवश्यकतानुसार द्रव्य, गुण और पर्यायरूप से विभाजन भी विद्यमान है। इस प्रकार वस्तु की अखण्ड एकरूपता का नाम निश्चय है और द्रव्य, गुण तथा पर्याय के रूप मे भेद स्थिति का नाम व्यवहार है।

वस्तु के स्वत सिद्ध और प्रतिनियत स्वरूप की अखडता निश्चय कोटि मे आती है और उस स्वरूप की खण्डात्मक भेद स्थिति व्यवहार कोटि मे आती है। इसी आधार पर समयसार मे आत्मा के अखण्ड ज्ञायकत्वरूप स्वभाव को निश्चय कोटि में

और उसकी दर्शन, ज्ञान और चारित्रात्मक भेद स्थिति को व्यवहार कोटि मे समाविष्ट किया गया है। यथा—

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥
ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

अर्थ—आत्मा स्वरूप की दृष्टि (निश्चय दृष्टि) से प्रमत्तता और अप्रमत्तता से रहित ज्ञायकस्वरूप है और उसका यह ज्ञायक रूप स्वतः सिद्ध होने से स्वतन्त्र, अनादिनिधन और अखण्ड है। इस ज्ञायक रूप मे यद्यपि व्यवहारदृष्टि से (भेद-दृष्टि से) दर्शन, ज्ञान और चारित्र की स्थिति को भी मान्य किया गया है परन्तु निश्चयदृष्टि मे (अभेददृष्टि मे) न दर्शन की स्थिति है, न ज्ञान की स्थिति है और न चारित्र की स्थिति है केवल सुद्ध (स्वतन्त्र, अनादिनिधन और अखण्ड) ज्ञायक रूप ही स्थिति है।

प्रथम और द्वितीय दोनो गाथाओ मे पठित 'सुद्ध' शब्द को आत्मा के स्वरूप ज्ञायकत्व मे विद्यमान अखण्ड एकत्व, अनादिनिधनत्व और आत्मनिर्भरता के रूप मे निश्चयार्थ का बोधक जानना चाहिये। इस प्रकार प्रथम गाथा और द्वितीय गाथा का उत्तरार्ध दोनो आत्म स्वरूप की निश्चय स्थिति के प्रतिपादक है तथा दूसरी गाथा का पूर्वार्द्ध उसकी व्यवहार स्थिति का प्रतिपादक है।

वस्तु मे उसके स्वत सिद्ध स्वरूप सामान्य की अपेक्षा विद्यमान त्रैकालिक ध्रुवता का नाम निश्चय है और उसमे

प्रवर्तमान स्वप्रत्यय व स्वपरप्रत्यय परिणमनो की अपेक्षा विद्यमान उत्पाद तथा व्यय का नाम व्यवहार है।

जैनदर्शन मे वस्तु को जैसा उत्पाद,व्यय और ध्रौव्यात्मक माना गया है वैसा ही सामान्य विशेषात्मक भी माना गया है। इस तरह वस्तु की या वस्तु स्वरूप की सामान्यरूपता का नाम निश्चय है और उनकी विशेषरूपता का नाम व्यवहार है।

इसी तरह वस्तु की उसके अपने प्रदेशो के साथ विद्यमान अखण्डात्मकता का नाम निश्चय है और नाना प्रदेशो के रूप में विद्यमान खण्डात्मकता का नाम व्यवहार है।

इस तरह प्रत्येक वस्तु के सम्वन्ध मे निश्चय और व्यवहार के अनेक विकल्प सिद्ध हो जाते हैं। जैसे—

द्रव्य और गुण मे विद्यमान अभेदरूपता का नाम निश्चय है और भेदरूपता का नाम व्यवहार है। द्रव्य और पर्याय के विकल्पो मे द्रव्यरूपता निश्चय है और पर्यायरूपता व्यवहार है। गुण और पर्याय के विकल्पो मे गुणरूपता निश्चय है और पर्यायरूपता व्यवहार है। सहवर्तित्व और क्रमवर्तित्व, अन्वय और व्यतिरेक तथा यौगपद्य और क्रम के विकल्प युगलो मे पूर्व-पूर्व का विकल्प निश्चयरूप है और उत्तर-उत्तर का विकल्प व्यवहार रूप है। निर्विकल्पकता और सविकल्पकता, शक्तिरूपता और व्यक्तिरूपता प्रथा लब्धिरूपता और उपयोगरूपता के विकल्पयुगलो मे पूर्व-पूर्व का विकल्प निश्चयरूप है और उत्तर-उत्तर का विकल्प व्यवहाररूप है। वास्तविकता और कल्पितरूपता, अनुपचरितता और उपचरितता, भावरूपता और अभावरूपता तथा स्वभावरूपता और विभावरूपता के विकल्प युगलो मे पूर्व-पूर्व का विकल्प निश्चय रूप है और उत्तर-उत्तर का विकल्प व्यवहाररूप है। भावरूपता और द्रव्यरूपता तथा अन्तरङ्गरूपता और वहिरङ्गरूपता के विकल्पयुगलो मे पूर्व-पूर्व का विकल्प निश्चयरूप है और उत्तर-उत्तर का

विकल्प व्यवहाररूप है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के विकल्पो मे भावरूपता निश्चय का और नाम, स्थापना तथा द्रव्यरूपता व्यवहार का विकल्प है। स्वतन्त्रता और परतन्त्रता, स्वाश्रयता और पराश्रयता तथा अबद्धता और बद्धता के विकल्प युगलो मे पूर्व-पूर्व का विकल्प निश्चय रूप है और उत्तर-उत्तार का विकल्प व्यवहाररूप है। इसी तरह ससार और मुक्ति के विकल्पो मे ससार व्यवहार का और मुक्ति निश्चय का विकल्प है। कार्य और कारण, साध्य और साधन तथा उद्देश्य और विधेय के विकल्पयुगलो मे पूर्व-पूर्व का विकल्प निश्चयरूप है और उत्तर-उत्तर का विकल्प व्यवहार रूप है। इसी तरह उपादेयता और नैमित्तिकता के विकल्पो मे उपादेयता निश्चय का और नैमित्तिकता व्यवहार का विकल्प है। उपादान और निमित्त के विकल्पो मे उपादानता निश्चय का और निमित्तता व्यवहार का विकल्प है। स्वप्रत्ययता और स्वपरप्रत्ययता के विकल्पो मे स्वप्रत्ययता निश्चय का और स्वपरप्रत्ययता व्यवहार का विकल्प है। स्वपरप्रत्यय परिणमन मे स्वप्रत्ययता निश्चय का और परप्रत्ययता व्यवहार का विकल्प है। यहॉ इतना विशेप समझना चाहिये कि कार्य या तो स्वप्रत्यय होता है या स्वपरप्रत्यय होता है कोई भी कार्य केवल परप्रत्यय नही होता है। साक्षाद्रूपता और परम्परारूपता के विकल्पो मे पहला निञ्चय का और दूसरा व्यवहार का विकल्प है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान के विकल्पो मे वर्तमानता निश्चय का और भूतता तथा भविष्यत्ता व्यवहार का विकल्प है। सामान्य और विशेष, सग्रह और व्यवहार, सक्षेप और विस्तार तथा ओघ और आदेश के विकल्पो मे पूर्व-पूर्व का विकल्प निश्चय का और उत्तार-उत्तार का विकल्प व्यवहार का है। द्रव्यानुयोग को दृष्टि से विधिरूपता निश्चय का और निषेधरूपता व्यवहार

का तथा करणानुयोग की दृष्टि से निषेधरूपता निश्चय का और विधिरूपता व्यवहार का विकल्प है। द्रव्यानुयोग और करणानुयोग दोनो मे से द्रव्यानुयोग का विषय निश्चयरूप और करणानुयोग का विषय व्यवहाररूप है। इसी तरह करणानुयोग चरणानुयोग दोनो मे करणानुयोग का विषय निश्चयरूप और चरणानुयोग का विषय व्यवहाररूप है और इसी तरह चरणानुयोग और प्रथमानुयोग दोनो मे चरणानुयोग का विषय निश्चय रूप व प्रथमानुयोग का विषय व्यवहाररूप है। व्यष्टिप्रधान आध्यात्मिक दृष्टि से प्रवृत्ति व्यवहार का और निवृत्ति निश्चय का विकल्प है यथा समष्टि प्रधान लौकिक दृष्टि से प्रवृत्ति निश्चय का और निवृत्ति व्यवहार का विकल्प है। द्रव्यानुयोग की दृष्टि मे सत् और असत्, तत् और अतत्, नित्य और अनित्य, एक और अनेक, अभिन्न और भिन्न तथा अवक्तव्य और वक्तव्य के विकल्पो मे पूर्व-पूर्व का विकल्प निश्चय का और उत्तर-उत्तर का विकल्प व्यवहार का है। करणानुयोग की दृष्टि मे कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के आधार पर होने वाली आत्मा की अवस्था व्यवहाररूप है और कर्म से अनपेक्ष आत्मा की स्वत सिद्ध अवस्था निश्चय रूप है। इसी तरह कर्म के उदय के आधार पर होने वाली आत्मा की औदयिक रूपता विभावरूप व्यवहाररूपता है, कर्म के क्षयोपशम के आधार पर होने वाली आत्मा की क्षायोपशमिकरूपता विभाव और स्वभाव के मिश्रणरूप व्यवहाररूपता है तथा कम के उपशम या क्षय के आधार पर होने वाली आत्मा की औपशमिक रूपता और क्षायिकरूपता स्वभावरूप निश्चयरूपता है। चरणानुयोग की दृष्टि मे आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र की स्थिति मोहकर्म के उदय से प्रभावित होने के आधार पर मिथ्यादर्शन,

मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्ररूप पुरुषार्थ के रूप मे व्यवहार रूप है और मोह कर्म के उपशय, क्षय या क्षयोपशम के आधार पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप पुरुपार्थ के रूप मे निश्चय रूप है। इसी तरह दर्शनमोह और अनन्तानुवन्धी रूप चारित्र मोह के उपशम, क्षय या क्षयोपम के आधार पर जीव मे तत्त्वार्थ श्रद्धान का होना व्यवहार सम्यग्दर्शनरूप व्यवहार है और आत्मा कल्याण के प्रति उसका उन्मुख हो जाना निश्चय सम्यग्दर्शन रूप निश्चय है तथा व्यवहार और निश्चय रूप सम्यग्दर्शन के साथ ही जीव के आत्म ज्ञान मे सम्यक्पन का आ जाना व्यवहार सम्यग्ज्ञान रूप व्यवहार है और आत्मज्ञान मे सम्यक्पन का आ जाना निश्चय सम्यग्ज्ञानरूप निश्चय है। इसी तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो जाने के पश्चात् शेष चारित्र मोह के यथासभव क्षयोपशम के आधार पर पचम गुणस्थान से दशम गुणस्थान तक अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, ध्यान आदि रूप जीव का पुरुषार्थ व्यवहार चारित्ररूप व्यवहार है और चारित्र मोह का सर्वथा उपशम अथवा क्षय हो जाने पर जीव का आत्मलीनता रूप पुरुपार्थ निश्चय चारित्र रूप निश्चय है।

इस विस्तृत विवेचन से वस्तु मे पाये जाने वाले निश्चय और व्यवहार के विविध रूपो का सरलता से वोध हो जाता है और यह बात भी समझ मे आ जाती है कि भिन्न-भिन्न स्थलो मे अथवा प्रकरणो मे निश्चय और व्यवहार के भिन्न-भिन्न रूप हुआ करते है। इसके अतिरिक्त यह भी समझ मे आ जाता है कि जहा जिस प्रकार का निश्चय या व्यवहार का विकल्प वस्तु मे विवक्षित किया जाय वहा उस से ठीक विपरीत ही व्यवहार या निश्चय का विकल्प वस्तु मे निर्धारित करना

चाहिये। अर्थात् जहां निश्चय का विकल्प विवक्षित किया जाय वहां उससे ही विपरीत व्यवहार का विकल्प निर्वासित करना चाहिये और जहां व्यवहार का विकल्प विवक्षित किया जाय वहां उससे ही विपरीत निश्चय का विकल्प निर्वासित करना चाहिए। इससे यह बात भी समझ लेना चाहिये कि निश्चय और व्यवहार के विकल्पों में से जहां जो विवक्षित होता है वहां वह तो मुख्य हो जाता है और जो अविवक्षित होता है वह गौण हो जाता है।

वस्तु में विद्यमान सब प्रकार के निश्चयरूप विकल्पों का मूल आधार अभेद या स्वाश्रयता है और सब प्रकार के व्यवहाररूप विकल्पों का मूल आधार भेद या पराश्रयता है। इसका अभिप्राय यह भी है कि वस्तु का जो रूप अभेद या स्वाश्रयता के आधार पर निश्चयरूप है वही रूप भेद और पराश्रयता के आधार पर व्यवहाररूप भी है। जैसे कार्य जहां उपादान की परिणति होने के आधार पर उपादेयरूप से निश्चयरूप है वहीं वह अन्य वस्तु के सहयोग से उत्पन्न होने के आधार पर नैमित्तिकरूप से व्यवहाररूप भी है। इसी प्रकार मिट्टी द्रव्य (आप) घटरूप परिणत होने के आधार पर जहां घटरूप कार्य की उपादान हो जाने के कारण कारणता के रूप से निश्चयरूप है वहीं वह मिट्टी नानापुद्गल परमाणुओं का पिंड होने के आधार पर व्यवहाररूप भी है।

निश्चय और व्यवहार के ये सब रूप वस्तु के धर्म हैं और सभी वास्तविक अर्थात् वस्तु में विद्यमान रहते हैं। इनमें से कोई भी कल्पित, मिथ्या या कथन मात्र नहीं है। इतना अवश्य है कि जो निश्चय धर्म हैं वे तो अभेद या स्वाश्रितता के आधार पर हैं और जो व्यवहार धर्म हैं वे भेद या पराश्रितता के आधार पर हैं।

इनका ज्ञान जोव को अपने स्वभावभूत ज्ञान द्वारा होता है और इनका प्रतिपादन जीव शब्दो द्वारा किया करता है। इस तरह जीव का वह ज्ञान निश्चयरूप है जिसके द्वारा वस्तु के निश्चय धर्म का ज्ञान होता है और जीव का वह ज्ञान व्यवहाररूप है जिसके द्वारा वस्तु के व्यवहार धर्म का ज्ञान होता है तथा जीव द्वारा बोला गया वह शब्द निश्चयरूप है जिसके द्वारा वस्तु के निश्चय धर्म का प्रतिपादन होता है और जीव द्वारा बोला गया वह शब्द व्यवहाररूप है जिसके द्वारा वस्तु के व्यवहार धर्म का प्रतिपादन होता है। यहा यह भी समझ लेना चाहिये कि बोलना या ज्ञान करना स्वय व्यवहार-रूप है और बोलने अथवा ज्ञान करने रूप क्रिया न करते हुए अपने स्वरूप मे ही स्थिर रहना निश्चयरूप है।

वस्तु के उक्त निश्चय व व्यवहाररूप धर्मों को आगम मे ज्ञान तथा शब्द के विषयभूत नाम स्थापना, द्रव्य और भावरूप निक्षेपो मे अन्तर्भूत किया गया है तथा उन धर्मों के ज्ञापक ज्ञान को व उनके प्रतिपादक शब्द को नयो मे अन्तर्भूत किया गया है। इसी प्रकार इन ज्ञानरूप और शब्द रूप नयो के समूह को श्रुत प्रमाण नाम से पुकारा गया है।

यद्यपि आगम मे प्रमाण के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान के रूप मे पाच भेद स्वीकार किये गये हैं, परन्तु नय व्यवस्था केवल श्रुतज्ञानरूप प्रमाण मे ही स्वीकार की गयी है। इसका कारण यह है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान द्वारा उक्त धर्मो से विशिष्ट वस्तु का अखण्डरूप से ज्ञान होता है अत इन चारो ज्ञानो मे नयपरिकल्पना सम्भव नही है तथा श्रुतज्ञान मे नयपरिकल्पना इसलिये सम्भव है कि श्रुतज्ञान उक्त धर्मों का

पृथक्-पृथक् ज्ञान करता हुआ ही वस्तु का ज्ञान करता है इसलिये वह नयरूप होकर ही प्रमाण रूप है । यही व्यवस्था शब्दरूप श्रुत प्रमाण मे भी समझना चाहिये । प्रकृत मे उपयोगी न होने से नय तथा प्रमाण की उक्त व्यवस्था पर यहा पर विशेष प्रकाश डालना मैंने आवश्यक नही समझा है ।

इस प्रकार वस्तु मे और वस्तु के प्रतिपादक शब्दरूप तथा उसके ज्ञापक ज्ञानरूप श्रुत प्रमाण मे निश्चय और व्यवहार के रूपो को सही रूप मे समझ कर इनका यथास्थान समुचित उपयोग करने से ही वस्तु तत्त्व को समझा जा सकता है। वैसे तो समयसार की गाथा १४४ के अनुसार उपर्युक्त निश्चय और व्यवहार के विकल्पो से रहित स्वाश्रित, अनादि-निधन और अखण्ड स्वत सिद्ध स्वरूप के साथ तन्मयता को प्राप्त आत्मा की विकल्पातीत स्थिति को ही समयसार के रूप मे वस्तु तत्त्व समझना चाहिये ।

इस प्रकार वस्तु का व्यवहार धर्म भी जब निश्चय धर्म के समान वास्तविक (सद्भूत) सिद्ध हो जाता है तो इससे यह निर्णीत हो जाता है कि प० फूलचन्द्रजी ने व्यवहार के अर्थ को केवल कल्पित, मिथ्या या कथन मात्र के रूप मे उपचरित मान कर जीव के साथ कर्म और नोकर्म के बद्धतारूप सयोग को जो उपचरित अर्थात् कल्पित, मिथ्या का कथन मात्र मान लिया है वह असगत ही है । कारण कि जीव के साथ कर्म और नोकर्म का बद्धतारूप सयोग पराश्रितता के रूप मे उपचरित होने पर भी सद्भूत ही है। इतना अवश्य है कि वह पराश्रित होने के कारण स्वाश्रित तादात्म्य के समान निश्चयरूप न होकर व्यवहाररूप ही है। अर्थात् प्रकृत मे उपचार का अर्थ

पराश्रितता ही है कल्पित, मिथ्या या कथनमात्र रूपता उपचार का अर्थ नही है।

आगे व्यवहार की हेयता और उपादेयता आदि वातो पर विचार किया जाता है । यह विचार उपर्युक्त प्रकार के निश्चय और व्यवहार धर्मो से विशिष्ट वस्तु के सम्बन्ध मे आगम द्वारा अपनायी गयी द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग की व्यवस्था के आधार पर किया जा रहा है।

द्रव्यानुयोग की व्यवस्था

द्रव्यानुयोग का सम्वन्ध वस्तु के द्रव्याश और पर्यायाश के रूप मे निश्चय और व्यवहार धर्मों से है । अर्थात् पूर्व मे वतलाया जा चुका है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु मे उसके स्वत सिद्ध और प्रतिनियत स्वरूप सामान्य की अपेक्षा द्रव्याश के रूप मे विद्यमान त्रैकालिक ध्रुवता का नाम निश्चय है और उसमे सतत प्रवर्तमान स्वप्रत्यय व स्वपरप्रत्य पर्यायाशो के रूप मे विद्यमान उत्पाद और व्यय का नाम व्यवहार है।

इसका फलितार्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु सर्वदा अपने स्वत सिद्ध स्वरूप को सुरक्षित रखकर अनादिकाल से स्वप्रत्ययता और स्वपरप्रत्ययना के आधार पर स्वकीय एकक्षणवर्ती और अनेकक्षणवर्ती पर्यायो के परिवर्तन के रूप मे अनादिकाल से उत्पाद तथा व्यय का रूप धारण करती आ रही है और उत्पाद तथा व्यय की यह प्रक्रिया प्रत्येक वस्तु मे अनन्तकाल तक चलती ही जायगी। प्रत्येक वस्तु के स्वप्रत्यय उत्पाद और व्यय का रूप पूर्व मे स्वभावभूत अगुरु लघुगुण के अविभागी शक्त्यशो मे षड्गुण हानिवृद्धि के रूप मे वतलाया जा चुका है तथा स्वपरप्रत्यय उत्पाद और व्यय का रूप भी पूर्व मे इस

प्रकार बतलाया गया है कि आकाश द्रव्य के स्वत सिद्ध प्रतिनियत अवगाहक स्वभाव मे उसके साथ सस्पृष्ट हो रही विश्व की अन्य समस्त अवगाह्यमान वस्तुओ के अपने-अपने प्रतिनियत कारणो के आधार पर होने वाले परिणमनो के अनुसार विविध प्रकार के स्वपरप्रत्यय परिणमन (उत्पाद और व्यय) हो रहे है तथा धर्म, अधर्म और काल द्रव्यो के अपने-अपने स्वत सिद्ध प्रतिनियत स्वभाव मे भी आकाश के समान ही अन्य यथायोग्य वस्तुओ के अपने-अपने प्रतिनियत कारणो के आधार पर होने वाले परिणमनो के अनुसार विविध प्रकार के स्वपरप्रत्यय परिणमन (उत्पाद और व्यय) हो रहे हैं। इसी प्रकार की उत्पाद और व्यय की प्रक्रिया जीवो और पुद्गलो के अपने-अपने स्वत सिद्ध प्रतिनियत स्वभाव मे भी अन्य वस्तुओ के अपने-अपने प्रतिनियत कारणो के आधार पर होने वाले परिणमनो के अनुसार विविध प्रकार के स्वपरप्रत्यय परिणमनो के रूप मे चालू है । अर्थात् छद्मस्थ जीवो को पर-पदार्थों का ज्ञान करते समय कभी तो घटसापेक्ष घटज्ञान होता होता है और कभी पटसापेक्ष पटज्ञान होता है तथा जीवन्मुक्त और सर्वथामुक्त सर्वज्ञता प्राप्त जीवो को भी समस्त पदार्थ साक्षात्कार रूप बोध समस्त पदार्थसापेक्ष ही हुआ करता है। इसी प्रकार आम्रादि पुद्गल स्कन्धो मे और अणुरूप पुद्गलद्रव्यो मे भी रूपान्तर, रसान्तर, गन्धान्तर और स्पर्शान्तर रूप तथा पूरण-गलन स्वभाव के अनुसार उनमे अणु से स्कन्धरूप व स्कन्ध से अणुरूप परिणमन (उत्पाद और व्यय) स्वपरप्रत्ययरूप मे ही होते रहते है ।

इस प्रकार अशुद्ध (परस्परबद्ध) और शुद्ध (पृथक्-पृथक् रूप मे विद्यमान) वस्तुओ मे सतत प्रवर्तमान स्वभावभूत

स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमन (उत्पाद और व्यय) भेदाश्रित अथवा पराश्रित होने के कारण व्यवहार कोटि मे तो समाविष्ट होते हैं फिर भी वे काल्पनिक, मिथ्या या कथन मात्र नही है किन्तु सद्भूत ही हैं। प्रत्येक शुद्ध (पृथक्-पृथक् रूप मे विद्यमान) और अशुद्ध (परस्परवद्ध) वस्तु के ऐसे सभी व्यवहाररूप परिणमन (उत्पाद और व्यय) न तो हेय हैं और न ये नष्ट ही होते है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु मे अनादिकाल से होते आ रहे है और अनन्तकाल तक होते जावेगे। क्योकि ये नष्ट हो जावे तो वस्तु का ही लोप हो जायगा।

इस सम्वन्ध मे एक तर्क यह भी है कि अशुद्ध अर्थात् पौद्गलिक कर्म तथा नोकर्म के साथ वद्धछद्मस्थ संसारी जीवो के स्वभावभूत ज्ञान और दर्शन मे विकास की अल्पता और परावलम्वनता पायी जाने पर भी उनमे से जो जीव जव एकादश या द्वादश गुणस्थान मे पहुँच कर ज्ञाता-दृष्टामात्र वने रहने की क्षमता प्राप्त कर लेते है तव उनमे नवीन कर्मो के स्थितिवन्ध और अनुभागवन्ध न होने का जो विधान आगम मे है उसका आशय यही है कि देखने और जानने रूप परिणमन अल्पविकास और परावलम्वन की दशा मे भी जीव के स्वभावभूत परिणमन होने के कारण उसके लिये उक्त वन्धो के कारण नहीं होते है। इस तरह केवल मन, वचन और कायरूप नोकर्म तथा मिथ्यात्व, अविरति और कपाय से यथासम्भव आवद्ध प्रथम गुणस्थान से दशम गुणस्थान तक के जीवो का योगात्मक प्रवर्तन और उपयोग की कलुषता—ये ही यथायोग्य कर्मो के प्रकृति वन्ध, और प्रदेशवन्ध तथा स्थितिवन्ध और अनुभागवन्ध के कारण होते है व एकादश द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानो मे जीवो का केवल योगात्मक प्रवर्तन ही मात्र प्रकृतिवन्ध और

प्रदेशवन्ध का कारण होता है। इससे यह वात स्पष्ट हो जाती है कि स्वभावभूत व्यवहार न तो कभी छूटता ही है और न उसके छोडने की आवश्यकता ही है।

करणानुयोग की व्यवस्था

करणानुयोग का सम्वन्ध पुद्गल के साथ वद्धजीव के यथायोग्य परिणमनो के निमित्त से होने वाली पुद्गल की कर्म रूप और नोकर्मरूप अवस्थाओ से तथा जीव के साथ वद्धपुद्गल की कर्म और नोकर्मरूप अवस्थाओ के निमित्त से होने वाली जीव की रागादिरूप अवस्थाओ से है। जीव और पुद्गल की अन्य अवस्थाओ से करणानुयोग का कोई सम्वन्ध नही है और न आकाश, धर्म, अधर्म तथा कालद्रव्यो से ही इसका कोई सम्वन्ध है। चूकि पुद्गलद्रव्य अचेतन होने के कारण अपनी उक्त वद्धदशा और उससे होने वाली कर्म तथा नोकर्मरूप अवस्थाओ का वेदन नही कर सकता है अतः उसकी वह वद्धदशा का चिन्ता का विषय नही है, परन्तु जीव चेतन होने के कारण अपनी उक्त वद्धदशा और उससे होने वाली रागादि-रूप अवस्थाओ का सतत वेदन किया करता है तथा इस वेदन के आधार पर वह कदाचित् सुखी और कदाचित् दु खी भी होता रहता है अत उसकी उक्त वद्धदशा चिन्ता का विषय है।

जीव की पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों और शरीरादि नोकर्मों के साथ विद्यमान वद्धता का नाम ससार है और उससे जीव का छुटकारा पा जाना मोक्ष है। इनमे से ससार निश्चय और व्यवहार के विकल्पो मे से व्यवहार कोटि मे समाविष्ट होता है क्योकि इसमे विद्यमान जीव अपने अस्तित्व को कर्मों तथा नोकर्मों से पृथक् रूप मे (अवद्धरूप मे) नही रख पा रहा

है। इसके विपरीत मोक्ष निश्चय और व्यवहार के विकल्पो मे से निश्चय की कोटि मे समाविष्ट होता है क्योकि इसमे विद्यमान जीव अपने अस्तित्व को कर्मों तथा नोकर्मों से सर्वथा पृथक् कर लेता है। इस तरह ससाररूप व्यवहार और मोक्षरूप निश्चय इन दोनो मे से ससाररूप व्यवहार सर्वथा हेय है और मोक्षरूप निश्चय सर्वथा उपादेय है। जितना भी द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोगरूप जैनागम है वह सब ससाररूप व्यवहार की हेयता और मोक्षरूप निश्चय की उपादेयता के आधार पर ही निर्मित किया गया है। अर्थात् ससार क्या है ? उसके कारण क्या है ? और उसकी हेयता क्यो है ? इसी तरह मोक्ष क्या है ? उसके कारण क्या है ? और उसकी उपादेयता क्यो है ? इत्यादि आत्म सम्बन्धी बातो को ध्यान मे रखकर ही द्रव्यानुयोग आदि उक्त प्रकार के आगम की रचना की गयी है। इतना ही नही, यहा तक समझना चाहिये कि आगम वही है जिसका सम्बन्ध ससार की हेयता और मोक्ष की उपादेयता से है। इसके विपरीत अर्थात् प्राणियो की अनर्थकारी प्रवृत्ति को पुष्ट करने वाला जितना भी आगम है वह सब आगम न होकर आगमाभास ही है।

यहा पर यह ध्यान रखना है कि जीव का उक्त बद्धतारूप ससार जिसे व्यवहार कोटि मे समाविष्ट किया गया है—व्यवहार के रूप मे उपचरित होकर भी कल्पित नही है जैसा कि प० फूलचन्द्र जी मानते है किन्तु सद्भूत ही है। केवल पराश्रित है इसलिए उपचरित है। यही कारण है कि जिस प्रकार ऐजन के चलने पर उसके साथ सद्भूत सयोग को प्राप्त रेलगाडी के डब्बे उस ऐजन के साथ ही चल पडते है और उसमे बैठे हुए व्यक्ति नही चलते हुए भी यथास्थान पहुँच जाते है उसी प्रकार कर्म-नोकर्म

के साथ सद्भूत बद्धतारूप सयोग को प्राप्त जीव भी अपने विविध प्रकार के परिणमन किया करते हैं। इसी तरह शरीर के साथ सद्भूतबद्धता सयोग को प्राप्त जीव शरीर मे होने वाली विकृति के आधार पर सुख व दुःख का सवेदन किया करते है। यहा तक कि शीतऋतु मे ठण्डी वायु अथवा ठण्डे जल का शरीर के साथ सम्पर्क होने पर जीव को दुःख का सवेदन इसलिये हुआ करता है कि जीव का शरीर के साथ और शरीर का उक्त वायु या जल के साथ विद्यमान यथायोग्य बद्धता या स्पृष्टता रूप सयोग वास्तविक (सद्भूत) है। ऐसे ही ग्रीष्मऋतु मे ठण्डी वायु या ठण्डे जल का शरीर के साथ सम्पर्क होने पर जीव को जो सुख का सवेदन हुआ करता है वह इसलिये हुआ करता है कि जीव का शरीर के साथ और शरीर का उक्त वायु या जल के साथ विद्यमान यथायोग्य बद्धता या स्पृष्टतारूप सयोग वास्तविक (सद्भूत) है। इसी तरह पौद्गलिक स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाच इन्द्रियो तथा पौद्गलिक हृदय और मस्तिष्क के साथ विद्यमान जीव का बद्धतारूप सयोग चूकि वास्तविक (सद्भूत) है इसलिये ही जीव इन इन्द्रियादिक के सहयोग से ज्ञेयभूत पदार्थों का ज्ञान किया करता है। और तो क्या ? अपना पृथक् अस्तित्व रखने वाले चश्मा और कर्णयन्त्र दोनो क्रमश नेत्र और कर्ण के साथ वास्तविक (सद्भूत) प्रत्यासक्ति को प्राप्त होकर ही जीव के पदार्थज्ञान मे विशेषता पैदा कर दिया करते है। बद्धतारूप सयोग की वास्तविकता के सबब ही वचन (मुख) के सहयोग से जीव का बोलने रूप व्यापार देखा जाता है जिसके निमित्त से पौद्गलिक-भाषावर्गणा शब्दरूप परिणत हुआ करती है और गले की बनावट के अनुसार आवाज मे सुरीलापन अथवा कर्कशपन भी उक्त बद्धतारूप सयोग की वास्तविकता के सबब ही देखने मे

आते हैं। हृदय के साथ विद्यमान बद्धतारूप सयोग की वास्तविकता के सवव ही जीव की राग, द्वेप, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अनुचित्त तथा दया, धृति, सतोष, सहृदयता, मृदुता, सरलता आदि उचित परिर्णतिया बुद्धिपूर्वक हुआ करतो हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क के साथ विद्यमान वद्धतारूप सयोग की वास्तविकता के सबब ही जीव का ज्ञान स्वभाव स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुत का रूप धारण किया करता है। बद्धतारूप सयोग की वास्तविकता के सबब ही ज्ञानावरण कर्मजीव के ज्ञान को आवृत किये हुए हैं। इतना अवश्य है कि ज्ञानावरण कर्म का सभी छद्मस्थ जीवो मे उदयरूप से सद्भाव न होकर सततक्षयोपशमरूप से ही सद्भाव रहता है फिर भी क्षयोपशम की तरतमता के आधार पर ही उन जीवो मे ज्ञान के विकास की तरतमता पायी जाती है। इसी प्रकार छद्मस्थो के ज्ञान मे जो इन्द्रियादिक को तरतमरूप सहायता अपेक्षित रहा करती है वह वीर्यान्तराय कर्म के तरतमरूप क्षयोपशम का ही परिणाम है। ज्ञान जैसी व्यवस्था दर्शनावरणकर्म के क्षयोपशम की तरतमता के आधार पर जीव के दर्शन गुण की समझ लेना चाहिये और ऐसी ही व्यवस्था वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा शेष अन्तराय कर्मो की यथायोग्य उदयादि अवस्थाओ के आधार पर जीव की विविध परिणतियो की प्रादुर्भूति के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिये।

वास्तव मे आगम की यह स्पष्ट घोषणा है कि कर्म और नोकर्म के साथ विद्यमान बद्धतारूप सयोग की वास्तविकता के सबब ही जीव, देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यंच तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, सज्ञी, असज्ञी, वादर,

को वे जो कल्पित, असत्य या कथनमात्र मानते है वह अयुक्त और आगम विरुद्ध ही है। जीव की ससारावस्था और पुद्गल की कर्म व नोकर्मरूप अवस्था की वे जो निमित्त की अपेक्षा के बिना ही अपने आप उत्पत्ति स्वीकार करते है इसका खण्डन विस्तार से किया ही जा चुका है तथा आगे भी किया जायगा। इतना अवश्य है कि वह बद्धता जीव और पुद्गल दो द्रव्यो के आश्रित होने से व्यवहार कोटि मे ही समाविष्ट होती है निश्चय कोटि मे नही।

जीव की कर्म तथा नोकर्म के साथ और पुद्गल कर्म व नोकर्म की जीव के साथ होने वाली उक्त बद्धता परस्पर की निमित्तता के आधार पर अनादि काल से चली आ रही है और जैसा कि पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि इसी का नाम ससार है तथा इसकी समाप्ति अर्थात् जीव तथा कर्म व नोकर्म का सर्वथा पृथक्-पृथक् हो जाने का नाम मुक्ति है। इस तरह जीव की यह सब ससाररूप अवस्था हेय है फिर भी इसमे इतनी विशेषता समझ लेनी चाहिये कि जीव तथा नोकर्मों की बद्धता जीव तथा अघाती कर्मों की बद्धता के समाप्त हो जाने पर अपने आप समाप्त हो जाती है इसे समाप्त करने के लिए जीव को पुरुषार्थ नही करना पडता है। लेकिन जीव तथा अघाती कर्मो की बद्धता को समाज करने के लिए जीव व्युपरत-क्रियानिर्वर्तिध्यान रूप पुरुषार्थ का सहारा लेता है।

जीव की मोह कर्म के उदय मे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्ररूप औदयिक परिणति हुआ करती है व यथायोग्य मोहनीय कर्म के क्षयोपशम मे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यक् चारित्ररूप, उपशम मे

औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिक सम्यक् चारित्ररूप तथा क्षय मे क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक् चारित्ररूप परिणतियाँ हुआ करती हैं। यहाँ इतना और जानना चाहिये कि यद्यपि ज्ञान का विकास ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से यथा-सम्भव मे अनादि काल से सभी जीवो मे पाया जाता है परन्तु इसमे दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यापन और उसके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से सम्यक्पन हुआ करता है। सामान्यरूप से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से क्रमश क्षायोपशमिक ज्ञान, क्षायोपशमिक दर्शन और क्षायोपशमिक वीर्य रूप जीव की परिणतियाँ हुआ करती हैं तथा इनके क्षय मे क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और क्षायिक वीर्य रूप परिणतियाँ जीव की हुआ करती है। जीव की ऐसी ही परिणतियाँ अन्तराय कर्म के भेद दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से व क्षय से भी हुआ करती हैं और इनके अतिरिक्त आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मो के उदय मे औदयिक रूप व क्षय मे क्षायिकरूप परिणतिया भी जीव की हुआ करती हैं। विशेष रूप से अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण कर्मो के उदय मे औदयिक अज्ञान रूप तथा अवधिदर्शनावरण और केवल दर्शनावरण कर्मों के उदय मे औदयिक अदर्शन रूप परिणतिया भी जीव की हुआ करती हैं।

जीव की ये सभी औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक क्षायिक परिणतियाँ चूँकि उस-उस कर्म के यथायोग्य उदय, क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय की अपेक्षा रखती है अत समान रूप से व्यवहार कोटि मे समाविष्ट होती है। लेकिन इनमे से औदयिक परिणतियाँ ससार की कारण या जीव के

ससार रूप होने के कारण सर्वथा हेय है, औपशमिक और क्षायोपशमिक परिणतियाँ यथासम्भव मोक्ष की कारण होने से यद्यपि उपादेय है, परन्तु ये परिणतियाँ छूट जाती हैं। इस तरह केवल क्षायिक परिणतिया ही ऐसी परिणतियाँ है जो उपादेय भी है और एक बार होने के पश्चात् फिर कभी छूटती भी नही है।

चरणानुयोग की व्यवस्था

चरणानुयोग का सम्वन्ध जीव के दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप पुरुपार्थ से है। जीव का यह पुरुषार्थ मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के आधार पर ही हुआ करता है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

जीव अनादिकाल से तो मोहनीय कर्म के उदय से प्रभावित होता हुआ अपना पुरुषार्थ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप ही करता आ रहा है और इस पुरुषार्थ के आधार पर वह अनादिकाल से ही सतत ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इन आठ कर्मो से बद्ध होता आ रहा है जिसका परिणाम जीव को ससार भ्रमण के रूप मे प्राप्त हो रहा है।

जीव का उक्त आठ कर्मों के साथ जो बन्ध होता है वह प्रकृतिवन्ध, प्रदेशवन्ध, स्थितिवन्ध और अनुभागबन्ध के रूप मे चार प्रकार का है। इनमे से प्रकृतिवन्ध और प्रदेशबन्ध तो नोकर्मवर्गणा के भेद मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त (सहयोग) से होने वाली जीव के प्रदेशो की हलन-चलनरूप क्रिया—जिसे आगम मे योग नाम से पुकारा गया

है—के निमित्त (सहयोग) से होते हैं और चूंकि इस प्रकार के योग का सद्भाव जीव मे प्रथम गुणस्थान से लेकर त्रयोदश गुणस्थान तक रहा करता है अत इन गुणस्थानो मे विद्यमान जीव सतत यथायोग्य पाप कर्मो या पुण्य कर्मो मे प्रभावित योगो की अशुभरूपता या शुभरूपता की तरतमता के आधार पर उक्त कर्म प्रकृतियो मे से यथासम्भव कर्म प्रकृतियो के प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध किया करता है। इन दोनो प्रकार के बन्धो के अतिरिक्त वही जीव उक्त कर्म प्रकृतियो के जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध किया करता है वे स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध मोहनीय कर्म के यथायोग्य उदय के आधार पर जीव के स्वभावभूत दर्शन, ज्ञान और चरित्र को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणतियो के सहयोग से ही होते हैं। इस प्रकार मोहनीय कर्म के तरतमरूप प्रभाव के आधार पर यथासम्भव जिस-जिस गुणस्थान मे जिस-जिस रूप मे जीव का पुरुषार्थ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप हुआ करता है उसके अनुसार वह जीव उक्त प्रकार प्रकृति और प्रदेशरूप से बद्धज्ञानावरणादि कर्मो के स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध किया करता है । चूंकि मोहनीय कर्म का उदय जीव मे यथासम्भव रूप मे दशम गुणस्थान तक ही रहा करता है अत कर्मो के उक्त स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध भी जीव मे यथासम्भव रूप मे दशम गुणस्थान तक ही हुआ करते हैं। इन सब बातो का विवेचन कर्म ग्रन्थो मे विस्तार के साथ किया गया है।

जिस प्रकार मोहनीय कर्म के उदय के आधार पर जीव के स्वभावभूत दर्शन, ज्ञान और चारित्र की मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणति हुआ करती है

उसी प्रकार उसके (मोहनीय कर्म के) उपशम, क्षय और क्षयोपशम के आधार पर जीव के स्वभावभूत उक्त दर्शन, ज्ञान और चारित्र की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्ररूप भी परिणति हुआ करती है। लेकिन यहा इतना ध्यान रखना चाहिये कि मोहनीय कर्म का उदय जिस प्रकार कर्मों के स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध मे कारण होता है उस प्रकार मोहनीय कर्म के क्षयोपशम मे रहने वाला उसके (मोहनीय कर्म के) अश का उदय तो उक्त कर्मों के स्थितिबन्ध और अनुभाग-बन्ध मे कारण होता है परन्तु मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय या मोहनीय कर्म के क्षयोपशम मे रहने वाला उसके (मोहनीय कर्म के) अश का अनुदय (वर्तमान काल मे उदय आने योग्य अशो का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल मे उदय आने योग्य अशो का सदवस्थारूप उपशम) उक्त स्थिति-बन्ध और अनुभागबन्ध का कारण नही होता है।

इस विषय का विशेष विवरण इस प्रकार है कि जीव मे स्वभावरूप से दो प्रकार की शक्तिया अनादिकाल से विद्यमान रही है और अनन्तकाल तक विद्यमान रहेगी। उनमे एक तो भाववती शक्ति है और दूसरी क्रियावती शक्ति है।

उक्त दोनो प्रकार की शक्तियो मे से भाववती शक्ति के रूप तीन हैं एक दर्शन, दूसरा ज्ञान और तीसरा वीर्य तथा इन तीनो मे से दर्शनशक्ति को दर्शनावरण कर्म अनादिकाल से आवृत किये हुए है, ज्ञानशक्ति को ज्ञानावरण कर्म अनादिकाल से आवृत किये हुए है और वीर्यशक्ति को वीर्यान्तिराय कर्म अनादिकाल से आवृत किये हुए है। इतना अवश्य है कि उक्त दर्शनावरण, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों का जीव मे

अनादिकाल से ही समान क्षयोपशम रहता आया है इसलिये जीव मे इन शक्तियो का यथायोग्यरूप मे अनादिकाल से ही समान विकास रहता आया है । विकास को प्राप्त इन तीनो शक्तियो मे से ज्ञानशक्ति का जितना विकसित उपयुक्ताकाररूप अनादिकाल से जीव मे रहता आया है उसे दर्शन मोहनीय कर्म का उदय अनादिकाल से ही विकृत बनाये हुए चला आ रहा है जिसका परिणाम यह हुआ है कि विकास को प्राप्त उपयुक्ता-काररूप वह ज्ञानशक्ति मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान का रूप धारण किये हुए अनादिकाल मे ही रहती आयी है ।

भाववती शक्ति की तरह जीव की क्रियावती शक्ति भी अनादिकाल से यथासम्भव पौद्गलिक मन, वचन और काय की अधीनता मे क्रियाशील रहती आयी है और उसकी (क्रियावती शक्ति की) वह क्रिया भी अनादिकाल से चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से प्रभावित होकर मिथ्याचारित्र का रूप धारण किये हुए रहती आयी है ।

तात्पर्य यह है कि जीव को यथायोग्य विकास को प्राप्त उपयुक्तकार ज्ञानरूप भाववती शक्ति तो दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से प्रभावित होकर अनादिकाल से मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान का रूप धारण किये हुए है और उसकी (जीव की) यथासम्भव मन, वचन तथा काय की अधीनता मे क्रियाशील होती हुई क्रियावती शक्ति भी चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से प्रभावित होकर अनादिकाल से मिथ्याचारित्र का रूप धारण किये हुए है ।

जैन सिद्धान्त मे इसमे आगे की व्यवस्था यह है कि जिस जीव मे दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा

क्षयोपशम हो जाता है उस जीव की विकास को प्राप्त वह उपयुक्ताकार ज्ञानरूप भाववती शक्ति तो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूप परिणत हो जाती है तथा साथ ही मन, वचन और काय की अधीनता मे क्रियाशील होती हुई वह क्रियावती-शक्ति भी—जैसा-जैसा चारित्र मोहनीय कर्म के उदय का यथा-योग्य रूप मे अभाव होता जाता है—वैसी-वैसी निवृत्यश के रूप मे सम्यक् चारित्र रूप परिणत होती जाती है।

इससे यह निर्णीत होता है कि जीव की विकास को प्राप्त उपयुक्ताकार ज्ञानरूप भाववती शक्ति का तो दर्शन मोहनीय कर्म के उदय मे मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानरूप व उसी दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम मे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप परिणमन होता है तथा जीव की मन, वचन और काय की अधीनता मे क्रियाशील होती हुई क्रियावतीशक्ति का चारित्र मोहनीय कर्म के उदय मे मिथ्याचारित्ररूप और उसी चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम मे निवृत्यश के रूप मे सम्यक् चारित्ररूप परिणमन होता है।

यद्यपि जीव की क्रियावती शक्ति की क्रियाशीलता स्वभावत ऊर्ध्वगमन के रूप मे होना चाहिये परन्तु जीव जब तक ससारी बना हुआ है तब तक उसकी वह क्रियावतीशक्ति यथासम्भव मन, वचन और काय की अधीनता मे ही क्रियाशील हो रही है।

जीव की क्रियावती शक्ति मन, वचन और काय की अधीनता मे जो क्रियाशील हो रही है उसका नाम आगम मे 'योग' कहा गया है। अर्थात् आगम मे यह स्पष्ट बतलाया गया है कि मन, वचन और काय के सहयोग से आत्मप्रदेशो मे जो

हलन-चलन क्रिया होती है उसका नाम योग है। यह दो प्रकार का होता है—एक शुभरूप और दूसरा अशुभरूप। योग की शुभता का कारण पापकर्मों का मन्दोदय और पुण्यकर्मों का तीव्रोदय तथा यथायोग्य कर्मों का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है व योग की अशुभता का कारण पापकर्मों का तीव्रोदय और पुण्यकर्मों का मन्दोदय तथा यथायोग्य कर्मों का मन्द क्षयोपशम है।

जीव की क्रियावती शक्ति का मन, वचन और काय के आधार पर जो उपर्युक्त प्रकार के योग के रूप मे परिणमन होता है वह योग ही वास्तव मे कर्मबन्ध का कारण होता है लेकिन इसमे इतनी विशेषता है कि वह योग जब तक मोहनीय कर्म के उदय से प्रभावित (अनुरजित) रहता है तब तक तो जीव के साथ कर्मों का बन्ध प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के रूप मे चार प्रकार का होता है और जब योग मे मोहनीय कर्म का अनुरजन समाप्त हो जाता है तब स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध समाप्त हो जाते हैं तथा सामान्य योग के आधार पर केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ही हुआ करते हैं। इसी प्रकार जब योग का ही सर्वथा अभाव हो जाता है तब कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव हो जाता है।

इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि जीव की विकास को प्राप्त उपर्युक्ताकार ज्ञानरूप भाववती शक्ति की दर्शनमोह-कर्माधीनता के साथ योगरूप परिणत क्रियावती शक्ति को चारित्रमोहकर्माधीनता का जब तक सम्बन्ध रहता है तब तक तथा उनके क्रमश होने वाले अभाव मे कर्मबन्ध का रूप भिन्न-भिन्न प्रकार का ही होता है जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

सर्वप्रथम तो दर्शनमोहनीय कर्म के भेद मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति के अपने-अपने समय मे होने वाले उदय मे ही कर्मबन्ध का रूप पृथक्-पृथक् होता है। अर्थात् मिथ्यात्व कर्म के उदय के साथ नियम से अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहता है लेकिन सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति के अपने-अपने उदय के साथ अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय का नियम से अभाव रहता है इससे एक बात तो यह सिद्ध होती है कि जीव की ज्ञान शक्ति का प्रभाव उसकी क्रिया शक्ति पर पडता है और दूसरी यह बात सिद्ध होती है कि मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति की ज्ञान को विकृत करने की शक्ति मे हीनाधिक रूप से तरतमता पायी जाती है। इस तरह मिथ्यात्व कर्म के उदय के साथ जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय रहता है उस समय के बन्ध मे व सम्यग्मिथ्यात्व अथवा सम्यक् प्रकृति का उदय रहते हुए जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय का अभाव रहता है उस समय के बन्ध मे अन्तर हो जाता है। इसी तरह मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति के उदय का अभाव रहते हुए जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय का सद्भाव रहता है उस समय के बन्ध मे भी अन्तर हो जाता है और इसी तरह दर्शन मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति—ये तीन तथा चारित्रमोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी कषाय के भेद क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार इस—तरह सात प्रकृतियो के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के साथ अप्रत्यानावरणादि कषाय प्रकृतियो के उदय मे जो बन्ध होता है उसमे भी अन्तर हो जाता है तथा आगे भी जैसा-जैसा अप्रत्याख्यावरण व

उसके आगे प्रत्याख्यानवरण कषायो का अनुदय होता जाता है वैसा-वैसा वन्ध मे भी अन्तर होता जाता है और अन्त मे जव सज्वलन की अनुभाग शक्ति मे कमी होते-होते अप्रत्याख्याना-वरणादि सभी कपायो व नवनोकषांयो का सर्वथा अभाव हो जाता है तो स्थितिवन्ध और अनुभागवन्ध दोनो ही समाप्त हो जाते है केवल योगस्थिति के आधार पर प्रकृति वन्ध और प्रदेश बन्ध ही हुआ करते हैं।

ऊपर के कथन से यह भी सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण मोह कर्म के उदय मे जीव की क्रियावती शक्ति की जैसी क्रियाशीलता अर्थात् योग स्थिति रहती है वैसी दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाने पर नही रहती है। इसो तरह आगे जैसी-जैसी चारित्र मोहनीय कर्म की शक्ति भो क्षीण होती जाती है वैसा-वैसा योगस्थिति मे भी परिवर्तन होता जाता है। इप तरह योगस्थिति मे परिवर्तन होते जाने से किस गुणस्थान मे किन-किन कर्मों का और उन कर्मो को किन-किन प्रकृतियो का बन्ध होता है—इसका भी नियमन हो जाता है। कर्म ग्रन्थो मे इस विषय का भो विस्तार से विवेचन पाया जाता है।

इस प्रकार एक ओर तो दर्शनमोहनीय कर्म के आधार पर जीव का ज्ञान अनादि काल से विकृत होकर मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान रूप परिगत हो रहा है तथा दूसरी ओर दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से प्रभावित चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के आधार पर जीव की क्रियावती शक्ति का योगात्मक परिणमन भी मिथ्याचारित्र रूप परिणत हो रहा है। लेकिन जिस जीव मे दर्शन मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व

और सम्यक् प्रकृति नाम की तीन व चारित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियो का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है उस जीव को सर्व प्रथम तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन और आगम ज्ञानरूप व्यवहार सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि साथ-साथ-साथ होती है और इसके पश्चात् आत्मतत्त्व के प्रति अपनत्त्व रूप निश्चय सम्यग्दर्शन व आत्मज्ञान रूप निश्चय सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि भी उस जीव को साथ-साथ होती है। यहाँ यह वात स्पष्ट करने की है कि जीव मे आगमज्ञान और आत्मज्ञान तो सम्यग्दर्शन होने से पूर्व ही रहा करते है अन्यथा उसे सम्यादर्शन की उपलब्धि होना असभव हो जायगा। अत: जीव को सम्यग्दर्शन के साथ मे ही जो सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि होना आगम मे वतलाया गया है उसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शन होने पर ही जीव का आगमज्ञान व आत्मज्ञान सम्यक्पन का रूप धारण करता है इसके पूर्व नही।

जीव को जब उक्त प्रकार के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है तब अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव हो जाने से उसके साथ ही उस जीव की वृत्ति और प्रवृत्ति मे हिसादि पाँचो पापो की सकल्परूपता समाप्त हो जाने पर अन्याय, अत्याचार, उच्छृङ्खलता, स्वार्थपरता और आसक्ति आदि दोषो का रूप समाप्त होकर न्याय, सदाचार, समता, परोपकार और अनासक्ति आदि सद्गुणों के रूप का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस तरह तव उसकी प्रवृत्तियो मे जो हिसादि पापो की पुट दिखाई देती है उसका कारण उसकी जीवन सम्बन्धी अशक्ति पर आधारित आवश्यकता ही हुआ करता है। अर्थात् वह जीव यद्यपि हिसादि पापो से छुटकारा नही पा पाता है

फिर भी उसकी वे हिंसादि पाप प्रवृत्तियाँ इसदतन (सकल्प पूर्वक) न होकर मजबूरीवश ही हुआ करती हैं । जैनागम मे हिसादि पाँचो पापो को जो सकल्पी और आरम्भी—ऐसे दो-दो भेदो मे विभक्त किया गया है वह इसी अभिप्राय से किया गया है ।

इस तरह जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अशक्तिवश हिंसादि आरम्भी पापो को करता हुआ भी वह जीव पुण्य कर्मों के उदयानुसार देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दानरूप पुण्याचरण के भी कार्य किया करता है जिनके बल पर वह आगे चल कर क्रमश अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायो का अनुदय (उदयाभाव अर्थात् इनके वर्तमान मे उदय आने योग्य निषेको का उदयाभावी क्षय और आगामी काल मे उदय आने योग्य निषेको का सदवस्थारूप उपशम) करता हुआ व इसके भी आगे सज्वलन कषाय के तीव्र अनुभाग को उत्तरोत्तर कृश करता हुआ अन्त मे उक्त अप्रत्याख्यानावरणादि सभी कषायो और नव नोकषाओ का उपशम अथवा क्षय करने मे समर्थ हो जाता है ।

इसमे समझने की बात यह है कि प्रत्येक जीव की अनादि काल से ज्ञान रूप से विकसित उपयुक्ताकार रूप भाववती शक्ति का जो दर्शन मोहनीय कर्म के उदय के आधार पर मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान रूप परिणमन हो रहा है तथा योगस्थति को प्राप्त क्रियावती शक्ति का जो चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के आधार पर मिथ्याचारित्र रूप परिणमन हो रहा है यही उसके (जीवके) लिए ससार का कारण बन रहा है । लेकिन जिस जीव म थाक्रम से उक्त दर्शन मोहनीय कर्म और चारित्र मोहनीय

कर्म का उदय समाप्त हो जाता है अर्थात् यथाक्रम से दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्मों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है उस जीव की ज्ञान रूप भाववती शक्ति का उपयुक्ताकाररूप परिणमन तो दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप होने लगता है व योगस्थिति को प्राप्त क्रियावती शक्ति का निवृत्यंश के रूप मे परिणमन चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के आधार पर सम्यक् चारित्र-रूप होने लगता है जो उस जीव के लिये मोक्ष का कारण होता है। उनका (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का) विकास क्रम निम्न प्रकार है।

अनादिकाल से मोहनीय कर्म के उदय के अधीन होकर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप ससार मार्ग मे प्रवृत्त जीव मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त होने के लिये प्रथमत· गृहस्थ के छह आवश्यक कृत्य, देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान रूप पुण्याचरण को करता हुआ दर्शन मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति रूप तीन तथा चारित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार—इन सात प्रकृतियो का क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि—इन पाच लब्धियो के आधार पर यथायोग्य प्रकार उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम करके पूर्वोक्त प्रकार व्यवहार और निश्चय रूप से सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी बन कर पहले तो हिंसादि पापो पापो की सकल्प रूपता को समाप्त कर उन पापो को [illegible] आरम्भी रूपता मे परिणत करता है व पश्चात् पूर्वोक्त

देवपूजा आदि पुण्याचरणरूप कार्यो के बल पर ही अप्रत्या-ख्यानावरणादि कषायो की उदयस्थिति को समाप्त करने के साधन उपलब्ध करके उन कषायो का क्रमश अनुदय (उदयाभाव) करता हुआ उक्त आरम्भी पापो का धीरे-धीरे त्याग कर वह यथायोग्यरूप मे अरणुव्रत, महाव्रत आदि व्यवहारचारित्र की ओर बढने लगता है साथ ही उसमे पुण्याचरण की विशदता भी आती जाती है और इस तरह आरम्भी पापो के त्याग मे वृद्धि करता हुआ वह जीव समस्त वाह्य प्रवृत्तियो से छुटकारा पाकर धर्म ध्यान मे स्थित होकर सज्वलन कषाय की तीव्र अनुभाग शक्ति को कृश करके क्रमश अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामो को धारण करता हुआ अन्त मे उक्त सम्पूर्ण कषायो का व नव नोकषायो का उपशम या क्षय करके औपशमिक या क्षायिक रूप मे यथाख्यात चारित्र का धारक निश्चय सम्यक् चारित्री हो जाता है।

इस विवेचन से यह बात सिद्ध होती है कि सकल्पी पापो का त्याग हो जाने के पश्चात् जीव द्वारा आरम्भी पापो के त्याग की प्रक्रिया को अपना लिया जाना ही यथायोग्य अरणुव्रत, महाव्रत आदि व्यवहार आदि सम्यक्चारित्र का रूप है और चकि आरम्भी पापो के त्याग की इस प्रक्रिया के आधार पर ही जीव समस्त आरम्भी पापो का त्याग हो जाने पर अन्त मे आत्मलीनता रूप निश्चय चारित्र की प्राप्ति करने मे समर्थ होता है अन्यथा नही, अतएव इसे आगम मे निश्चय सम्यक् चारित्र का कारण वतलाया गया है। इस तरह जो व्यक्ति उक्त अरणुव्रत, महाव्रत आदि रूप व्यवहार सम्यक् चारित्र को पुण्याचरण का रूप देकर ससार का कारण मानते हुए उसमे

मोक्षमार्गता का निषेध करते हैं व इस तरह मोक्षमार्ग मे उसकी महत्ता को कम कर देना चाहते हैं वे भ्रम मे है क्योकि उपर्युक्त संकल्पी पापो को समाप्त करने के पश्चात् पूर्वोक्त ढग से समस्त आरम्भी पापो की समाप्ति करने रूप पुरुपार्थ का नाम ही व्यवहारचारित्र सिद्ध होता है। इससे दूसरी यह वात सिद्ध होती है कि जो व्यक्ति उपर्युक्त प्रकार के व्यवहार सम्यक् चारित्र को अपनाने के विना ही निश्चय सम्यक् चारित्र को प्राप्त करने के स्वप्न देखते है वे भी भ्रमरूपी पिशाच से अभिभूत हो रहे हैं कारण कि मन, वचन और काय की एकता (समन्वय) पूर्वक सकल्पी पापो का त्याग हो जाने अर्थात् जीव के इस तरह सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी वन जाने के अनन्तर जव तक उसमे (जीव मे) मन, वचन और काय की एकता (समन्वय) पूर्वक ही आरम्भी पापो के त्याग रूप व्यवहार सम्यक् चारित्र पूर्ण नही हो जाता है तव तक उसको (जीव को) पूर्वोक्त आत्मलीनतारूप निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति असम्भव है।

माना कि मिथ्यादृष्टि जीव भी मन, वचन और काय की एकता (समन्वय) पूर्वक आरम्भी पापो का त्यागी होकर वाह्य (द्रव्य) रूप मे निर्दोप अणुव्रती और महाव्रती वन जाता है क्योकि अभव्य जो नवमग्रैवेयक तक पहुँचता है उसका कारण उक्त प्रकार निर्दोष महाव्रतो का पालन करना ही है। परन्तु यहाँ यह वात ध्यान मे रखने को है कि मिथ्यादृष्टि जीव जो अणुव्रतो या महाव्रतो का उक्त प्रकार निर्दोष पालन करता है यह सव वह मोहनीय कर्म के मन्दोदय और पुण्यकर्मो के तीव्रोदय के आधार पर सासारिक अभ्युदय की प्राप्ति के लिये ही करता है अत सांकल्पिक पापो का त्याग न होने के कारण

उसका वह आरम्भी पापो का त्याग व्यवहार सम्यक् चारित्र नही कहला सकता है फिर भी यदि कोई व्यक्ति या दल इसे व्यवहारचारित्र कहने का आग्रह करता है तो यह पुण्याचरण के रूप मे व्यवहारचारित्र हो सकता है और उसमे भी इतनी विशेपता होगी कि वह यदि अभव्य मिथ्यादृष्टि का पुण्याचरण है तो उसे कथनमात्र व्यवहारचारित्र माना जायगा, क्योंकि वास्तव मे तो वह पूर्वोक्त प्रकार पुण्याचरण ही होगा। इसी प्रकार यदि वह भव्यमिथ्यादृष्टि का व्यवहारचारित्र है तो पुण्याचरण के रूप मे सम्यग्दर्शन की कारणता के आधार पर उसे उपचरित व्यवहारचारित्र भी कहा जा सकेगा और यदि वह सम्यग्दृष्टि के सकल्पी पापो के त्यागपूर्वक अप्रत्याख्यानावरणादि कपायो के अनुदय आदि के आधार पर निष्पन्न हुआ है तो उसे तव निश्चय सम्यक् चारित्र की कारणता के आधार पर वास्तविक (सद्भूत) व्यवहार सम्यक् चारित्र कहा जायगा। उसे उस हालत में कथनमात्र, निरर्थक, मिथ्या या कल्पित व्यवहार चारित्र कदापि नही कहा जा सकेगा। इससे यह वात भी फलित होती है कि जो व्रताचरण भले ही वह अणुव्रत या महाव्रत रूप ही क्यो न हो—यदि मन, वचन और काय की एकता (समन्वय) पूर्वक निर्दोपता लिये हुए न हो तो वह ढोंग या पाखण्ड के रूप मे पापाचरण रूप मिथ्याचारित्र ही माना जायगा।

यह विवेचन इस वात को भी अच्छी तरह स्पष्ट कर देता है कि जो व्यक्ति व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक् चारित्र मे मोक्षमार्गता का निषेध करने पर तुले हुए हैं वे एकान्तपक्षी मिथ्यादृष्टि ही हैं। इसी तरह जो

व्यक्ति व्यवहार चारित्र को शरीर की क्रिया मानते हैं वे अज्ञानी और विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं क्योकि ऊपर कहा जा चुका है कि जीव की भाववती और क्रियावती नाम की दो शक्तिया है, इनमे से क्रियावती शक्ति की मन, वचन और काय की एकता (समन्वय) पूर्वक सकल्पी पापो का त्याग हो जाने पर आरम्भी पापो के त्याग रूप जो परिणति होती है उसका नाम ही व्यवहार सम्यक् चारित्र है शरीर की क्रिया का नाम व्यवहार-सम्यक् चारित्र नही है। इसी तरह जिन व्यक्तियो का यह मत है कि जीव के निमित्त से होने वाली शरीर की क्रिया का नाम व्यवहार सम्यक् चारित्र है उन्हे भी अज्ञानियो को श्रेणी मे ही गर्भित किया जायगा।

इस प्रकार पूर्वोक्त यह बात अच्छी तरह निर्णीत हो जाती है कि जीव की भाववती शक्ति पर अनादिकाल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यान्तिर कर्मों का प्रभाव पड रहा है लेकिन साथ मे यह बात भी है कि प्रत्येक जीव मे अनादिकाल से ही इन तीनो कर्मों का समान क्षयोपशम रहता आया है अत वह भाववती शक्ति किन्ही अशो मे अनादिकाल से ही समान रूप से ज्ञान, दर्शन और वीर्यरूप मे विकसित रहती आयी है। इतनी बात अवश्य है कि प्रत्येक जीव की विकास को प्राप्त उपयुक्ताकाररूप ज्ञानशक्ति को दर्शनमोहनीय-कर्म का उदय अनादिकाल से ही प्रभावित कर रहा है अत. प्रत्येक जीव अनादिकाल से ही मिथ्यादृष्टि और मिथ्याज्ञानी बन रहा है। इसी तरह जीव की क्रियावती शक्ति भी अनादि-काल से यथायोग्य मन, वचन और काय के अधीन होकर योग-रूप परिणत होती आयी है और इस तरह योगरूप परिणत उस

क्रियावती शक्ति पर चारित्र मोहनीयकर्म का उदय अनादिकाल से अपना प्रभाव जमा रहा है अत प्रत्येक जीव की वह मानिसिक, वाचनिक और कायिक योगरूप क्रिया अनादिकाल से मिथ्याचारित्र रूप परिणत होती आयी है। जिन जीवो मे दर्शनमोहनीय कर्म की पूर्वोक्त तीन और चारित्रमोहनीय कर्म के एक भेद अनन्तानुवन्धी की पूर्वोक्त चार—इस तरह सात कर्म प्रकृतियो का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के रूप में अभाव हो जाता है उन जीवो मे एक ओर तो विकास को प्राप्त उक्त ज्ञानशक्ति इन्द्रियो और मस्तिष्क की सहायता से अपना पदार्थ-ज्ञानरूप व्यापार करती हुई भी दर्शनमोहनीयकर्म का उक्त प्रकार अभाव हो जाने से निर्विकारता को प्राप्त हो जाती है अर्थात् अपनी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानरूपता को समाप्त कर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपता को प्राप्त हो जाती है और दूसरी ओर मन, वचन और काय की सहायता से अपना व्यापार करती हुई अर्थात् योगरूपता को प्राप्त उक्त क्रियावती शक्ति भी अनन्तानुबन्धी कर्म का उक्त प्रकार अभाव हो जाने से अपने मिथ्याचारित्ररूप व्यापार मे परिवर्तन ला देती है अर्थात् उस हालत मे मिथ्याचारित्र की सकल्परूपता समाप्त होकर केवल आरम्भरूपता ही रह जाती है। इसी प्रकार उन जीवो मे आगे जैसा-जैसा चारित्र मोहनीयकर्म के दूसरे भेद अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो के उदय का यथायोग्य प्रकार से अभाव होता जाता है वैसा-वैसा आरम्भी पापो के त्यागरूप व्यवहार सम्यक्-चारित्र का रूप उस योगरूप क्रियावती शक्ति मे आता जाता है जिसके वल पर उक्त ज्ञानशक्ति के विकास मे भी वृद्धि होती जाती है तथा अन्त में जब दशम गुणस्थान के अन्त समय में चारित्रमोहनीयकर्म का सर्वथा उपशम या क्षयरूप से अभाव हो

जाता है तब आरम्भी पापो के सर्वथा त्यागरूप व्यवहार सम्यक् चारित्र की पूर्णता उस योगरूप क्रियावती शक्ति मे आ जाती है जिसके बल पर जीव आत्मलीनतारूप निश्चय सम्यक् चारित्र को प्राप्त कर लेता है और यदि उक्त प्रकार जीवो मे सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है तो वे जीव द्वादश गुणस्थान के अन्त समय मे सम्पूर्ण ज्ञानावरण, सम्पूर्ण दर्शनावरण और सम्पूर्ण अन्तराय कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य के धनी हो जाते हैं। उनमे तब केवल योगरूपता को प्राप्त क्रियावती शक्ति ही कर्मबन्ध का कारण रह जाती है जो कि केवल सातावेदनीय कर्म का मात्र प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ही उन जीवो के साथ कराती है और आगे चल कर जब क्रियावती शक्ति की योगरूपता समाप्त हो जाती है तो बन्ध का सर्वथा अभाव हो जाता है तथा बद्धकर्मों का भी यथासमय अभाव हो जाने पर नोकर्मबद्धता से भी वे जीव छुटकारा पा लेते है।

मैने यहाँ पर जीव की भाववती और क्रियावती दोनो शक्तियो के कार्यों का विश्लेषण किया है जिससे ज्ञात होता है कि वास्तव मे ये दोनो शक्तियाँ ही अपने-अपने ढग से कर्मों और नोकर्मों की यथायोग्य अधीनता मे दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्रमोहनीयकर्म के यथायोग्य सहयोग से विकृत होकर जीव को ससारी बनाये हुए हैं। इन दोनो शक्तियो के कार्यों का यह विश्लेषण जीव की ससार और मोक्ष की प्रक्रिया पर अच्छा प्रकाश डालता है तथा विद्वानो और जनसाधारण मे जो व्यवहार और निश्चय के रूपो को लेकर परस्पर विवाद की अत्यन्त कटुस्थिति उत्पन्न होगयी है उसकी समाप्ति मे भी यह

८ न्त सहायक हो सकता है। मेरा विद्वानो से निवेदन है कि वे इस पर तर्क और आगम के आधार पर विचार करने का प्रयत्न करे। वर्तमान मे विद्वानो का ध्यान आगम के रहस्यो का पता लगाने की ओर नही है यह वडे दु ख की वात है।

इस प्रकरण मे मेरा प्रयत्न जीव की कर्मों और नोकर्मों के साथ वद्धता तथा दो आदि वस्तुओ के सयोग सामान्य, निमित्त नैमित्तिक भाव और आधाराधेयभाव आदि की वास्त-विकता (सद्भूतता) को वतलाने, व्यवहार और उपचार के अर्थों को स्पष्ट करने एव व्यवहार की हेयता व उपादेयता तथा उसके छूटने न छूटने के उपायो पर प्रकाश डालने का रहा है। आशा है कि विद्वानो का ध्यान इस ओर अवश्य जायग ।

करता हुआ दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से प्रभावित होकर मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) के रूप मे परिणमन कर रहा है।

इसी प्रकार जीव की स्वभावभूत क्रिया शक्ति की जो मन, वचन और काय की अधीनता मे योगात्मक स्थिति अनादि काल से बनी हुई है उसका भी चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के प्रभाव से अविरत (मिथ्या चारित्र) रूप परिणमन हो रहा है। इस प्रकार जीव की ज्ञानोपयोगरूपता को प्राप्त भाववती शक्ति और योगरूपता को प्राप्त क्रियावती शक्ति दोनो ही जब यथायोग्य मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन), अज्ञान (मिथ्याज्ञान) और अविरति (मिथ्या चारित्र) रूप परिणमन अनादिकाल से करती आ रही है तो उनके इन परिणमनो के आधार पर जीव के साथ पौद्गलिक कार्माणवर्गणाये बद्ध होकर मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूप परिणमन अनादि काल से सतत करती आ रही हैं। समयसार कर्तृकर्माधिकार की ८७, ८८ और ८९ सख्याक गाथाओ मे जीव की स्वभावभूत भाववती तथा क्रियावती शक्तियो व कर्माणवर्गणाओ के इन्ही परिणमनो का प्रतिपादन किया गया है।

यद्यपि जीव की भाववती और क्रियावती शक्तियो व कार्माणवर्गणो का यथायोग्य उपर्युक्त मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिरूप परिणमन एक-दूसरे के सहयोग से अनादिकाल से होता आ रहा है परन्तु जीव की ज्ञानोपयोगरूप भाववती शक्ति का मिथ्यात्व और अज्ञान रूप तथा योगात्मक क्रियावती शक्ति का अविरति रूप परिणमन न हो तो इसके लिए जीव को आगम मे यह उपदेश दिया गया है कि वह ऐसे साधन जुटाने

अत्यन्त सहायक हो सकता है। मेरा विद्वानों से निवेदन है कि वे इस पर तर्क और आगम के आधार पर विचार करने का प्रयत्न करे। वर्तमान मे विद्वानो का ध्यान आगम के रहस्यो का पता लगाने की ओर नही है यह वडे दु ख की बात है।

इस प्रकरण मे मेरा प्रयत्न जीव की कर्मों और नोकर्मों के साथ वद्धता तथा दो आदि वस्तुओ के सयोग सामान्य, निमित्त नैमित्तिक भाव और आधाराधेयभाव आदि की वास्तविकता (सद्भूतता) को वतलाने, व्यवहार और उपचार के अर्थों को स्पष्ट करने एव व्यवहार की हेयता व उपादेयता तथा उसके छूटने न छूटने के उपायो पर प्रकाश डालने का रहा है। आशा है कि विद्वानो का ध्यान इस ओर अवश्य जायगा।

जीव की वास्तविकता (सद्भूतता को प्राप्त) कर्मबद्धता और नोकर्मबद्धता मे से नोकर्मवद्धता की समाप्ति—जैसा कि मैं पूर्व मे बतला चुका हूँ—कर्मवद्धता के समाप्त हो जाने पर अपने आप हो जाती है क्योंकि नोकर्मवद्धता का अस्तित्व कर्मबद्धता की सत्ता पर ही निर्भर है। कर्मवद्धता की समाप्ति जीव तदनुकूल पुरुषार्थ द्वारा कर सकता है—इस वात को ऊपर बतला दिया गया है।

इस सव विवेचन का सक्षेप मे सार यह है कि जीव अनादिकाल से विविध प्रकार के पौद्गलिक कर्मों के साथ वद्ध हो रहा है उनमे से ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के आधार पर उसकी स्वभावभूत भाववती शक्ति का ज्ञान के रूप मे यथासम्भव विकास हो रहा है वह विकसित ज्ञान हो इन्द्रियादिक के सहयोग से अपना परिणमन पदार्थ ज्ञानरूप से उपयोगात्मक

करता हुआ दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से प्रभावित होकर मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) के रूप मे परिणमन कर रहा है।

इसी प्रकार जीव की स्वभावभूत क्रिया शक्ति की जो मन, वचन और काय की अधीनता मे योगात्मक स्थिति अनादि काल से बनी हुई है उसका भी चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के प्रभाव से अविरत (मिथ्या चारित्र) रूप परिणमन हो रहा है। इस प्रकार जीव की ज्ञानोपयोगरूपता को प्राप्त भाववती शक्ति और योगरूपता को प्राप्त क्रियावती शक्ति दोनो ही जब यथायोग्य मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन), अज्ञान (मिथ्याज्ञान) और अविरति (मिथ्या चारित्र) रूप परिणमन अनादिकाल से करती आ रहा है तो उनके इन परिणमनो के आधार पर जीव के साथ पौद्गलिक कार्माणवर्गणाये बद्ध होकर मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूप परिणमन अनादि काल से सतत करती आ रही है। समयसार कर्तृकर्माधिकार की ८७, ८८ और ८९ सख्याक गाथाओ मे जोव की स्वभावभूत भाववती तथा क्रियावती शक्तियो व कर्माणवर्गणाओ के इन्ही परिणमनो का प्रतिपादन किया गया है।

यद्यपि जीव की भाववती और क्रियावती शक्तियो व कार्माणवर्गणो का यथायोग्य उपर्युक्त मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिरूप परिणमन एक-दूसरे के सहयोग से अनादिकाल से होता आ रहा है परन्तु जीव की ज्ञानोपयोगरूप भाववती शक्ति का मिथ्यात्व और अज्ञान रूप तथा योगात्मक [illegible] शक्ति का अविरति रूप परिणमन न हो तो [illegible] आगम मे यह उपदेश दिया गया है.

का प्रयत्न करे जिन साधनो के आधार पर उसकी भाववती क्रियावती शक्तियो का आगे चलकर उक्त मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूप परिणमन होना रुक जाता है। जीव के इस प्रयत्न का नाम सम्यक् पुरुपार्थ है।

तात्पर्य यह है कि जीव का पुरुपार्थ दो तरह का होता है। उनमे से एक पुरुपार्थ तो वह है जिसके आधार पर उसकी ज्ञानोपयोग रूप भाववती शक्ति का मिथ्यात्व और अज्ञानरूप परिणमन होता है व योगात्मक क्रियावती शक्ति का अविरति रूप परिणमन होता है तथा दूसरा पुरुपार्थ वह है जिसके आधार पर उसकी ज्ञानोपयोगरूप भाववती शक्ति का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप परिणमन होता है और योगात्मक क्रियावती शक्ति का निवृत्यश के रूप मे सम्यक् चारित्ररूप परिणमन होता है। इन दोनो प्रकार के पुरुपार्थो मे से पहला पुरुपार्थ तो मोहनीय कर्म के तीव्रोदय, अन्तराय कर्मो के मन्द क्षयोपशम और पुण्य कर्मो के मन्दोदय के आधार पर अशुभ रूप होता है व दूसरा पुरुपार्थ मोहनीय कर्म के मन्दोदय और पुण्य कर्मो के तीव्रोदय तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मो के यथायोग्य सातिशय क्षयोपशम के आधार पर शुभरूप होता है। पहले पुरुपार्थ को पापाचरण कहा जाता है और दूसरे पुरुपार्थ को पुण्याचरण कहा जाता है जो देव पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान आदि रूप होता है। इस पुण्याचरण को अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव अपनाता है तो उसे कथन के रूप मे व्यवहार धर्म कह सकते है क्योंकि इसके बल पर अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि क्रमश क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धि को प्राप्त कर लेता है और मरण के पश्चात् नवम ग्रैवेयक तक भी पहुँच जाता है परन्तु वह

निश्चय धर्म का कदापि कारण नही होता है। यदि भव्य मिथ्यादृष्टि जीव इस पुण्याचरण को अपनाता है तो वह इसके बल पर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि के प्राप्त कर सम्यग्दर्शन को भी प्राप्त कर सकता है। इस तरह इस पुण्याचरण को सम्यग्दर्शन की कारणता के आधार पर उपचरित व्यवहार धर्म भी कह सकते हैं। यद्यपि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर जीव अनन्तानुवन्धी कषाय का उपशम या क्षय हो जाने के कारण सङ्कल्पी पापो का त्यागी हो जाता है परन्तु अशक्तिवश आरम्भी पापो का किचिन्मात्र भी त्याग करने मे वह असमर्थ रहता है अत उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। लेकिन यदि यही जीव अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो के अनुदय के आधार पर यथायोग्य आरम्भी पापो का भी त्याग कर देता है तो वह वास्तविक (सद्भूत) व्यवहार धर्मात्मा हो जाता है। वास्तविक व्यवहार धर्म के रूप मे यह प्रक्रिया दशम गुणस्थान तक चला करती है क्योकि कषाय का उदय यथासम्भव रूप मे दशम गुणस्थान तक रहने के कारण वह जीव पूर्णरूप से आरम्भी पापो का त्यागी नही हो पाता है और चूकि दशम गुणस्थान के अन्त समय मे कषाय का पूर्णतया या उपशम या क्षय हो जाता है अत वह एक ओर तो व्यवहार धर्म की पूर्णता प्राप्त कर लेता है व दूसरी ओर इसी व्यवहारधर्म के आधार पर एकादश व द्वादश गुणस्थान मे वह क्रमश. औपशमिक व क्षायिक रूप मे यथाख्यान चारित्र को प्राप्त होकर आत्मलीनता रूप निश्चय सम्यक् चारित्र का धारक बन जाता है।

इस तरह चरणानुयोग की दृष्टि से विचार किया जाय तो अशुभ पुरुषार्थ अर्थात् पापाचरण व्यवहार सर्वथा हेय है, शुभ

रूप पुरुपार्थ अर्थात् पुण्याचरण रूप व्यवहार तव तक उपादेय है जव तक जीव समस्त आरम्भी पापो से निवृत्तिरूप व्यवहार धर्म की पूर्णता प्राप्त नही कर लेता है और जव वह जीव यथाख्यान चारित्ररूप निश्चय धर्म को प्राप्त कर लेता है तो व्यवहार धर्म को उपयोगिता समाप्त हो जाती है ।

यहाँ इतना विशेप समझ लेना चाहिये कि वाह्य मे व्यवहार धर्म की उपयोगिता पष्ठ गुणस्थान तक ही दृष्टि में आती है लेकिन अन्तरगवृत्ति के आधार पर जीव मे व्यवहार धर्म की पूर्णता दशम गुणस्थान के अन्त समय मे जव सूक्ष्म लोभ का भी अभाव हो जाता है तभी हुआ करती है ।

यह जो विवेचन यहाँ किया गया है इससे स्पष्ट हो जाता है कि प० फूलचन्द्रजी को व्यवहार को या व्यवहार धर्म को सर्वथा हेय वतलाने से पूर्व इन सव वातो पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिये था जवकि वे आगम के अच्छे विद्वान हैं । जैनतत्त्वमीमासा मे एकागी वर्णन करके उन्होने अपनी आगमज्ञता को तो वट्टा लगाया ही है साथ ही अपना और दूसरो का वडा भारी अहित किया है । अव भी उन्हे इस पर गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिये ।

अव यहाँ पर आगे जैनतत्त्वमीमासा मे वर्णित अन्य वातो पर विचार किया जाता है—

(१) पं० फूलचन्द्र जी का मत है कि कार्योत्पत्ति मे निमित्त सार्थक न होकर निरर्थक ही है । उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि के लिए जैनतत्त्वमीमासा के विपय प्रवेश प्रकरण मे

पृष्ठ १६ पर तत्त्वार्थ सूत्र का निम्नलिखित सूत्र उद्धृत किया है—

मोहक्षयाज्ज्ञान दर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलम् ।
॥१०-१॥

अर्थ—मोहनीय कर्म के क्षय से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के क्षय से केवल ज्ञान होता है ।

इसके अनन्तर ही वहां पर प० जी ने उक्त सूत्र के अर्थ के विषय मे अपना मन्तव्य निम्न प्रकार प्रगट किया है—

"वहाँ पर केवल ज्ञान की उत्पत्ति का हेतु क्या है ? इसका निर्देश करते हुए यह बतलाया गया है कि वह मोहनीय कर्म के क्षय के बाद ज्ञानावरणादि तीन कर्मो के क्षय से होता है । यहाँ पर क्षय का अर्थ प्रध्वसाभाव है अत्यन्ताभाव नही, क्योकि किसी भी द्रव्य का पर्यायरूप से ही नाश होता है द्रव्य रूप से नही । अब विचार कीजिये कि ज्ञानावरणादि रूप जो कर्म पर्याय है उसके नाश से उसकी अकर्मरूप उत्तर पर्याय प्रगट होगी कि जीव की केवल ज्ञानपर्याय प्रगट होगी ? एक बात और है वह यह कि जिस समय केवलज्ञानपर्याय प्रगट होती है उस समय तो ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव ही है और अभाव को कार्योत्पत्ति मे कारण माना नही जा सकता है। यदि अभाव को कार्योत्पत्ति मे कारण माना जाय तो खरविषाण या आकाश कुसुम को भी कार्योत्पत्ति मे कारण मानना पडेगा । यदि कहो कि यहाँ पर अभाव से सर्वथा अभाव नही लिया गया है किन्तु भावान्तर स्वभाव अभाव लिया गया है तो हम पूछते है कि वह भावान्तर स्वभाव अभाव क्या वस्तु है ? उसका नाम निर्देश होना चाहिये । यदि कहो कि यहाँ पर भावान्तर स्वभाव अभाव से ज्ञानावरणादि कर्मो की अकर्म रूप उत्तर पर्याय

ली गयी है तो हम पूछते हैं कि आप यह किस आधार पर कहते है ? उक्त सूत्र से तो यह अर्थ फलित नही होता। अत इसे निमित्त कथन परक वचन न मानकर हेतु परक वचन मानना चाहिये। स्पष्ट है कि यहां पर जीव की केवलज्ञानपर्याय प्रगट होने का जो मुख्य हेतु उपादान कारण है उसे तो गौण कर दिया गया है और जो मतिज्ञान आदि पर्यायो का उपचरित हेतु था उसके अभाव को हेतु को बनाकर उसकी मुख्यता से यह कथन किया गया है। यहाँ दिखलाना तो यह है कि जब केवल ज्ञान अपने उपादान के लक्ष्य से प्रगट होता है तब ज्ञानावरणादि कर्म रूप उपचरित हेतु का सर्वथा अभाव रहता है। परन्तु इसे (अभाव को) हेतु बनाकर यो कहा गया है कि ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने से केवल ज्ञान प्रगट होता है। यह व्याख्यान की शैली है जिसके शास्त्रो मे पद-पद पर दर्शन होते हैं।"

यह तत्त्वार्थ सूत्र के उल्लिखित सूत्र वाक्य का प० फूलचन्द्रजी द्वारा निकाला गया निष्कर्ष है । इसमे पडित जी का "इसे निमित्त कथन परक वचन न मानकर हेतु परक वचन मानना चाहिये" यहाँ से लेकर "परन्तु इसे (अभाव को) हेतु बनाकर यो कहा गया है कि ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने पर केवल ज्ञान प्रगट होता है" यहाँ तक के कथन से क्या अभिप्राय है जो प्रकृत के लिए उपयोगी हो यह मेरी समझ मे नही आया है। मुझे तो उनका यह कथन विसगत ही जान पडता है तथा इसमे उन्होने जो यह लिखा है कि "निमित्त कथन परक वचन न मानकर हेतु परक वचन मानना चाहिये" इस विषय मे मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि इसमे निर्दिष्ट "निमित्त कथन परक वचन" और "हेतु परक वचन" इन दोनो वाक्याशो से

उनके उक्त मत की पुष्टि के लिए उपयोगी अलग-अलग कौन-कौन सा अभिप्राय सिद्ध होता है यह भी मेरी समझ मे नही आ रहा है क्योकि हेतु शब्द भी सामान्य रूप से कारणता का ही बोध कराता है। परन्तु इसी मे अन्तिम निष्कर्ष के रूप मे उन्होने जो यह लिखा है कि "यहाँ पर दिखलाना तो यह है कि जब केवल ज्ञान अपने उपादान के लक्ष्य से प्रगट होता है तब ज्ञानावरणादि उपचरित हेतु का सर्वथा अभाव रहता है परन्तु इसे (अभाव को) हेतु बनाकर यो कहा गया है कि ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने से केवल-ज्ञान प्रगट होता है" इस लेख से वे यह बतलाना चाहते हैं कि केवलज्ञान सिर्फ अपने उपादान के बल पर ही प्रगट होता है उसके प्रगट होने मे निमित्तो के सहयोग की आवश्यकता नही रहा करती है। यही कारण है कि "ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय से केवलज्ञान प्रगट होता है" इसे उन्होने शास्त्रकारो द्वारा अपनायी गयी व्याख्यान की शैली मात्र कहा है। अर्थात् प० फूलचन्द्र जी के मत से इस बात मे कुछ भी तथ्यांश नही है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय से केवल ज्ञान प्रगट होता है केवल यह कथन की शैली मात्र है।

पण्डित जी के उक्त कथन के सम्बन्ध मे मेरा कहना यह है कि केवल ज्ञान की उत्पत्ति मे उपादान कारण के अलावा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय रूप निमित्त कारण भी होता है। यह बात मैं इस आधार पर कह रहा हूँ कि केवल ज्ञान अपने आप मे जीव की स्वपरप्रत्यय पर्याय है इसलिए वह जीव के स्वभावभूत ज्ञायकभाव की पूर्ण विकास रूप परिणति होने के कारण अपने उपादान मे प्रगट होकर भी तब तक प्रगट नही

होता है जब तक ज्ञानावरणादि कर्मों का सर्वथा क्षय नही हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि आगम मे पदार्थो की पर्यायो के स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय ऐसे दो भेद बतलाये गये हैं तथा इन दोनो मे अन्तर भी सिर्फ इस बात का बतलाया गया है कि जहाँ स्वप्रत्यय पर्याय परनिरपेक्ष होकर ही अपने उपादान मे प्रगट हो जाती है वहाँ स्वपरप्रत्यय पर्याय यद्यपि प्रगट तो अपने उपादान मे ही होती है फिर भी उसकी प्रगटता मे पररूप निमित्त की सहायता अपेक्षित रहा करती है।

मुझे विश्वास है कि प० फूलचद्र जी भी केवलज्ञान को जीव की स्वपरप्रत्यय पर्याय मानने मे मेरे साथ होंगे और फिर भले ही वे इसे जीव की स्वपरप्रत्यय पर्याय न मानें लेकिन आगम मे तो वस्तु स्वभाव के शक्त्यशो मे (अविभागी प्रतिच्छेदो मे) होने वाली षड्गुणहानि वृद्धि रूप पर्यायो को ही सिर्फ स्वप्रत्यय पर्याये स्वीकार किया गया है अत इनके अतिरिक्त वस्तु मे पायी जाने वाली सभी पर्यायो का अन्तर्भाव स्वपर प्रत्यय पर्यायों मे ही होता है क्योकि स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय के अलावा पर्यायो के अन्य किसी प्रकार के भेदो का कथन आगम मे नही पाया जाता है। अत. यह बात निश्चित समझना चाहिये कि जीव की केवल ज्ञान पर्याय का समावेश उसकी स्वपरप्रत्यय पर्यायो मे ही होता है और इसलिए यह बात भी निश्चित हो जाती है कि केवल ज्ञान अपने उपादान मे प्रगट होकर भी तब तक प्रगट नही होता है जब तक ज्ञानावरणादि उक्त तीन कर्मों का सर्वथा क्षय नही हो जाता है। इस तरह मैं दृढ़ता के साथ यह कह सकता हूँ कि

"ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय से केवल ज्ञान प्रगट होता है" कथन के तथ्याश को सिर्फ शास्त्रकारो द्वारा अपनायी गई व्याख्यान की शैली मात्र कह कर टाला नही जा सकता है ।

मेरे इस विवेचन से प० फूलचन्द्र जी का यह कथन कि "यहाँ पर जीव की केवल ज्ञान पर्याय प्रगट होने का जो मुख्य हेतु उपादान कारण है उसे तो गौण कर दिया गया है और जो जीव की मतिज्ञान आदि पर्यायो का उपचरित हेतु था उसके अभाव को हेतु बनाकर उसकी मुख्यता से यह कथन किया गया है" सुतराम् खण्डित हो जाता है । दूसरी बात यह है कि ज्ञानावरणादि कर्मों को मतिज्ञान आदि पर्यायो का उपचरित हेतु मानकर व उसके अभाव को केवल ज्ञान की उत्पत्ति मे हेतु वनाकर उसकी मुख्यता से कथन करने का यहाँ पर प्रयोजन क्या है ? और पण्डित का ऐसा लिखना क्या सगत है ? यह बात मैं पण्डित से पूछना चाहता हूँ । हालाकि उन्होने जैनतत्त्वमीमासा के पृष्ठ २१ पर यह सकेत किया है कि "सुगमता से इष्टार्थ का ज्ञान कराने के लिए ही यहाँ पर सूत्रकार ने उल्लिखित ढग से कथन करना उचित समझा है" फिर भी सूत्रकार के कथन मे इस प्रकार की असगत द्रावडी प्राणायाम की कल्पना करके प० फूलचन्द्र जी द्वारा सन्तोष कर लिए जाने पर भी मैं कहूँगा कि सूत्रकार ने उल्लिखित सूत्र वाक्य में ज्ञानावरणादि कर्मो के क्षय और केवलज्ञान मे निमित्त नैमितिक भाव नही बतलाकर सिर्फ सुगमता के साथ इष्टार्थ का ज्ञान कराने के लिए ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय केवलज्ञान की प्रगटता के अवसर पर मौजूद रहने के कारण इन दोनो मे कार्यकारणभाव का आरोप मात्र करके कथन भर कर दिया है—

इसका नियामक क्या है ? यद्यपि प० फूलचन्द्र जी ने अपने उक्त पक्ष की पुष्टि के लिये उक्त मन्तव्य मे कुछ तर्क उपस्थित किये है लेकिन उनसे उनके पक्ष की पुष्टि नही होती है । प० जी के वे तर्क निम्न प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरणादि रूप कर्म पर्याय के नाश से उसकी अकर्म रूप उत्तर पर्याय ही प्रगट होती है जीव की केवल ज्ञान पर्याय उससे प्रगट नही हो सकती है।

(२) ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय प्रध्वसाभाव रूप ही है और अभाव को कार्योत्पत्ति मे कारण मानने से खर विषाण या आकाश कुमुम का भी कार्योत्पत्ति मे कारण मानना होगा।

(३) यदि खर विषाण या आकाश कुसुम की कार्योत्पत्ति मे प्रसक्त कारणता को समाप्त करने के लिए अभाव को भावान्तर स्वभाव मान कर ज्ञानावरणादि कर्मों की अकम रूप उत्तर पर्याय को ही जीव की केवल ज्ञान पर्याय की उत्पत्ति मे कारण माना जाय तो यह भी एक निराधार कल्पना है क्योकि उक्त सूत्र से यह अर्थ फलित नही होता है कि ज्ञानावरणादि कर्मों की अकर्म रूप उत्तर पर्याय से जीव की केवल ज्ञान पर्याय प्रगट होती है।

यद्यपि मुझे पण्डित जी के प्रथम तर्क के इस कथन मे सामान्य रूप से कोई विवाद नही है कि ज्ञानावरणादि रूप कर्म पर्याय के नाश से उसकी अकर्म रूप उत्तर पर्याय प्रगट होती है, परन्तु इसके साथ ही मैं इतना और कहना चाहता हूँ कि ज्ञानावरणादि कर्मों को इस अकर्म रूप उत्तर पर्याय की प्रगटता जीव केवल ज्ञान पर्याय के प्रगट होने मे उपादान कारण न होकर निमित्त (सहायक) कारण होती है क्योकि ज्ञानावरणादि कर्म पर्याय का क्षय उसकी अकर्म रूप उत्तर पर्याय

की उत्पत्ति के अलावा और कोई वस्तु नही है। इस आधार से पण्डित जी के इस कथन का भी कोई महत्व नही रह जाता है कि "अभाव को कार्योत्पत्ति मे निमित्त मानने से अभावात्मक खरविषाण या आकाश कुसुम को भी कार्योत्पत्ति मे निमित्तता प्रसक्त हो जायगी," क्योकि मेरे उक्त कथन से केवल ज्ञान की उत्पत्ति मे ज्ञानावरणादि कर्मों की कर्मपर्याय के नाश से प्रगट होने वाली उनकी अकर्मरूप सत्तात्मक उत्तर पर्याय ही निमित्त (सहायक) सिद्ध होती है। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि ज्ञानावरणादि कर्मों की अकर्मरूप उत्तर-पर्याय जीव के साथ बद्धता रूप स्थिति की समाप्ति होकर पृथक् स्थिति का निर्माण हो जाना ही है क्योकि ज्ञानावरणादि कर्म कर्मरूप तभी तक रहते हैं और तब तक नियम से रहते हैं जब तक वे जीव के साथ बधे रहते हैं इसलिये जब उनका जीव के साथ विद्यमान बन्ध का विच्छेद होता है तो वे अपनी कर्म-रूपता को नियम से छोड देते है।

पण्डित जी का यह तर्क कि "अभाव को कार्योत्पत्ति मे निमित मानने से अभावात्मक खरविषाण या आकाश कुसुम को भी कार्योत्पत्ति मे निमित्त मानना पडेगा" गलत है कारण कि जैनदर्शन मे प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव—इन चारो प्रकार के अभावो को समान रूप से भावान्तर स्वभाव ही माना गया है। अर्थात जैन-दर्शन की मान्यता मे ऐसा एक भी अभाव नही है जिसमे भावान्तर स्वभाव रूपता न पायी जाती हो। जिन खरविषाण और आकाश-कुसुम रूप अभावो का उल्लेख पण्डित जी ने अपने मन्तव्य मे इस प्रसग मे किया है उनमे से खरविषाण रूप अभाव खर की विषाणरहित स्थिति तथा आकाश कुसुम रूप अभाव भी

आकाश की कुसुम रहित स्थिति के अलावा और क्या हो सकते हैं ? इस तरह इस कथन से यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि केवल भावात्मक पदार्थों को कार्योत्पत्ति मे कारण मानने पर भी उक्त आपत्ति का निराकरण नही हो सकता है, क्योकि भावात्मक पदार्थों को कार्योत्पत्ति मे कारण मानने पर भी यदि यह प्रश्न पण्डित जी के समक्ष प्रस्तुत किया जाय कि "इस तरह से भावान्तर स्वभाव रूप खरविषाण और आकाश-कुसुम को भी कार्य के प्रति कारणता की प्रसक्ति हो जायगी" तो फिर उनके पास क्या समाधान है ?

दूसरी बात यह है कि अभाव मे भी जो कारणता का निषेध किया जाता है वह निषेध अभाव के असत्तात्मक होने के सबब नही किया जाता है किन्तु वहा पर भी उक्त निषेध भाव पदार्थ की तरह कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक घटित न होने के आधार पर ही किया जाता है। अर्थात् वस्तु चाहे भावात्मक हो या चाहे अभावात्मक हो वह तब तक कार्य के प्रति कारण नही मानी जा सकती है जब तक कार्य के साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक घटित नही होता है और यदि कार्य के साथ भावात्मक वस्तु के समान अभावात्मक वस्तु का भी अन्वय-व्यतिरेक घटित हो जाय, जैसा कि जीव की केवलज्ञान पर्याय और ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय के मध्य घटित होता है, तो इस हालत मे उसे (अभाव को) भी जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार कार्य के प्रति कारण मानना अयुक्त नही है।

मैं पण्डित फूलचन्द्र जी से यह पूछना चाहूँगा कि वे क्या अन्वय-व्यतिरेक के अभाव मे भी केवल भावात्मकता के आधार पर किसी भी भावात्मक वस्तु को किसी भी कार्य के प्रति कारण मानने के लिये तैयार हैं ? यदि ऐसा है तो फिर घट

की उत्पत्ति के प्रति कुम्भकार की तरह तन्तुवाय को तथा पट की उत्पत्ति मे तन्तुवाय की तरह कुम्भकार को भी कारण मानने का उनके मत से प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। इसलिए यदि वे घट की उत्पत्ति तन्तुवाय के अभाव मे और पट की उत्पत्ति कुम्भकार के अभाव मे देखी जाने के कारण घट की उत्पत्ति मे तन्तुवाय की और पट की उत्पत्ति मे कुम्भकार की कारणता का निषेध करने के लिए अन्वय-व्यतिरेक के इस सिद्धान्त को मान्यता देते हैं कि वही भावात्मक पदार्थ उस कार्य के प्रति कारण होता है जिसका जिसके साथ अन्वय—व्यतिरेक पाया जाता है तो फिर इसी प्रकार अभावात्मक पदार्थों का भी विवक्षित कार्य के साथ कार्यकारणभाव निश्चित करने के लिये अन्वय-व्यतिरेक के उक्त सिद्धान्त को मानने मे भी उन्हे क्या आपत्ति रह जाती है ?

इस प्रकार भावात्मक पदार्थो के समान अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही अभावात्मक पदार्थों की कार्य के प्रति कारणता स्वीकृत हो जाने पर उसकी (अन्वय-व्यतिरेक की) अविद्यमानता के सवव ही खरविषाण और आकाशकुसुम को कार्य के प्रति कारण मानने का प्रसग उपस्थित नही हो सकता है। आगम भी इस बात का विरोधी नही है कि जिस जीव मे जब तक ज्ञानावरणादि उक्त कर्मो का क्षय नही हो जाता है तव तक उसमे केवलज्ञान प्रगट नही होता है और जिस जोव मे जब ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय हो जाता है तो उसी समय उसमे केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय का केवलज्ञान की प्रगटता के साथ जब अन्वय-व्यतिरेक विद्यमान है तो केवल ज्ञानरूप कार्य के प्रति ज्ञानावरणादि

कर्मों के क्षय को कारण स्वीकार करना अयुक्त नही है। फिर भी ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय उनकी अकर्मरूप पर्याय के अलावा और कुछ नही है, इसलिये उसे जीव की केवलज्ञान पर्याय से अत्यन्त पृथक् स्वतन्त्र पुद्गल द्रव्य की ही पर्याय माना गया है। यही कारण है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय तथा जीव के केवलज्ञान की प्रकटता मे विद्यमान कार्यकारणभाव को उपादानोपादेय भावरूप कार्यकारणभाव न मान कर निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव ही माना गया है और इस प्रकार यह नयो के निश्चय और व्यवहार रूप विकल्पो मे से यद्यपि व्यवहार रूप विकल्प की कोटि मे ही समाविष्ट होता है फिर भी व्यवहार रूप विकल्प की कोटि मे आ जाने से वह अवास्तविक (असत्य या कल्पित) हो जाता हो—सो बात भी नही है क्योकि व्यवहार भी अपने ढग से वास्तविक होता है—यह बात मै पूर्व मे सिद्ध कर चुका हूँ। दूसरे यह बात भी है कि ज्ञानावरणादि कर्मो का क्षय जब उनकी अकर्मरूप भावात्मक उत्तरपर्याय के अतिरिक्त और कुछ नही है तो फिर उसे अवास्तविकता का रूप कैसे दिया जा सकता है ?

एक बात और है कि निमित्त मे यदि कोई अवास्तविकता पायी जाती है तो वह यही है कि वह स्वय (आप) कार्यरूप परिणत नही होता है। अर्थात् कार्य मे जिस प्रकार उपादान की स्थिति उसके निष्पन्न हो जाने पर भी बनी रहती है उस प्रकार उसमे निमित्त की स्थिति नही रहा करती है क्योकि निमित्त तो तभी तक अपेक्षित रहा करता है जब तक कार्य निष्पन्न नही होता है यानि कार्यरूप ही बना रहता है। लेकिन वह जब अपनी कार्यरूपता को समाप्त कर निष्पन्नरूपता को प्राप्त कर

लेता है तब उसके लिये निमित्त की अपेक्षा समाप्त हो जाती है। जैसे कुम्भकार घटरूप कार्य मे तभी तक उपयोगी है जब तक घट निष्पन्न नही होता है। और जब घट निष्पन्न हो जाता है तो फिर वहाँ पर कुम्भकार को उपयोगिता समाप्त हो जाती है। लेकिन जिस प्रकार घट के निष्पन्न हो जाने पर कुम्भकार की उपयोगिता नही रह जाती है उस प्रकार उसकी उपादानभूत मिट्टी की भी उपयोगिता समाप्त हो जाती है—सो बात नही है कारण कि कुम्भकार के अभाव मे तो घट अपनी सत्ता बनाये रखता है परन्तु घट के निष्पन्न हो जाने पर भी मिट्टी की स्थिति मे यदि घट के प्रतिकूल कोई विकृति पैदा होती है तो उस समय घट भी अपनी स्थिति को सम्हालने मे असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार निमित्त और उपादान मे अन्तर पाया जाने पर भी कोई व्यक्ति कभी यह नही सोचता है कि घट कुम्भकार के अभाव मे भी बन कर तैयार हो सकता है। इसलिये यह निष्कर्ष निकला कि निमित्त कार्य मे तब तक उपयोगी है जब तक कार्य निष्पन्न नही हो जाता है यानि कार्य के निष्पन्न हो जाने पर निमित्त की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। लेकिन उपादान की उपयोगिता चूकि कार्य निष्पन्न होने से पूर्व और पश्चात् सतत बनी रहती है अत उपादान सर्वदा उपयोगी ही रहा करता है।

तीसरे तर्क मे प० फूलचन्द्र जी का कहना यह है कि "सूत्र मे विद्यमान 'क्षय' शब्द से ज्ञानावरणादि कर्मों की अकर्मरूप उत्तर पर्याय को ग्रहण करने की बात सूत्र से फलित नही होती है इसलिये 'क्षय' शब्द से ज्ञानावरणादि कर्मो की अकर्मरूप उत्तरपर्याय का ग्रहण करना सूत्रकार के आशय के विरुद्ध है।"

इसके विपय मे मेरा कहना है कि जव जैन दर्शन मे प्रत्येक अभाव को भावान्तर स्त्रभाव ही माना गया है तो प्रकृत मे ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयरूप प्रध्वसाभाव को उनकी अकर्मरूप उत्तरपर्याय के रूप मे ग्रहण करना सूत्रकार के आशय के कदापि विरुद्ध न्ही हो सकता है।

दूसरी वात यह है कि उस-उस जाति की कार्माणवर्गणा अर्थात् ज्ञानावरणादि कार्यरूप परिणत होने की योग्यताविशिष्ट पुद्गल अनुकूल निमित्तो की सहायता से जीव के साथ अपना विशिष्ट सश्लेष स्थापित कर लेते है। इस सश्लेष को आगम मे प्रकृतिवन्ध नाम से पुकारा गया है और यह प्रकृतिवन्ध ही कार्माणि वर्गणारूप पुद्गलो की ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणति है। इस तरह ज्ञानावरणाvि कर्मों के जीव के साथ विद्यमान उक्त सश्लेष सम्बन्ध की समाप्ति हो जाना, उक्त कर्मो का जीव से सर्वथा प्रथक् हो जाना, व ज्ञानावरणादि कर्मो का क्षय या उनकी अकर्मरूप उत्तरपर्याय आदि कोई भी अर्थ सूत्र मे पठित 'क्षय' शब्द से ग्रहण किया जाय—तो यह सूत्रकार के आशय के विरुद्ध नही है।

तात्पर्य यह है कि आगम मे वणित उक्त प्रकार की कार्माणवर्गणा मे अनुकूल निमित्तो के सहयोग से जीव के साथ सयुक्त होकर उसी क्षण ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत हो जाया करती हैं तथा इन ज्ञानावरणादि कर्मों का आगे चलकर जब जीव से सम्बन्ध विच्छेद होता है तो वे कर्म उस समय अपनी ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्थिति को वदल कर अकर्मरूप किसी दूसरी स्थिति को प्राप्त हो जाया करते है। अब विचारना चाहिये कि सूत्र मे पठित 'क्षय' शब्द का इसके अलावा—कि

ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्थिति को प्राप्त पुद्गल उस स्थिति को बदल कर अकर्मरूप अन्य किसी भी स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं—दूसरा कौनसा अर्थ ग्रहण किया जा सकता है ? कारण कि द्रव्य का द्रव्यरूप से तो कभी नाश होता नही है केवल पर्याय रूप से ही नाश होता है—यह बात प० जी ने भी अपने मन्तव्य मे कही है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि पहले जो कार्माण-वर्गणारूप पुद्गल था वह जीव का सयोग पाकर अपने उस रूप को छोडकर कर्मरूप परिणत हुआ और पश्चात् जीव से पृथक् हो जाने पर अपनी उस कर्मरूप अवस्था को भी समाप्त कर दूसरी कोई भी अकर्मरूप अवस्था प्राप्त कर ली, लेकिन अपनी पुद्गलरूपता को उसने पूर्वा पर किसी भी अवस्था मे नही छोडा। इस तरह जैनदर्शन मे प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद और विनाश को अवस्थाओ के परिवर्तन के रूप मे ही स्वीकार किया गया है व द्रव्य स्वय त्रिकालवर्ती ध्रुवता को लिये हुए बना ही रहता है। इस प्रकार सूत्र मे पठित 'क्षय' शब्द से ऊपर लिखे प्रकार कोई भी अर्थ स्वीकार किया जाना सूत्रकार के आशय के विरुद्ध नही है।

अन्त मे मैं इतना और कह देना चाहता हूँ कि प० जी ने अपने मन्तव्य मे जो यह लिखा है "यहाँ पर क्षय का अर्थ प्रध्वसाभाव है अत्यन्ताभाव नही" इसमे तो मैं सहमत हूँ, परन्तु इसके समर्थन मे दिये गये उनके इस तर्क को—कि "क्योंकि किसी भी द्रव्य का पर्याय रूप से ही नाश होता है द्रव्यरूप से नही" मैं मानने के लिये तैयार नही हूँ क्योकि ऐसा कोई भी अत्यन्ताभाव नही हो सकता है जिसका प्रादुर्भाव किसी द्रव्य के नाश से होना सम्भव हो। तात्पर्य यह है कि एकद्रव्य मे दूसरे द्रव्य के गुणपर्यायो के अभाव रूप विविध प्रकार के

त्रैकालिक सत्ता रखने वाले अभावों को ही अत्यन्ताभाव की कोटि मे रखा गया है और यदि द्रव्य का नाश सम्भव ही होता तो भी वह प्रध्वंसाभाव में ही गर्भित होता अत्यन्ताभाव मे नहीं।

(२) प० फूलचन्द्रजी ने जैनतत्त्वमीमांसा के विषय प्रवेश प्रकरण मे ही पृष्ठ १५-१६ पर जो यह कथन किया है कि "यह तो स्पष्ट बात है कि प्रत्येक द्रव्य परिणमनस्वभाव है, इसलिये वह अपने इस परिणमनस्वभाव के कारण ही परिणमन करता है अन्य कोई परिणमन करावे तब वह परिणमन करे अन्यथा न करे ऐसा नहीं है।"

प० जी के इस कथन मे मैं इस आधार पर सहमत हूँ कि सम्पूर्ण द्रव्यो मे होने वाले उनके अपने-अपने स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय सभी प्रकार के परिणमनो मे जो स्व की अपेक्षा पायी जाती है वह हमे इस बात का सकेत देती है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनस्वभाव के कारण ही परिणमन करता है। अर्थात् किसी भी द्रव्य मे ऐसा एक भी परिणमन सम्भव नही है जो स्व की अपेक्षा के बिना केवल पर के आधार पर ही हो जाता हो। स्वपरप्रत्यय परिणमन मे जो पर की अपेक्षा पायी जाती है वह स्व की अपेक्षा के साथ ही पायी जाती है। तात्पर्य यह है कि सपूर्ण द्रव्यो मे प्रतिक्षण षड्गुण हानि वृद्धिरूप एक परिणमन तो ऐसा सतत् होता रहता है जो पर की अपेक्षा रहित केवल द्रव्य के अपने परिणमन स्वभाव के आधार पर ही हुआ करता है परन्तु दूसरे परिणमन सपूर्ण द्रव्यो मे एक क्षणवर्ती अथवा अनेक क्षणवर्ती ऐसे भी हुआ करते है जिनमे यद्यपि पर की अपेक्षा रहा करती है, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि

ऐसा परिणमन स्व की अपेक्षा रहित केवल पर की अपेक्षा-मात्र से हो हो जाता हो, क्योकि ऐसे परिणमनो मे पर की अपेक्षा के साथ-साथ स्व की अपेक्षा तो रहा ही करती है। आगम मे भी द्रव्यो के उक्त स्वप्रत्यय और स्वपर प्रत्यय ऐसे दो भेद ही परिणमन के बतलाये गये हैं। इनके अलावा परिणमन के स्व की अपेक्षा रहित केवल पर प्रत्यय रूप भेद की स्वीकृति आगम मे उपलब्ध नही होती है प्रत्युत ऐसा कथन वहाँ अवश्य पाया जाता है जिससे इस बात की ही पुष्टि होती है कि प्रत्येक द्रव्य मे स्व की अपेक्षा रहित केवल पर की अपेक्षा से कोई भी परिणमन नही होता है। इसमे मैं समयसार को निम्नलिखित गाथाश को प्रमाण के रूप मे उपस्थित करता हूँ—

ते सयमपरिणमत कह तु परिणामयदि पाणी
।।गा० १२५ का उत्तरार्ध।।

यह गाथाश पुद्गल के कमरूप परिणमन के सिलसिले मे लिखा गया है। इसमे यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि जिस पुद्गल द्रव्य मे कर्मरूप परिणत होने की योग्यता (उपादान शक्ति) नही है यानि जो पुद्गल द्रव्य कार्माणवर्गणारूप नही है उसे जीव कर्मरूप परिणत करने मे कदापि समर्थ नही हो सकता है। इसी प्रकार का कथन जीव की क्रोधादिरूप विभाव परिणति के सम्बन्ध मे भी वही पर (समयसार मे) निम्नलिखित रूप मे पाया जाता है—

तं सयगपरिणमत कह परिणामएदि कोहत्तं
।।गा० १२८-उत्तरार्ध।।

अर्थात् जिस जीव मे क्रोधादिविभाव रूप परिणमन करने की निजी योग्यता नही है उमे उस रूप परिणमन कराने की सामर्थ्य पुद्गल के परिणमन क्रोध (द्रव्य क्रोध) मे नही है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी "स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्ति" पद्याश द्वारा पुद्गल की स्वभाव भूत परिणाम शक्ति का और "स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणाम शक्ति" पद्याश द्वारा जीव की स्वभाव-भूत परिणाम शक्ति का वही पर उल्लिखित गाथाशो के व्याख्यान के अवसर पर समर्थन किया है। स्वामी समन्तभद्र ने भी स्वय-भूस्तोत्र मे प्रत्येक वस्तु मे स्वभावभूत परिणमन शक्ति का सद्भाव स्वीकार किया है। यथा—

अलघ्यशक्तिर्भवितव्य तेय हेतुद्वयाविष्कृत कार्यलिगा।
अनीश्वरो जन्तुरहक्रियार्त्तः सहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३३॥

अथ—हेतुद्वय अर्थात् अन्तरग (अनित्य उपादान) और वहिरग (निमित्त) दोनो कारणो के आधार पर निष्पन्न होने वाला कार्य जिसका अनुमापक होता है—ऐसो भवितव्यता अर्थात् वस्तु की स्वभावभूत योग्यता (नित्य उपादान शक्ति) अलघ्य शक्ति है अर्थात् वस्तु मे कार्योत्पत्ति सम्बन्धी स्वभावभूत योग्यता के अभाव मे कार्योत्पत्ति सम्भव नही है अत कार्योत्पत्ति मे असमर्थ होता हुआ भी ससारी ,प्राणी व्यर्थ ही कार्य-कर्त्तव्य के अहकार से पीडित हो रहा है—हे भगवन् आपने यह ठीक ही कहा है।

इन उद्धरणो से यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि प्रत्येक वस्तु मे स्वप्रत्यय अथवा स्वपरप्रत्यय कोई भी

परिणमन (कार्योत्पत्ति) उसको अपनी स्वभाव भूतयोग्यता के अभाव मे नही होता है अर्थात् कार्य जिस प्रकार स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय होते है उस प्रकारपर प्रत्यय नही होते है।

इस प्रकार उपर्युक्त आगम प्रमाणो के आधार पर प० फूलचन्द्र जी के जैनतत्त्वमीमासा के 'विषय प्रवेश' प्रकरण मे पृष्ठ १५-१६ पर निर्दिष्ट उपर्युक्त कथन से सहमत होते हुए भी अर्थात् प्रत्येक वस्तु मे स्वभावभूत कार्योत्पत्ति की योग्यता का अभाव रहने पर अन्य द्वारा कार्योत्पत्ति की असम्भवता को स्वीकार करते हुए भी मैं यह कहना चाहता हूँ कि ऐसा एकात नियम नही है कि प्रत्येक वस्तु के सभी परिणमन पर की अपेक्षा रहित उस उस वस्तु मे पायी जाने वाली केवल स्वभाव-भूत योग्यता के आधार पर ही निष्पन्न हो जाया करते है क्योकि यह नियम सिफ पर (निमित्त) की अपेक्षा रहित केवल वस्तु की स्वकीय परिणमन स्वभावरूप उपादान शक्ति के आधार पर होने वाले षड्गुण हानिवृद्धि रूप स्वप्रत्यय परि-णमनो मे ही लागू होता है इसके अतिरिक्त निमित्तो की सहा-यता पूर्वक उक्त उपादान शक्ति के आधार पर होने वाले जितने स्वपर प्रत्यय परिणमन प्रत्येक वस्तु मे उत्पन्न होते है उनमे उक्त नियम उक्त प्रकार रूप मे लागू नही होता है। यही कारण है कि समयसार मे ही पुद्गल के कर्मरूप परिणमन मे जीव की क्रोधादिभावरूप वैभाविक परिणति को तथा जीव की क्रोधादिभावरूप वैभाविक परिणति मे पुद्गल की कर्मरूप परिणति को निमित्त रूप से हेतु स्वीकार किया गया है। यथा–

जीवपरिणामहेदु कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८६॥

इस गाथा का यह अर्थ है कि जीव के परिणामो के सह-योग से पुद्गल कर्मरूप परिणत होते हैं और पुद्गल कर्म के सहयोग से जीव क्रोधादि रूप परिणत होता है।

और तो क्या जीव के ज्ञान और दर्शन गुणो का विविध रूप उपयोगाकार परिणमन ज्ञेय और दृश्य पदार्थों के परिणमन के अनुसार तथा आकाश के अवगाहक स्वभाव का प्रतिक्षण होने वाला परिणमन अवगाह्यमान पदार्थों के परिणमन के अनुसार ही हुआ करता है तथा इसी प्रकार की व्यवस्था धर्मादि द्रव्यो मे भी जान लेना चाहिये।

इस प्रकार आगम ग्रन्थो मे कार्यकारणभाव को लेकर जैसे उपादानोपादेयभाव के समर्थक प्रमाण पाये जाते हैं उसी प्रकार निमित्त नैमित्तिक भाव के भी समर्थक प्रमाण पाये जाते हैं अत उपादानोपादेय भाव रूप कार्यकारण भाव ही वास्त-विक है निमित्त नैमित्तिक भाव रूप कार्यकारण भाव वास्त-विक नही है केवल उपचरित अर्थात् कल्पित या कथन मात्र है-ऐसा प० फूलचन्द्र जी का मत मिथ्या ही है। क्योकि उपर्युक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के कोई भी परिणमन उस उस द्रव्य के उस उस परिणमन के अनु-कूल उपादान शक्ति के अभाव मे केवल निमित्तो के आधार पर नही होते हैं उसी प्रकार अनुकूल उपादान शक्ति का सद्भाव रहने पर भी प्रत्येक द्रव्य के परस्पर विरोधी और अविरोधी सभी प्रकार के स्वपरप्रत्यय परिणमन भी अनुकूल निमित्त सामग्री के समागम के अभाव मे नही हुआ करते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्य के स्वपर प्रत्यय परिणमन उस-उस द्रव्य की परिणमन स्वभावभूत उपादान शक्ति

के साथ निमित्त सामग्री के समागम पूर्वक ही हुआ करते हैं। इतना ही नही, परिणमन के अनुकूल उपादान शक्ति विशिष्ट द्रव्य को जव और जहा जैसा निमित्त सामग्री का समागम प्राप्त होता है वैसा ही परिणमन उस द्रव्य का हुआ करता है। जैसे खानि मे पडी हुई मिट्टी मे यदि घडा आदि के निर्माण के अनुकूल पिंड का रूप धारण करने की स्वभावतः योग्यता विद्यमान है तो उसकी जानकारी होने पर कुम्भकार उस मिट्टी को खानि से अनुकूल निमित्तो के सहयोग से घर लाकर अनुकूल निमित्तो के सहयोग से ही उसे पिंड रूप मे परिवर्तित करता है और तव वह कुम्भकार अपनी इच्छा से अथवा दूसरे व्यक्ति की प्रेरणा से उस पिंडरूप परिणत मिट्टी से स्व और पर की आवश्यकतानुसार घडा, सकोरा आदि विविध प्रकार की वस्तुयें उसमे पायी जाने वाली स्वभावभूत उपादान शक्ति के आधार पर अनुकूल साधनो के सहयोग से बनाता चला जाता है। अर्थात् कुम्भकार तो घडा, सकोरा आदि के निर्माण के अनुरूप स्वकीय व्यापार करता जाता है और उसके सहारे से घडा, सकोरा आदि वस्तुये अपने रूप मे मिट्टी मे पायी जाने वाली योग्यता के अनुसार बनती चली जाती है।

वास्तव मे यह वात अनुभवसिद्ध भी है कि निमित्तो की अनुकूलता के अनुसार अपनी अपनी उपादान शक्ति के बल पर प्रत्येक द्रव्य का एक क्षणवर्ती अथवा अनेक क्षणवर्ती स्वपर-प्रत्यय परिणमन सतत हुआ करता है। इतना ही नही, जैसा-जैसा परिवर्तन जब-जब निमित्त सामग्री मे होता जाता है तव-तव वैसा ही परिवर्तन द्रव्यो के स्वपर-प्रत्यय परिणमन मे भी उनकी उपादान शक्ति के वल पर होता जाता है।

मै प० फूलचन्द्र जी के उक्त विषय सम्बन्धी कथन की मीमांसा करते हुए पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि किसी भी वस्तु मे जो किसी भी प्रकार का परिणमनरूप कार्य उत्पन्न होता है वह उस वस्तु मे पायी जाने वाली उस कार्य के अनुकूल उपादान शक्ति के आधार पर ही उत्पन्न होता है। यह बात नही है कि कोई अन्य वस्तु जिसे निमित्त नाम से पुकारा जाता है— किसी अन्य वस्तु मे ऐसा भी परिणमनरूप कार्य उत्पन्न

कर सकती है जिसके उत्पन्न होने की योग्यता (नित्य उपादान शक्ति) उस अन्य वस्तु मे विद्यमान नही है, फिर भी यह बात निश्चित है कि उक्त परिणमनरूप कार्य यदि स्वपरप्रत्यय स्वभाव वाला है तो वह कभी भी अनुकूल निमित्तो के सहारे के बिना उत्पन्न नही हो सकता है। जैसे घटरूप परिणमन की योग्यता (नित्य उपादान शक्ति) मिट्टी मे विद्यमान है तो कुम्भकार के द्वारा उस मिट्टी से घट का निर्माण किया जाता हुआ देखा जाता है, लेकिन जब उस मिट्टी मे घटरूप परिणमन करने की योग्यता विद्यमान नही है तो तन्तुवाय के द्वारा उस मिट्टी से पट का निर्माण किया जाता हुआ कभी नही देखा जाता है। इतना अवश्य है कि घट मिट्टी की स्वपरप्रत्यय पर्याय होने के कारण जब तक कुम्भकार दण्ड, चक्र आदि आवश्यक साधन सामग्री के सहयोग से मिट्टी के घटरूप परिणमन के अनुकूल अपना पुरुषार्थ (व्यापार) नही करता है तब तक उस मिट्टी से घट का निर्माण होना असभव ही बना रहता है। इसी प्रकार मनुष्य मे पढने की योग्यता विद्यमान है तो दीपक के प्रकाश मे वह पढता है, लेकिन किसी मनुष्य मे यदि पढने की योग्यता ही विद्यमान नही है तो दीपक का प्रकाश रहते हुए भी वह मनुष्य हमेशा पढने मे असमर्थ ही रहा करता है। इतना अवश्य है कि पढना उस मनुष्य की स्वपरप्रत्यय पर्याय होने के कारण जब तक पढने के अनुकूल प्रकाश का सहयोग पढने की योग्यता रखने वाले उस मनुष्य को प्राप्त नही होगा तब तक वह मनुष्य पढने मे असमर्थ ही रहेगा। यही कारण है कि प० जगन्मोहन लाल जी को भी अपने उल्लिखित लेख मे मनुष्य के पढने रूप कार्य मे दीपक की निमित्तता का समर्थन करना पडा है। लेकिन उन्हे मालूम

होना चाहिये कि उनके इस समर्थन से उनकी मान्य निमित्त की अकिंचित्करता का खण्डन हो जाता है।

यहाँ पर अवश्य समझ लेना चाहिये कि मिट्टी से घट निर्माण होने के प्रति कुम्भकार के निमित्त होने पर भी यदि कुम्भकार के मन में घटनिर्माण के अनुरूप पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देना देने वाली इच्छा जागृत नहीं होती है या घटनिर्माण के अनुकूल अन्य कोई आवश्यक निमित्त सामग्री वहाँ उपस्थित नहीं रहती है अथवा घटनिर्माण के प्रतिकूल बाधक सामग्री उपस्थित रहती है तो ऐसी हालत में उस समय घटनिर्माण की योग्यता विशिष्ट मिट्टी से घट का निर्माण कदापि नहीं होगा। इसी प्रकार पढ़ने की योग्यता विशिष्ट मनुष्य से पठन कार्य के प्रति दीपक के प्रकाश के निमित्त होने पर भी यदि मनुष्य की इच्छा पढ़ने की नहीं है या पढ़ने के अनुकूल अन्य कोई आवश्यक निमित्त सामग्री उपलब्ध नहीं है अथवा पठन रूप व्यापार के प्रतिकूल बाधक सामग्री वहाँ उपस्थित है तो ऐसी हालत में मनुष्य का पठन रूप व्यापार नहीं होगा।

तात्पर्य यह है कि उपादान कारण और किसी एक या अनेक निमित्त कारणों के सद्भाव में भी यदि एक या अनेक अन्य सहयोगी निमित्तों का अभाव रहता है अथवा उपादान कारणता विशिष्ट वस्तु को सम्पूर्ण निमित्त सामग्री की अनुकूलता प्राप्त रहने पर भी यदि कोई बाधक सामग्री का संयोग प्राप्त हो जाता है तो उस हालत में भी कारणों की समग्रता विद्यमान न रहने के कारण अथवा संपूर्ण साधन सामग्री के सद्भाव के साथ-साथ बाधक सामग्री का भी सद्भाव रहने के कारण

कार्योत्पत्ति का होना असंभव ही रहेगा । अर्थात् यह वात अनुभव सिद्ध है कि कार्य के प्रति उपादान और उसके सहयोगी सपूर्ण निमित्त मिलकर जब परस्पर अनुकूलता को प्राप्त हो जाते हैं तथा किसी भी प्रकार की वाधक सामग्री की उपस्थिति वहाँ नही रहती है तभी कार्य की निष्पत्ति देखी जाती है अन्यथा नही ।

इस तरह यह वात स्पष्ट हो जाती है कि कार्योत्पत्ति मे उपादान कारण व निमित्त कारणो का सद्भाव और वाधक कारणो का अभाव ये सभी कार्यकारी हैं कोई भी अकिंचित्कर नही । इतना अवश्य है कि यद्यपि कार्य इन सवके सहयोग से ही होता है पर कार्य सव अपना-अपना ही करते हैं ऐसा नही है एक दूसरा एक दूसरे के कार्य को करने लगता हो । अर्थात् उपादान का कार्य कार्यरूप परिणत होना है अत वह कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त के सद्भाव तथा वाधक सामग्री के अभाव का कार्य उपादान की कार्यपरिणति मे सहयोग देना ही है अत. वे सहयोगी वन कर ही कृतार्थ हो जाते है ।

प० जगन्मोहनलाल जी ने अपने प्राक्कथन मे आगे चल कर पृष्ठ १३ पर "कार्योत्पत्ति मे निमित्तो का स्थान है इसका निषेध नही" इस वाक्य द्वारा कार्य के प्रति उपादान की तरह निमित्तो की उपयोगिता का भी समर्थन किया है, इसलिये निमित्त कारणो के विषय मे उनका यह लिखना कि "यह सव कथन उपचरित ही मानना चाहिये" अयुक्त ही समझ मे आता है कारण कि मेरे ऊपर लिखे कथन के अनुसार कार्योत्पत्ति में निमित्तो की स्थिति उपचरित अर्थात् असत्य या कल्पित न होकर वास्तविक ही सिद्ध होती है । ऐसी स्थिति मे निमित्तो की कार्यो-

त्पत्ति के प्रति यदि किसी प्रकार उपचरितता स्वीकार की जाती है तो वह उपचरितता इसी रूप मे स्वीकार की जा सकती है कि जिस तरह उपादान कारण कार्यरूप परिणत होता है उस तरह निमित्त कारण उस कार्यरूप परिणत नही होता है केवल उपादान की कार्य परिणति से सहयोगी-मात्र होता है। लेकिन इसमे यह तो सिद्ध नही होता कि निमित्त वहाँ सर्वथा अकिंचित्कर ही वना रहता है। इस विपय को पूर्व मे विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है।

प० जगन्मोहनलाल जी ने अपने कथन का जो यह निष्कर्प निकाला है कि "चूँकि दीपक मनुष्य को वलात् (जवरदस्ती) पढाता नही, इसलिए वह मनुष्य के पढने में निमित्त माना गया है।" सो उनका यह निष्कर्प निकालना भी अयुक्त है क्योकि आगम मे निमित्तो का एक भेद प्रेरक भी माना गया है और निमित्तो की प्रेरकता अनुभव गम्य भी है। जैसे कुम्भकार घटोत्पत्ति मे प्रेरक निमित्त ही तो है कारण कि जव तक कुम्भकार अपना व्यापार घटोत्पत्ति के अनुकूल नही करता है तव तक घटोत्पत्ति का होना असम्भव ही रहता है। इसी तरह ऐन्जन के चलने पर उससे सयुक्त रेलगाडी के डिव्वे भी चल पडते हैं तो ऐन्जन भी उन डिव्वो के चलने मे प्रेरक निमित्त हो जाता है और इसी तरह ड्राईवर भी ऐन्जन के चलने मे प्रेरक निमित्त होता है। मालूम पडता है पण्डित जगन्मोहन लाल जी व प० फूलचन्द्रजी आदि प्रेरकता का अर्थ कार्य रूप परिणत होना मान लेना चाहते हैं अथवा अन्य वस्तु मे कार्योत्पत्ति की निजी योग्यता न रहते हुए भी अन्य वस्तु द्वारा उस कार्य की उत्पत्ति करा देना मान लेना चाहते हैं, लेकिन यह उन लोगो की भ्रान्ति ही है क्योकि कार्योत्पत्ति की निजी

योग्यता के अभाव में किसी वस्तु को अन्य कोई वस्तु कार्यरूप परिणत नही करा सकती है। यह बात पूर्व मे बतलायी जा चुकी है तथा कार्यरूप परिणति होना तो उपादान का ही कार्य है और उपादान की उस कार्यरूप परिणति मे प्रेरणारूप सहायता देना प्रेरक निमित्त का कार्य है। यही कारण है कि लोक मे और आगम मे जहाँ उपादान का कार्य चलना, बनना, पढना आदि के रूप मे माना गया है वहाँ उसकी सहायता के रूप मे ही निमित्त का कार्य, चलाना, बनाना, पढाना आदि माना किया गया है। अब यदि चलाना, बनाना, पढाना आदि रूप क्रिया प्रेरणारूप है तो वह प्रेरक निमित्त का कार्य है और यदि उदासीनता रूप है तो वह उदासीन निमित्त का कार्य है लेकिन दोनो ही निमित्त कार्यरूप परिणति के प्रति उपादान मे सक्षमता आने के लिए सहायक होते है। निमित्त को जो बलाधायक कहा जाता है वह इसी रूप मे कहा जाता है। अर्थात् निमित्त कार्यरूप परिणत तो नही होता, फिर भी उपादान मे कार्य रूप परिणत होने की योग्यता रहते हुए भी वह जो कार्य रूप परिणत नही हो पा रहा है वह उसकी अक्षमता है उस अक्षमता का विनाश तदनुकूल निमित्तो की सहायता से ही होता है। आचार्य विद्यानन्दी के द्वारा अष्टसहस्री मे लिखित "तद सामर्थ्य म खन्ड यदकिंचित्कर कि महकारी कारण स्यात्" वचन का यही अभिप्राय है जिसका अर्थ यह है कि सहकारी कारण (निमित्त कारण) उपादान कारण की कार्योत्पत्ति की योग्यता रहते हुए भी कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप अक्षमता का यदि खण्डन नही करता है तो वह सहकारी कारण (निमित्तकारण) कहा जा सकता है क्या ?

मेरे इस स्पष्टीकरण से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य के पठन रूप व्यापार के प्रति दीपक की निमित्त-कारणता इसलिए नही समझना चाहिए कि वह मनुष्य मे पढने की योग्यता न रहते हुए भी मनुष्य को पढाता है अथवा पढने मे उसे मजबूर करता है और अथवा अपना गुण-धर्म उसमे प्रविष्ट करा देता है प्रत्युत मनुष्य मे पढने को योग्यता हो और उसकी इच्छा पढने की हो तथा अन्य सहायक सामग्री भी विद्यमान हो व वाधक कारणो का अभाव हो तो वह दीपक के सहारे पर पढ सकता है और यदि दीपक का सहारा उसको प्राप्त न हो तो वह नही पढ सकता है। इसी प्रकार दीपक स्वय पढने रूप व्यापार करने लग जाता है—सो यह भी बात नही है। तात्पर्य यह है कि न तो दोपक स्वय पढता है और न वह पढने की योग्यता रहित मनुष्य को पढने मे सहायक ही होता है। इसी तरह पढने की योग्यता विशिष्ट मनुष्य पढता तो स्वय (आप) ही है परन्तु दीपक के अभाव मे जो वह पढने मे असमर्थ हो रहा था सो दीपक का सहारा प्राप्त होते ही वह पढने लगता है। इस तरह मनुष्य ही पढता है इसलिए तो वह पठन कार्य के प्रति उपादान कारण है और दीपक की सहायता से वह पढता है इसलिए दीपक उसमे निमित्त या सहायक कारण है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निमित्त कारण स्वय कार्य-रूप परिणत न होते हुए भी अकिंचित्कर नही है किन्तु उपा-दान कारण की कार्यरूप परिणति मे सहायक होने के आधार पर कार्यकारी ही है।

(४) प० फूलचन्द्रजी और प० जगन्मोहनलालजी दोनो ही विद्वान् उपादान के नित्य और अनित्य (क्षणिक) ऐसे दो भेद

स्वीकार करते है तथा अनित्य (क्षणिक) उपादान को समर्थ उपादान की सज्ञा देकर वे यह कहते है कि कार्य की उत्पत्ति समर्थ उपादान से ही होती है। दोनो ही विद्वान नित्य उपादान-भूत वस्तु की कार्य से अव्यवहित पूर्व पर्याय विशिष्टता को समर्थ उपादान का लक्षण कहते हैं। इसके समर्थन मे मैं यहा पर पण्डित फूलचन्द्र जी का निम्नलिखित कथन उद्धृत कर रहा हूँ।

"स्वभाव और समर्थ उपादान मे फरक है। स्वभाव सार्वकालिक होता है इसी का दूसरा नाम नित्य उपादान है और समर्थ उपादान जिस कार्य का वह उपादान होता है उस कार्य के एक समय पूर्व होता है। कार्य समर्थ उपादान के अनुसार होता है, मात्र स्वभाव या नित्य उपादान उसमे अनुस्यूत रहता है इतना अवश्य है। समर्थ उपादान प्रत्येक समय का अन्य-अन्य होता है इसलिये इसे क्षणिक उपादान भी कहते है।" (जैनतत्त्वमीमाँसा के "निमित्त कारण की स्वीकृति" प्रकरण पृष्ठ ४१ की टिप्पणी)।

अपनी इस मान्यता के आधार पर ही दोनो विद्वानो का कहना है कि उपादानभूत वस्तु जब समर्थ उपादान की स्थिति मे पहुच जाती है तब कार्य नियम से हो जाया करता है। निमित्तो का अभाव अथवा निमित्तो के सद्भाव के साथ ही बाधक-सामग्री का सद्भाव जैसी कोई परिस्थिति उस समर्थ उपादान के नियत कार्यरूप परिणत होने मे बाधक नही होती है प्रत्युत जो कार्यरूप परिणति विवक्षित समय मे होती है उसकी उसे साधक ही समझना चाहिये। इसका समर्थन पण्डित जगन्मोहन लाल जी के निम्नलिखित कथन से होता है।

"जब समर्थ उपादान और लोक मे निमित्त रहते हुए भी कार्य की लोक मे कही जाने वाली बाधक सामग्री आ जाती है तब विवक्षित द्रव्य उसके कारण क्या अपने परिणमन स्वभाव को छोड देता है ? यदि कहो कि द्रव्य का परिणमन तो तब भी होता रहता है। यह तो उसका स्वभाव है उसे वह कैसे छोड सकता है ? तो हम पूछते हैं कि जिसे आप बाधक सामग्री कहते हो वह किस कार्य की बाधक मानकर कहते हो ? आप कहोगे कि जो कार्य हम उससे उत्पन्न करना चाहते थे वह कार्य नही हुआ, इसलिए हम ऐसा कहते है, तो विचार कीजिये कि वह सामग्री विवक्षित द्रव्य के आगे होने वाले कार्य की बाधक ठहरी या आपके सकल्प की ? विचार करने पर विदित होता है कि वस्तुत विवक्षित द्रव्य के कार्य की बाधक तो वह त्रिकाल मे नही है। हा आगे उस द्रव्य का जैसा परिणमन चाहते थे वैसा नही हुआ, इसलिये आप उसे कार्य की बाधक कहते हो। सो भाई ! यही तो भ्रम है। इसी भ्रम को दूर करना है। वस्तुत उस समय द्रव्य का परिणमन ही आपके सकल्पानुसार न होकर अपने उपादान के अनुसार होने वाला था, इसलिये जिसे आप अपने मन से बाधक सामग्री कहते हो वह उस समय उस प्रकार के परिणमन मे निमित्त हो गयी। अत इन तर्कों के समाधान स्वरूप यही समझना चाहिये कि प्रत्येक समय मे कार्य तो अपने उपादान के अनुसार ही होता है और उस समय जो बाह्य सामग्री उपस्थित होती है वही उसमे निमित्त हो जाती है। निमित्त स्वय अन्य द्रव्य के किसी कार्य को करता हो ऐसा नही है।" (जैनतत्त्वमीमासा का प्राक्-कथन पृष्ठ १२)।

इस प्रकार दोनो ही विद्वान इन तथा इसी प्रकार के

और भी दूसरे कथनो द्वारा यही सिद्ध करना चाहते हैं कि प्रत्येक समय मे कार्य तो अपने समर्थ उपादान के अनुसार ही हुआ करता है और इस तरह दोनो ही विद्वान निमित्तो की कार्य के प्रति वास्तविक स्थिति न मानते हुए उन्हे केवल उपचरित स्थिति मे पटक देना चाहते हैं। अर्थात् वे कहते है कि उपादान से होने वाली कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्त नाम से पुकारी जाने वाली सामग्री चूकि वहा नियम से विद्यमान रहा करती है इसलिये लोक मे मात्र ऐसा बोला जाता है कि अमुक कार्य के प्रति अमुक निमित्त होता है, लेकिन वास्तविकता यही है कि कार्य अपने क्षणिक या समर्थ उपादान के बल पर ही नियम से उत्पन्न हो जाया करता है।

उक्त उभय विद्वानो की इस उल्लिखित मान्यता की मीमासा के प्रसग मे मैं यह सकेत कर देना चाहता हूँ कि कार्योत्पत्ति मे नित्य उपादान अर्थात् वस्तु की कार्यरूप परिणति मे कारणभूत स्वभावगत योग्यता तथा क्षणिक उपादान अर्थात् वस्तु की कार्यरूप परिणति से अव्यवहित पूर्व समयवर्ती पर्याय विशिष्टता की नियामकता के विषय मे कोई विवाद नही है। यानि विवक्षित वस्तु मे उसी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है जिसकी स्वभावगत योग्यता उस वस्तु मे हो तथा वह कार्य तभी उत्पन्न हो सकता है जब वह वस्तु उस कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व समयवर्ती पर्याय मे पहुँच गयी हो। विवाद केवल इस बात का है कि जहा उक्त उभय विद्वान यह मानते है कि प्रत्येक कार्य अपने उपादान के अनुसार ही होता है उसमे निमित्त की कुछ भी अपेक्षा नही रहा करती है वहा मेरा कहना यह है कि स्वप्रत्यय कार्य तो निमित्त की अपेक्षा रहित केवल अपने उपादान के अनुसार ही होता है लेकिन स्वपरप्रत्यय कार्य

होता तो अपने उपादान के अनुसार ही है फिर भी निमित्तो के सहयोग पूर्वक ही हुआ करता है और उसमे यकायक जो विलक्षण परिवर्तन होता हुआ देखा जाता है वह परिवर्तन उपादान के अनुसार होकर भी परिवर्तित निमित्तो के आधार पर ही हुआ करता है। जैसे जीव मे क्रोध कषाय और मान-कषाय दोनो रूप से परिणमन करने की योग्यता (उपादानशक्ति) विद्यमान है तो वह जीव तभी और तब तक क्रोधी बनता है जब और जब तक उसमे क्रोध कर्म का उदय उसके क्रोधी बनने मे सक्षम रहता है लेकिन उसमे जब क्रोध कर्म के उदय की कार्य क्षमता नष्ट हो जाती है और मान कर्म के उदय की कार्य क्षमता अस्तित्व मे आ जाती है तो तब उसकी क्रोधरूप परिणति समाप्त होकर मान रूप परिणति होने लग जाती है। इसमे दूसरा उदाहरण भव्य और अभव्य जीवो का है। अर्थात् अभव्य जीव कभी मुक्त नही होता है क्योकि उसमे मुक्त होने की स्वभावगत योग्यता (उपादानशक्ति) ही नही है और भव्यजीव इसलिये मुक्त हो सकता है कि उसमे मुक्त हाने की स्वभावगत योग्यता (उपादानशक्ति) विद्यमान है। परन्तु भव्यजीव मुक्त होता है तो उसके पूर्व उसकी अशुद्ध पर्याय ही राह करती है इसलिये उसका अशुद्ध पर्याय से शुद्ध पर्याय मे पहुँचने का परद्रव्य सम्बन्ध विच्छेद के अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है ? इस पर उक्त उभय विद्वानो को ध्यान देना चाहिये। मेरे इस कथन से यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि भव्यजीव मे मुक्त होने की स्वभावगत योग्यता (उपादानशक्ति) रहते हुए भी तभी मुक्त होता है जब उसके पक्ष मे सम्पूर्ण निमित्त सामग्री रहा करती है। इतना हो नही, उसके पक्ष मे अनुकूल निमित्त सामग्री के रहते हुए भा यदि

कदाचित् बाधक सामग्री उपस्थित हो तो तब उक्त भव्यजीव का मुक्त होना तब तक असम्भव रहेगा जब तक वह बाधक सामग्री नही हट जायगी। इसके लिये निम्नलिखित दृष्टान्त पर ध्यान देना चाहिये।

सूर्यकान्तमणि को यदि सूर्य के सन्मुख रख दिया जावे और उस पर से सूर्य की किरणो को यथायोग्य वस्तु पर फेंका जावे तो उस वस्तु मे अग्नि प्रज्वलित हो जाया करती है लेकिन सूर्यकान्त मणि के हटा देने पर जिस प्रकार उक्त वस्तु मे उपादानशक्ति रहते हुए भी अग्नि के प्रज्वलित होने की सम्भावना जाती रहती है उसी प्रकार सूर्यकान्तमणि के सद्भाव मे भी यदि बाधक कारण स्वरूप चन्द्रकान्तमणि की उपस्थिति वहा पर हो जावे तो भी उस वस्तु मे अग्नि का प्रज्वलित होना असम्भव हो जाता है।

इस प्रकार यह बात निश्चित हो जाती है कि यद्यपि उपादानभूत वस्तु ही अपनी योग्यता (उपादानशक्ति) के अनुसार कार्यरूप परिणत हुआ करती है परन्तु यदि उसकी वह कार्यरूप परिणति स्वपरप्रत्यय हो, तो उसका होना अनुकूल निमित्तो के सहयोग और बाधक कारणो के वियोग पर ही निर्भर रहा करता है। यही कारण है कि प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के लिये उपादानोपादेय भावरूप कार्यकारणभाव के साथ-साथ निमित्तनैमित्तिक भावरूप कार्यकारणभाव पर भी दृष्टि रखता हुआ उपादान के साथ कार्य के अनुकूल निमित्त सामग्री को जुटाने का भी प्रयत्न किया करता है। यह प्रक्रिया लौकिक और पारमार्थिक दोनो

तरह के कार्यों की उत्पत्ति के विषय मे अनुभव और इन्द्रिय-प्रत्यक्षगम्य, अनुमान सिद्ध और आगम समर्थित है और इस प्रकार इस प्रक्रिया के अनुसार प्रयत्न करने पर भी यदि कदाचित् कार्य निष्पत्ति नही होती है तो उसका कारण या तो वस्तु मे उपादानशक्ति का अभाव होगा या फिर कार्योत्पत्ति के अनुकूल निमित्त सामग्री का सर्वथा अभाव या उसकी पूर्णता का अभाव उसका कारण होगा अथवा ये सब कारण विद्यमान रहते हुए भी यदि कार्य निष्पन्न नही होगा तो उसका कारण फिर बाधक सामग्री का सद्भाव होगा।

हमे आश्चर्य होता है कि प० फूलचन्द्रजी और जगन्मोहनलाल जी तथा उनके समपक्षीजन कार्यकारणभाव की इस प्रक्रिया को अपनाते हुए भी इसे मानने से कतराते है।

ऊपर मैं कह आया हू कि कार्योत्पत्ति मे नित्य उपादान अर्थात् वस्तु की कार्यरूप परिणति मे कारणभूत स्वभावगत योग्यता तथा क्षणिक उपादान अर्थात् वस्तु की कार्यरूप परिणति से अव्यवहित पूर्व समयवर्ती पर्याय विशिष्टता की नियामकता के विषय मे कोई विवाद नही है, परन्तु इतनी बात अवश्य है कि नित्य उपादानभूत वस्तु जो कार्य से अव्यवहित पूर्व समयवर्ती पर्याय रूप क्षणिक उपादानता को प्राप्त होती है वह स्वपरप्रत्यय कार्य मे निमित्त सामग्री की सहायता से ही पहुँचती है अपने आप नही। इसका समर्थन प्रमेयकमलमार्तण्ड के निम्नलिखित कथन से होता है—

"यच्चोच्यते-शक्तिर्नित्या अनित्याचेत्यादि, तत्र किमय द्रव्यशक्तौ पर्यायशक्तौ वा प्रश्न स्यात् भावाना द्रव्यपर्याय शक्त्यात्मकत्वात्। तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव, अनादिनिधन-स्वभावत्वाद् द्रव्यस्य। पर्यायशक्तिस्त्वनित्यैव, सादिसपर्यवसान-

त्वात्पर्यायाणाम् । न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणानपेक्षयैवार्थस्य कार्यकारित्वानुषग, द्रव्यशक्ते केवलाया कार्यकारित्वानभ्युपगमात् । पर्यायशक्ति समन्विता हि द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी, विशिष्टपर्याय परिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्व प्रतीते । तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षयैव—इति पर्यायशक्तेस्तदैवभावान्न सर्वदा कार्योत्पत्ति प्रसग' सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्य वा ।" (प्रमेयकमलमार्तण्ड २–१ पृष्ठ १८७)

अर्थ—यह जो कहा जाता है कि शक्ति नित्य है या अनित्य है—इत्यादि । सो यह प्रश्न क्या द्रव्यशक्ति के विपय मे है अथवा पर्यायशक्ति के विपय मे है क्योकि पदार्थ द्रव्य और पर्याय उभयशक्ति सम्पन्न होते हैं । उन दोनो शक्तियो मे से द्रव्यशक्ति नित्य ही है क्योकि द्रव्य अनादि निधन स्वभाव वाला होता है । पर्यायशक्ति तो अनित्य ही है क्योकि पर्याय सादि-सान्त होती है । यह कहा जाय कि जब शक्ति नित्य है तो सहकारी कारण की अपेक्षा किये बिना ही कार्यकारित्व की प्रसक्ति हो जायगी—सो ऐसा नही है क्योकि केवल द्रव्यशक्ति का कार्यकारित्व नहो स्वीकार किया गया है, किन्तु पर्यायशक्ति से समन्वित द्रव्य ही कार्य करने मे समर्थ हुआ करती है । इसका कारण यह है कि विशिष्ट पर्याय से परिणत द्रव्य मे ही कायकारित्व की प्रतीति होती है और द्रव्य की उस विशिष्ट-पर्यायरूप परिणति सहकारी कारण की अपेक्षा से ही हुआ करती है अत पर्यायशक्ति तभी उत्पन्न होती है जब सहकारी कारण का समागम द्रव्य को प्राप्त होता है इस तरह न तो सर्वदा कार्योत्पत्ति की प्रसक्ति होती है और न कार्योत्पत्ति मे सहकारण की अपेक्षा ही व्यर्थ होती है ।

इसमे स्पष्ट बतला दिया गया है कि वस्तु मे अनित्य

उपादान शक्ति का प्रादुर्भाव सहकारीकारण के सहयोग से होता है और इसी आधार पर यह भी बतला दिया गया है कि कार्योत्पत्ति मे सहकारीकारण अकिंचित्कर नही होता है।

जिस तरह कार्योत्पत्ति मे नित्य उपादान और क्षणिक उपादान की नियामकता मे कोई विवाद नही है उसी तरह अनित्य उपादान को समर्थ उपादान मानने में भी कोई विवाद नही है, परन्तु इसमे भी यह ध्यान रखना है कि समर्थ उपादान से किसी एक नियत कार्य की ही उत्पत्ति होती है-ऐसा नही है, किन्तु उसी कार्य की उत्पत्ति होती है जिसके अनुकूल निमित्त सामग्री का सहयोग उस समर्थ उपादान को प्राप्त रहता है। तात्पर्य यह है कि कार्य का समर्थ उपादान उसकी अव्यवहित पूर्व समयवर्ती पर्याय कहलाती है और वह पर्याय प्रमेय कमल-मार्तण्ड के उपर्युक्त कथन के अनुसार सहकारिकारण सापेक्ष उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जो कार्य है वह भी प्रमेय कमल-मार्तण्ड के उसी कथन के अनुसार उसके अव्यवहित उत्तर क्षण मे उत्पन्न होने वाली पर्याय का समर्थ उपादान हो जाता है अत. वह भी सहकारी कारण सापेक्ष ही उत्पन्न होता है-ऐसा जानना चाहिए। इस तरह वस्तु की पूर्व और उत्तर सभी पर्यायें पूर्व पर्याय की कार्य होते हुए भी उत्तर पर्याय की जब कारण सिद्ध हो जाती हैं तो उनकी सहकारिकारण सापेक्षता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु की त्रिकालवर्ती सभी पर्यायें सहकारिकारण सापेक्ष होकर ही उत्पन्न होती हैं अत यह सिद्धान्त फलित होता है कि कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय मे कार्यरूप परिणत होने योग्य नाना योग्यतायें विद्यमान हैं लेकिन उसी कार्यरूप पर्याय की उत्पत्ति उत्तर क्षण मे होती है

जिसके अनुकूल निमित्त सामग्री का सहयोग उस पूर्वपर्याय को प्राप्त होता है तथा इसके साथ हो यदि बाधक कारण की उपस्थिति वहाँ हो जाती है तो वह पर्याय भी उत्पन्न न होकर वही पर्याय उत्पन्न होती है जिसके अनुकूल निमित्त सामग्री का सद्भाव और बाधक कारण का अभाव वहाँ उपस्थित रहता है अत इसमे वस्तु क परिणमन के रुकने की सम्भावना ही नही है।

प० फूलचन्द्र जी और प० जगन्मोहनलाल जी का कहना है कि समर्थ उपादान से एक नियत कार्य की उत्पत्ति होती है। इसके लिए जैनतत्त्वमीमासा मे स्वामी कार्तिकेय की निम्नलिखित गाथा को प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है–

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्व ।
उत्तरपरिणामजुदं त चिय कज्ज हवे णियमा ।।२३०।।

इसका अर्थ प० फूलचन्द्र जी ने यह किया है कि अनन्तर पूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य कारणरूप से प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तर परिणाम से युक्त द्रव्य वही द्रव्य नियम से कार्य होता है।

यद्यपि इस अर्थ मे कोई विवाद नही है, परन्तु इसका अभिप्राय प० फूलचन्द्र जी यह लेते है कि वस्तु जिस समय कार्याव्यवहितपूर्व पर्याय मे पहुँच जाती है तब उसमे एक नियत कार्य के उत्पन्न होने की योग्यता आ जाती है तब वही कार्य नियम से उत्पन्न होना है। इस तरह उसके लिए न तो निमित्त सामग्री की अपेक्षा रहती है और न वहाँ पर बाधक कारण ही

कोई रहता है। इस सम्बन्ध मे उन्होने जैनतत्त्वमीमासा के पृष्ठ ४९-५० पर लिखा है —

" इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पट हो जाता है कि जो अनन्तर पूर्वपर्याय विशिष्ट द्रव्य है उसकी उपादान सज्ञा है और जो अनन्तर उत्तर पर्याय विशिष्ट द्रव्य है उसकी कार्य सज्ञा है। उपादान-उपादेय का यह व्यवहार अनादिकाल से इसी प्रकार चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा।"

आगे वे लिखते हैं —

" इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हम पहले एक उदाहरण घट कार्य का दे आये हैं। उससे स्पष्ट है कि खान से प्राप्त हुई मिट्टी से यदि घट बनेगा तो उसे क्रम से उन पर्यायो मे से जाना होगा जिनका निर्देश हम पूर्व मे कर आये हैं। कितना ही चतुर निमित्त कारण रूप से उपस्थित कुम्हार क्यो न हो वह खान की मिट्टी से घट पर्याय तक की निष्पत्ति का जो क्रम है उसमे परिवतन नही कर सकता। खान से लाई गई मिट्टी जैसे-जैसे एक-एक पर्याय रूप से निष्पन्न होती जाती है तदनुकूल कुम्हार के हस्त-पादादि का भी परिवर्तन होता जाता है। अन्त मे मिट्टी से घट पर्याय की निष्पत्ति इसी क्रम से होती है और जब मिट्टी मे से घट पर्याय की निष्पत्ति हो जाती है तो कुम्हार का योग-उपयोग रूप क्रिया व्यापार भी रुक जाता है। उपादान-उपादेय सम्बन्ध के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की यह व्यवस्था है जो अनादिकाल से इसी क्रम से एक साथ चली आ रही है और अनन्त काल तक इसी क्रम से चलती रहेगी।"

इस कथन से प० जी वस्तु की अनादि से अनन्तकाल तक की त्रैकालिक पर्यायो की उत्पत्ति को एक नियत स्थिति मे

पटक कर निमित्त की अकिंचित्करता को सिद्ध करना चाहते हैं। यानि वे यह सिद्ध करना चाहते है कि प्रत्येक वस्तु मणि-माला के समान नियत स्थिति को प्राप्त अपने त्रैकालिक पर्यायो मे से क्रमश एक-एक पर्याय की भविष्यद्रूपता से वर्तमानरूपता और वर्तमानरूपता से भूत रूपता के रूप मे अनादि काल से अपने आप गुजरती हुई चली आई है और अनन्तकाल तक इसी तरह गुजरती हुई चली जायगी। निमित्त इसमे जब किसी प्रकार का उलट-फेर नही कर सकता है तो फिर निमित्त की उपयोगिता इसमे क्या रह जाती है ? इस सम्बन्ध मे वे केवलज्ञान का भी सहारा लेते हैं और समर्थन मे स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथाओ को प्रमाण रूप से उपस्थित करते है जो निम्न प्रकार है —

ज जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णाद जिणेण णियद जम्म वा अहव मरण वा ॥३२१॥
त तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदु इदो वा अह जिणिदो वा ॥३२२॥

अर्थ—जिस जीव के जिस जन्म अथवा मरण को जिस देश मे जिस काल मे जिस कारण से होते हुए जिनेन्द्र भगवान ने नियत रूप मे जाना है उस जीव के उस जन्म अथवा मरण के उस देश मे उस काल मे उस कारण से होने को इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टाल सकता है ? आगे इस पर विचार किया जाता है।

माना कि केवलज्ञान द्वारा पदार्थों को जानने की यही प्रक्रिया है, परन्तु विचारणीय बात यह है कि अल्पज्ञता को

प्राप्त ससारी जीवो के लौकिक व पारमार्थिक सभी कार्य क्या इस प्रक्रिया को एकान्त रूप से अपनाने से सम्पन्न हो सकते हैं ? या उन्हे उक्त कार्यों की सम्पन्नता के लिए कार्य-कारणभाव का सहारा लेने की अनिवार्य आवश्यकता है ?

सर्वाधिक महत्त्व की बात यह है कि प० फूलचन्द्र जी, प० जगन्मोहनलाल जी और उनके सपक्षी सभी जन कार्य सम्पन्नता के लिए पुरुषार्थ करने का न केवल उपदेश देते हैं प्रत्युत स्वय भी इसके लिए पुरुषार्थ करते हैं, तो उनका ऐसा करना क्या स्ववचन बाधित नही है ?

वास्तविकता यह है कि केवलज्ञान मे तो त्रिकालवर्ती पर्यायो के पिण्डरूप वस्तु युगपत् प्रति समय समान रूप से प्रतिभासित होती रहती है अत उसमे कायकारणभाव का प्रसग हो उपस्थित नही होता है क्योकि उसमे वस्तु की प्रत्येक पर्याय अपने-अपने नियत समय के साथ स्थित रहती हुई ही प्रतीत होती है । इसका फलितार्थ यह हुआ कि केवलज्ञान की अपेक्षा जिस प्रकार निमित्त नैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव की अपेक्षा नही हो सकती है उसी प्रकार उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभाव की अपेक्षा भी नही होती है । एक बात और है कि जिस प्रकार आँखो द्वारा मणिमाला को देखते हुए भी उसको विविध रूप मे विभाजित करना आँखो का कार्य नही है मस्तिष्क का कार्य है । अर्थात् जीव आँखो की सहायता से होने वाले मति ज्ञान से मणिमाला के सभी गुरियो को देखता है, उनके रूप-रग को तथा उनके छोटे-बडे परिमाण और आकारो को भी देखता है परन्तु गुरियो की सख्या कितनी है, कौन गुरिया का क्या रूप है और कौन गुरिया कितना बडा या छोटा है तथा

किसका क्या आकार है ? इत्यादि बातो को वह मस्तिष्क के सहारे पर होने वाले श्रुतज्ञान से ही जानता है यही कारण है कि जव तक बालक का श्रुतज्ञान अल्प विकसित रहा करता है तब तक वह देखते हुए भी यह नही जान पाता है कि मणिमाला मे कितने गुरिया हैं, क्या उनका रूप है, कौन गुरिया कितना छोटा या बडा है और किसका कैसा आकार है ? इसी प्रकार केवलज्ञानी जीव वस्तु की त्रैकालिक पर्यायो को जान रहा है परन्तु वह पर्यायो की भूतता, वर्तमानता व भविष्यत्ता का विश्लेपण करके नही जानता है वह तो सभी पर्यायो से विशिष्ट वस्तु का प्रतिभासन मात्र करता है। यही कारण है कि उसके ज्ञान को विकल्पात्मक रूप नही प्राप्त होता है और यही कारण है कि पाँचो प्रकार के ज्ञानो मे मति, अवधि, मन पर्यय और केवल ज्ञानो मे विकल्पात्मक रूप न होने से नय व्यवस्था सम्भव नही है केवल श्रुत ज्ञान मे ही विकल्पात्मक रूप होने से नय व्यवस्था सम्भव है। यही स्थिति कार्यकारणभाव के जानने मे भी समझना चाहिए। अर्थात् कार्यकारणभाव विकल्पात्मक श्रुतज्ञान का ही विषय होता है मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन· पर्ययज्ञान और केवलज्ञान का विषय नही होता है क्योंकि कौन कारण है और कौन कार्य है-यह विकल्प श्रुतज्ञान मे ही सभव है अन्य ज्ञानो मे नही। इसलिए कार्य कारणभाव के विकल्प जव श्रुतज्ञानी जीव मे ही सम्भव है तो केवल ज्ञान के आधार पर श्रुतज्ञान की स्थिति का माप करना असगत है।

इस तरह कार्यकारणभाव को जव श्रुतज्ञान मे ही स्थान प्राप्त है और श्रुतज्ञान अल्पता तथा पराधीनता के लिए हुए है तो स्वपरप्रत्यय कार्योत्पत्ति मे उपादानोपादेय भाव और निमित्त नैमित्तिकभाव दोनो को स्थान प्राप्त हो जाता है। यही

कारण है कि जव तक श्रुतज्ञान पूर्ण निर्विकल्पात्मक स्थिति को नही प्राप्त होता है तव तक कार्यकारणभाव मे यथासम्भव उपादानोपादेयभाव और निमित्त नैमित्तिकभाव दोनो के विकल्प जीव के होते ही रहते है और कार्य सम्पन्नता के लिए वह उपादान और निमित्त दोनो का अपने-अपने ढ ग से सहारा लिया करता है। कार्योत्पत्ति मे हमारा अनुभव और प्रवर्तन इसी ढग से चल रहा है। प० फूलचन्द्रजी, प० जगन्मोहनलाल जी और उनके सपक्षीजन भले ही इस बात की रट लगाते रहे कि निमित्त अकिंचित्कर है, फिर भी उनका अनुभव और उनका कार्योत्पत्ति मे प्रवर्तन उपादानोपादेयभाव और निमित्त नैमित्तिक भाव दोनो को लेकर ही चल रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि "ज जस्स जम्मि देसे"—आदि गाथाओ का उपयोग कार्यसिद्धि के लिए किंचिन्मात्र नही है केवल वस्तु स्थिति को समझने के लिए ही उनका उपयोग हो सकता है जिससे न तो आगम का विरोध है और न कार्योत्पत्ति मे उपादानोपादेयभाव के साथ-साथ निमित्त नैमित्तिकभाव को स्थान देने वाले हम लोगो का ही विरोध है। इतना अवश्य है कि यदि कोई कार्योत्पत्ति मे उपादानोपादेयभाव की उपेक्षा करके केवल निमित्त नैमित्तिकभाव को ही महत्व देता है तो उसका विरोध आगम भी करता है और कार्योत्पत्ति मे उपादानोपादेय भाव के साथ-साथ निमित्त नैमित्तिकभाव को स्थान देने वाले हम लोग भी करते हैं क्योकि केवल परप्रत्यय कार्य का निषेध आगम भी करता है और हम लोग भी करते हैं। प० फूलचन्द्र जी आदि के साथ आगम का और हम लोगो का जो विरोध है वह कार्य की केवल परप्रत्ययता को लेकर नही है और न केवल स्वप्रत्ययता को लेकर है क्योकि प० फूलचन्द्र जी आदि भी

और हम लोग भी परप्रत्यय कार्य का निषेध और स्वप्रत्यय कार्य का समर्थन करते है केवल मतभेद इस बात मे कि प० फूलचन्द्र जी आदि स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय सभी कार्यो को जहाँ निमित्त को अकिञ्चित्कर मानकर केवल स्व-प्रत्यय ही मानते हे वहाँ हम लोग स्वप्रत्यय कार्यों से पृथक् ही स्वपरप्रत्यय कार्यों को स्वीकार करते है जैसा कि आगम से भी समर्थन होता है। अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार की गाथा[1] १४ मे पर्यायो (कार्यो) के दो भेद स्पष्ट स्वीकार किये है-एक स्वपरसापेक्ष और दूसरा निरपेक्ष। यहाँ निरपेक्ष का अर्थ परनिरपेक्ष या केवल स्वसापेक्ष ही लिया गया है। इस तरह स्वपरसापेक्ष का ही अर्थ स्वपरप्रत्यय और निरपेक्ष परनिर-पेक्ष या केवल स्वसापेक्ष का ही अर्थ स्वप्रत्यय होता है। सर्वार्थ सिद्धि अध्याय ५ सूत्र[2] ७ की टीका मे आचार्य पूज्यपाद ने भी कहा है कि उत्पाद दो प्रकार का होता है-एक स्वप्रत्यय और दूसरा परप्रत्यय। इसमे भी परप्रत्यय से स्वपरप्रत्यय ही अर्थ ग्रहण किया गया है।

इस विवेचन का प्रयोजन यह है कि श्रुतज्ञानी जीव केवल ज्ञान मे प्रतिभासित वस्तु पर्यायो की नियत स्थिति पर जब तक टिक नही जाता है अर्थात् उसका श्रुतज्ञान जब तक पूर्ण निर्विकल्पक दशा को प्राप्त नही हो जाता है जो कि ग्या-रहवें और बारहवे गुण स्थानो मे ही सभव है तब तक उसको कार्य सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करने का उपदेश आगम मे दिया गया है। छठवे गुणस्थान तक तो श्रुतज्ञानी जीव मे कार्य-

---

१—पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो या णिरवेक्खो ॥

२—द्विविध उत्पाद —स्वनिमित्त परप्रत्ययश्च।

सिद्धि के लिए पुरुपार्थ का रूप स्पष्ट देखने मे आता है और उसका यह पुरुपार्थ कार्यकारणभाव के आश्रित ही हुआ करता है। वैसे तो पुरुपार्थ को प्रक्रिया सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो से लेकर एकेन्द्रिय तक के सभी जीवो मे पाई जाती है परन्तु कार्यसिद्धि का सकल्प और उसकी सिद्धि के लिए कार्यकारणभाव का विकल्प सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे ही हुआ करता है कारण कि असज्ञी पचेन्द्रिय जीवो से लेकर एकेन्द्रिय तक के जीवो मे मन का अभाव होने से कार्यसिद्धि के सङ्कल्प का अभाव पाया जाता है और इस सकल्प का अभाव रहने के कारण उनमे कार्यकारणभाव के विकल्प का भी अभाव रहा करता है।

प० फूलचन्द्र जी, प० जगन्मोहनलाल जी और उनके समपक्षी जनो के सामने सबसे बडा प्रश्न यही है कि यदि उनकी अटूट आस्था एकान्त रूप से केवलज्ञान मे प्रतिभासित वस्तु की त्रैकालिक पर्यायो की नियत स्थिति पर है तो क्या वे इस बात से इन्कार कर सकते है कि उनके मन मे कार्यसिद्धि का सकल्प और मस्तिष्क मे कार्यकारणभाव का विकल्प पैदा ही नही होता है। यदि वे इस बात से इन्कार करते हैं तो उनका जो कार्यसिद्धि के लिए पुरुपार्थ बुद्धिपूर्वक होता है वह नही होना चाहिए था। लेकिन तब वे कार्यसिद्धि के लिए पुरुपार्थ बुद्धिपूर्वक करते देखे जा रहे हैं तो यह निश्चित हो जाता है कि उनके मन मे कार्यसिद्धि का सकल्प और मस्तिष्क मे कार्यकारण-भाव का विकल्प नियम से पैदा होता है और यह तर्क सगत बात है कि एकान्त नियतवाद मे सकल्प, विकल्प और पुरुषार्थ को कोई स्थान ही नही रह जाता है।

इस प्रकार यह बात निश्चित हो जाती है कि श्रुत-ज्ञानी जीव केवलज्ञान की असीमित ज्ञापन शक्ति को तो

स्वीकार करता है और उसमे अटूट आस्था भी रखता है परन्तु इसके साथ ही वह यह भी जानता है कि कार्य की सिद्धि एकात नियतवाद की मान्यता के आधार पर नही हो जायगी, इसके लिए तो उसे कार्यसिद्धि के सकल्प और कार्यकारणभाव के विकल्पो के आधार पर पुरुषार्थ करना होगा। मुझे आश्चय और दु ख होता है कि प० फूलचन्द्रजी आदि एक ओर तो एकान्त नियतवादो वने हुए है और इसी का वे प्रचार भी करते हैं तथा कथचित् अनियतवाद की मान्यता का इस आधार पर निषेध करते हैं कि इससे सर्वज्ञता की हानि हो जायगी, लेकिन दूसरी ओर अपने कार्य की सिद्धि का सङ्कल्प, उसकी सिद्धि के लिए कार्यकारणभाव के विकल्प तथा सकल्प और विकल्प के आधार पर पुरुषार्थ भी वे करते है, साथ ही यह भी कहते फिरते है कि किसी के करने से कुछ नही होगा किन्तु जब होना होगा तभी होगा।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रत्येक वस्तु मे स्वप्रत्यय परिणमन (कार्य) तो स्वत ही होते रहते हैं परन्तु स्वपरप्रत्यय परिणमन (कार्य) जो होते है वे निमित्त सापेक्ष हो होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीवो का पुरुपार्थ भो उस-उस इन्द्रिय से जन्य ज्ञान के स्वसवेदन रूप श्रुतज्ञान के आधार पर उसमे कारण हुआ करता है। सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो का पुरुपार्थ कार्यसिद्धि के सङ्कल्प और कार्यकारणभाव के विकल्प के आधार पर उसमे कारण होता है, इसलिए वह जैसी कार्यसिद्धि का सङ्कल्प करता है उसके अनुरूप वह अपनी बुद्धि के अनुसार कार्यकारणभाव का भी निर्णय किया करता है और तव वह कार्यसिद्धि के लिए पुरुषार्थ करता है। यह वात दूसरी है कि पुरुषार्थ कार्यसिद्धि के अनुकूल हो, उपादान

पूर्णता हो और वाधक सामग्री का अभाव हो वही कार्योत्पत्ति होती है और जहाँ वे सव अनुकूल वाते न हो वहाँ कार्य की उत्पत्ति नही होती है। ऐसे स्थलो मे इस प्रकार की मान्यता से कार्य नही चल सकता है कि कार्योत्पत्ति होना होगी तो हो जायगी अन्यथा नही होगी। क्योकि जो सज्ञी पचेन्द्रिय जीव जव तक श्रुतज्ञान की निर्विकल्पक समाधि को प्राप्त नही हो जाता तव तक उसके सामने कार्य की सिद्धि करने का ही प्रश्न रहता है कार्यसिद्धि होना होगी तो हो जायगी ऐसी स्थिति वहाँ नही रहा करती है।

माना कि जिसे लोक मे या आगम मे कार्यसिद्धि की वाधक सामग्री कहा जाता है वह भी स्व के अनुकूल कार्यसिद्धि की साधक ही है परन्तु जिस कार्य की सिद्धि वह श्रुतज्ञानी जीव करना चाहता था उसकी तो वह वाधक ही है।

इस प्रकार प० फूलचन्द्र जी आदि के और हम लोगो के मध्य मतभेद केवल इस वात का है कि प० फूलचन्द्र जी आदि कहते है कि जो कार्य होना होगा वही होगा उसी के अनुकूल वहाँ निमित्त सामग्री उपस्थित होगी और हम लोगो का आगम, अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्क के आधार पर यह कहना है कि अनुकूल उपादानगत योग्यता और उसकी कार्यव्यवहितपूर्व पर्याय विशिष्टता विद्यमान रहने पर ही कार्योत्पत्ति होगी लेकिन उपादान के इस स्थिति मे पहुच जाने पर भी उसमे नाना कार्यो की उत्पत्ति सभव रहने के कारण वही कार्य उत्पन्न होगा जिसके अनुकूल निमित्त सामग्री का सद्भाव और वाधक सामग्री का अभाव होगा। श्रुतज्ञानी जीव को कार्यो-

त्पत्ति के लिये केवलज्ञान पर आधारित नियतवाद का सहारा उपयोगी नही होगा क्योकि नियतवाद मे जब कार्योत्पत्ति का प्रश्न ही नही रहता है तो उसमे कार्यकारण भाव को स्थान कैसे प्राप्त हो सकता है ? और यह निर्विवाद बात है कि जब वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है तो कार्योत्पत्ति और उसके कार्यकारण भाव को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है यही कारण है कि स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा को "ज जस्स जम्मि देसे–आदि" उपर्युक्त गाथाओ मे कार्योत्पत्ति के सम्बन्ध मे "जेणवि हाणेण" और "तेण विहाणेण" पदो द्वारा कार्य-कारणभाव को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जब वस्तु व्यवस्था मे कार्योत्पत्ति और उसके कार्यकारण भाव, को स्थान मिल जाता है तो केवल ज्ञान के आधार पर नियतवाद की स्थिति निर्णीत होने पर भी श्रुतज्ञान के आधार पर अनियत-वाद को भी स्थान मिल जाता है तथा जब तक श्रुत ज्ञानी जीव श्रुत ज्ञान की निर्विकल्पक स्थिति को नही प्राप्त कर लेता है तब तक उसे कार्य सिद्धि के लिये पूर्वोक्त प्रकार से सकल्प और विकल्प के आधार पर पुरुषार्थ करने मे प्रवृत्त होना अनि-वार्य ही रहता है तथा इसमे उपादानगत योग्यता, उपादान की कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायविशिष्टता, निमित्त सामग्री का सद्भाव और बाधक सामग्री का अभाव ये सभी बाते समाविष्ट हो जाती है। प्रमेय कमल मार्तण्ड का पूर्वोक्त "यच्चो च्यते"–इत्यादि कथन हमे इसी अभिप्राय की सूचना देता है।

इस प्रकार उपादान मे कार्य सिद्धि की योग्यता रहते हुए भी और उसके कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय मे पहुँच जाने पर भी वह कार्योत्पत्ति जब निमित्त सामग्री के सद्भाव और बाधक सामग्री के अभाव की अपेक्षा रखती है तो उस हाल मे भी

उपादान मे नाना प्रकार की कार्योत्पत्ति की सभावना सिद्ध हो जाती है। इस तरह तब वही कार्य उसमे उत्पन्न होता है जिसके अनुकुल निमित्त सामग्री का सद्भाव और बाधक कारणो का अभाव वहा पर रहा करता है। पूर्व मे मैं बतला चुका हूँ, कि जीव मे जब तक क्रोध कर्म का उदय रहता है तब तक उसकी क्रोध रूप परिणति होती है और जब मान कर्म का उदय हो जाता है तो क्रोध रूप परिणति न होकर मानरूप परिणति उसकी होने लगती है। इसका फलितार्थ यह है कि जीव मे क्रोध रूप परिणत होने की और मान रूप परिणत होने की दोनो ही योग्यतायें विद्यमान हैं परन्तु उसमे दोनो परिणतिया एक साथ उत्पन्न नही होती हैं अर्थात् क्रोध कर्म का उदय हो तो क्रोध रूप परिणति होती है और मान कर्म का उदय हो तो मान रूप परिणति होती है। लोक मे देखा जाता है कि महिलायें गू दे हुए आटे मे से अ शो को तोड तोड कर पुडी, रोटी, बाटी आदि आवश्यकतानुसार बनाती चली जाती हैं। इसी तरह गू दी हुई मिट्टी मे से भी अ शो को तोड-तोड कर कुम्भकार घडा, सकोरा आदि आवश्यकतानुसार विविध प्रकार की वस्तुयें बनाता चला जाता है। ऐसे स्थलो मे यह सोचना कि आटे के सभी परमाणु अनादि काल से क्रम बद्ध परिणमन करते हुए चले आ रहे थे उनमे से जिनके क्रमबद्ध परिणमनो मे जिस काल मे पुडी का रूप आना था उनमे पुडी का रूप आया, जिनमे रोटी का रूप आना था उनमे रोटी का रूप आया और जिनमे बाटी का रूप आना था उनमे बाटी का रूप आ गया यह त्रिविध प्रकार का परिवर्तन निमित्ताधार पर नही हुआ यह सब पागलपन की निशानी है। मिट्टी के अ शो से कुम्भकार के व्यापार के आधार पर जो घडा, सकोरा, आदि बनते चले

जाते है उनके सम्बन्ध मे भी उक्त प्रकार का सोचना पागलपन को ही निशानी है क्योकि इस प्रकार के सोचने से अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम सभी का अपलाप होता है और कार्य सिद्धि की सभावना ही समाप्त हो जाती है। इसलिये जो सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीव लौकिक अथवा पारमार्थिक जिस प्रकार की कार्य सिद्धि करना चाहता है उसे उस की सिद्धि के लिये "जब जो होना होगा सो होगा" इस मान्यता के झमेले मे न पड कर उसके अनुकूल उपादान और निमित्तो के सद्भाव व बाधक कारणो के अभाव पर ही दृष्टि रखना चाहिये तथा इसी आधार पर अनुकूल पुरुषार्थ करने का ही प्रयत्न करना चाहिये और यदि इन सब बातो का समन्वय हो जाता है तो कार्य सिद्धि नियम से होगी तथा उसी प्रकार के कार्य की सिद्धि होगी जिसके अनुकूल इन सब बातो का समन्वय हो जायगा।

पूर्व मे मैने जो यह कहा है कि स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की "पुव्वपरिणामजुत्त" इत्यादि गाथा का प० फूलचन्द्र जी ने अर्थ तो ठीक किया है परन्तु उसके अभिप्राय मे अन्तर पाड दिया है। अर्थात् उन्होने उसका यह अभिप्राय लिया है कि वस्तु जिस समय कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय मे पहुँच जाती है तब उसमे एक नियत कार्य के उत्पन्न होने की योग्यता आ जाती है और तब वही कार्य नियम से उत्पन्न होता है। लेकिन यह अभिप्राय गलत है क्योकि "यच्चोच्यते"-इत्यादि प्रमेय-कमल मार्तण्ड के पूर्वोक्त उद्धरण से व उपर्युक्त विवेचन से यही फलित होता है कि उस समय भी उसमे नाना योग्यताओ का सद्भाव सिद्ध होता है और जिस कार्य के अनुकूल वहा पर निमित्त सामग्री का सद्भाव और बाधक कारणो का अभाव

रहता है वही कार्य उत्पन्न होता है। २२१ गाथा की उक्त गाथा की आचार्य शुभ चन्द्राचार्य की टीका[1] में स्पष्ट लिखा है कि जिस कार्य के अनुकूल निमित्त सामग्री का सद्भाव और बाधक कारणों का अभाव होगा वही कार्य उससे उत्पन्न होगा। कल्पना कीजिये कि मिट्टी की घट कार्य की उत्पत्ति के क्षण से पूर्व क्षण-क्षणवर्ती पर्याय में घट की उत्पत्ति होना चाहिये परन्तु उस समय यदि दण्ड का प्रयास उस पर हो जावे तो घटोत्पत्ति न होकर मिट्टी का चूरा बन जावेगा। इस बात को ध्यान में रखकर गाथा का अभिप्राय यही निकलता है कि कार्य में अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय कारण कहलाती है और इस पूर्व क्षणवर्ती पर्याय से उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य कहलाती है लेकिन कार्य वही उत्पन्न होगा जिसके अनुकूल निमित्त सामग्री का सद्भाव और बाधक सामग्री का अभाव वहां पर होगा। इस तरह इस आधार पर कार्योत्पत्ति में पं० फूलचन्द्र जी, पं० जगन्मोहन लाल और उनके समर्थक जनों का निमित्त को अकिंचित्कर सिद्ध करने व एक निश्चित कार्य की उत्पत्ति स्वीकार कर उसे नियतवाद का जामा पहिनाने का प्रयास अबुद्धिमत्तापूर्ण ही है।

1-द्रव्यं जीवादि वस्तु पूर्वपरिणाम युक्त पूर्व पर्यायाविष्ट कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्तते, तदेव द्रव्य जीवादि वस्तु उत्तर परिणाम युक्तं उत्तरपर्यायाविष्टं तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्ट कारणभूत मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्ध सामर्थ्यं कारणान्तरा वैकल्येन उत्तर क्षणे कार्यं निष्पादयत्येव। यथा आतान-वितानात्मकास्तन्तवः अप्रतिबद्धसामर्थ्या कारणान्तरावैकल्याश्च अन्त्यक्षण प्राप्ताः पटस्य कारणं, उत्तर क्षणे तु कार्यम्।

५—"प०जगन्मोहनलाल जी ने जैनतत्त्वमीमासा के प्राक्कथन मे पृष्ठ १३ पर यह भी लिखा है कि निमित्त चाहे क्रियावान् द्रव्य हो या चाहे निष्क्रिय द्रव्य हो, कार्य होगा अपने उपादान के अनुसार ही। अत. निमित्त का विकल्प छोड कर प्रत्येक ससारी जीव को अपने उपादान की ही सम्हाल करनी चाहिये। जो ससारी जीव अपने उपादान की सम्हाल करता है वह अपने मोक्ष रूपी इष्ट प्रयोजन की सिद्धि मे सफल होता है और जो ससारी जीव उपादान की उपेक्षा कर अपने अज्ञान के कारण निमित्तो को मिलाने के विकल्प करता रहता है वह अज्ञानी हुआ ससार का पात्र बना रहता है।"

प० जी के इस कथन के विषय मे पहलो वात तो मैं यह कहना चाहता हू कि जब प० फूलचन्द्र जी और प० जगन्मोहनलाल जी दोनो ही विद्वानो की मान्यता के अनुसार प्रत्येक वस्तु की त्रैकालिक पर्यायें उस-उस समय के साथ नियत होकर ही विराजमान है और उन त्रैकालिक पर्यायो मे जेसा भी कार्यकारणभाव सम्भव हो, वह भी उसी प्रकार उस-उस समय के साथ नियत होकर अपना स्थान जमाये हुए है तो ऐसी हालत मे जीव को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने उपादान की सम्हाल करने की प्रेरणा देना आवश्यक नही है। अलावा इसके प० जगन्मोहन लाल जी द्वारा उपादान की सम्हाल करने की वात करना निमित्त के महत्व को प्रस्थापित करना नही है तो फिर क्या है ? क्योकि इस तरह प० जी दूसरो को अपने उपादान की सम्हाल करने की प्रेरणा ही तो दे रहे है। दूसरी वात उक्त कथन के विषय मे मैं यह कहना चाहता हूँ कि वस्तु मे उसकी अपनी त्रैकालिक पर्यायो की उपादान शक्ति जिसे प० फूलचद्र जी

तक तो जीव की उसमें पायी जाने वाली योग्यता के आधार पर क्रोध कषायरूप परिणति होती रही और जिस क्षण क्रोध-कर्म का उदय विनष्ट होकर मानकर्म का उदय जीव के होगया उस क्षण से उसकी उसमे पायी जाने वाली योग्यता के ही आधार पर मान कषाय रूप परिणति होने लगी और यदि लोभ या माया कर्मों मे से किसी एक का उदय होगया तो यथायोग्य लोभ या माया कषायरूप परिणति उस जीव की होने लगी। इस तरह जीव की क्रोध कषायरूप परिणति मान, लोभ या माया कषायरूप उसकी परिणति की कारण सिद्ध नही होती है। इसी प्रकार जीव की ससार रूप परिणति के अनन्तर क्षण मे होने वाली मोक्षरूप परिणति की कारण उससे विलक्षण अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती ससार रूप परिणति को कदापि नही माना जा सकता है प्रत्युत ससार के कारणभूत द्रव्यकर्मों, नोकर्मों और भाव कर्मों के अभाव को ही उसमे कारण मानना उपयुक्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव के जब तक कर्मों और नोकर्मो का सयोग विद्यमान रहता है तब तक तो उसकी ससार रूप परिणति रहा करती है और जिस क्षण उसका कर्मो और नोकर्मो के साथ सयोग विच्छिन्न हो जाता है उस क्षण से उसकी मोक्षरूप परिणति होने लगती है। इस तरह वस्तु मे अनादिकाल से उपादानशक्ति के विद्यमान रहते हुए भी विवक्षित कार्य की उत्पत्ति का यथासमय होना निमित्त सामग्री की अनुकूलता पर ही निर्भर रहा करता है उस कार्य की अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय उसकी नियामक कदापि नही होती है। जसे जीव की क्रोधपर्याय के अनन्तर क्रोधपर्याय भी हो सकती है अथवा मान, माया लोभ पर्यायो मे से कोई भी पर्याय हो सकती है वहा ऐसा नियम नही है कि क्रोधपर्याय के

पश्चात् अमुक पर्याय ही होना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस पर्याय के अनन्तर वस्तु की निजी उपादानशक्ति के आधार पर जो पर्याय उत्पन्न होगी वह उसके अनुकूल निमित्त सामग्री के आधार पर हो होगी केवल उपादानशक्ति के आधार पर नही।

माना कि मिट्टी की कुशूलपर्याय के अनन्तर ही घटपर्याय होगी इसलिये कुशूलपर्याय घटपर्याय की कारण है परन्तु यहा यह बात भी है कि कुशूलपर्याय के अनन्तर घटपर्याय होगी ही—ऐसा कोई नियम नही है क्योकि यदि कुशूल पर दण्ड प्रहार हो जावे तो घटपर्याय उत्पन्न न होकर एक अन्य पर्याय ही उत्पन्न हो जायगी अथवा उस समय कुम्भकार की इच्छा घटपर्याय के निष्पन्न करने की नही रही तो भी घटपर्याय निष्पन्न नही होगी। एक बात और इसमे विचारणीय है कि कार्य के प्रति उपादान कारण वही होता है जो कार्य मे अनुस्यूत रहता है। यही कारण है कि आगम मे पूर्व पर्याय विशिष्टद्रव्य को ही कार्य के प्रति उपादान कारण माना गया है पूर्व पर्याय को नही। इसका आधार यह है कि पूर्व पर्याय विनष्ट होकर ही उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होती है इसलिये पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय मे अनुस्यूत नही रहती है।

ऊपर मैने कहा है कि जीव की क्रोधपर्याय के अनन्तर क्रोध, मान, माया और लोभ मे से कोई भी पर्याय उत्पन्न हो सकती है इसलिये पूर्व क्रोध पर्याय को उत्तर क्रोधादिपर्याय का कारण मानना अयुक्त है किन्तु क्रोधादि कर्मों के उदय को ही कारण मानना युक्त है—इसी प्रकार जीव की नारकपर्याय के अनन्तर और देवपर्याय के अनन्तर या तो मनुष्य पर्याय होगी

या तिर्यग्पर्याय होगी एव मनुष्य अथवा तिर्यग्पर्यायो के अनन्तर मनुष्य, तिर्यग्, देव तथा नारक इन चारो मे से कोई भी पर्याय होगी नियम से एक पर्याय नही होगी अत उनमे से कोई भी पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय की कारण नही मानी जा सकती है किन्तु उस-उस आयु कर्म का और उस-उस गतिनाम कर्म का उदय ही उस-उस पर्याय की उत्पत्ति मे कारण माना जा सकता है।

इस सब विवेचन का सार यह है कि विवक्षित कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय उस विवक्षित कार्य की नियामक कदापि नही हो सकती है किन्तु उसकी नियामक निमित्त सामग्री ही होती है। इस सम्बन्ध मे और भी स्पष्टीकरण किया जाय तो यो किया जा सकता है कि मिट्टी अनादिकाल से खानि मे पडी चली आरही है, तो जब तक उसमे उसके अपने नियत परिणमन स्वभाव के आधार पर यथायोग्य समान और कदाचित् असमान भी परिणमन होते रहते हैं वे सभी परिणमन क्रमश अनायास प्राप्त समान और असमान निमित्तो के सहयोग से ही हुआ करते हैं। यद्यपि ये सभी परिणमन एक-एक के रूप मे उत्तरोत्तर समयो मे ही हुआ करते है परन्तु यहा पर पूर्व परिणमन उत्तर परिणमन का नियामक होता हो—ऐसी बात नही है क्योकि पूर्व परिणमन को यदि उत्तर परिणमन का नियामक माना जायगा तो समान परिणमन होते-होते जो यकायक असमान परिणमन होने लगता है उसकी असगति हो जायगी। खानि मे पडी हुई उस मिट्टी को कुम्भकार द्वारा खोद कर घर लाने पर उसमे जो स्थास, कोश, कुशूल और घट आदि विविध प्रकार के परिणमन होते देखे जाते हैं वे सब तो स्पष्ट ही कुम्भकार, चक्र, दण्ड और

जलादि निमित्त सामग्री के सहयोग से होते हुए देखे जाते है। यद्यपि यह बात ठीक है कि मिट्टी से स्थूल रूप मे स्थास के अनन्तर कोश और कोश के अनन्तर कुशूलपर्याय की उत्पत्ति हो जाने पर ही घट की उत्पत्ति होने का नियम देखा जाता है परन्तु यह बात निर्विवाद ही मानी जानी चाहिये कि दो पर्यायो के मध्य पाया जाने वाला आनन्तर्य कभी भी कार्यकारणभाव का नियामक नही हो सकता है। जैसे कृत्तिका नक्षत्र के उदय के पश्चात् शकट नक्षत्र का उदय नियम से हुआ करता है और यही कारण है कि कृत्तिका नक्षत्र का उदय आगे शकट नक्षत्र के उदय का ज्ञापक है परन्तु इससे यह निष्कर्ष तो नही निकाला जा सकता है कि कृत्तिका नक्षत्र का उदय शकट नक्षत्र के उदय मे कारण होता है। इसी प्रकार यद्यपि मिट्टी की स्थास, कोश, कुशूल और घटपर्यायो की उत्पत्ति मे उत्तरोत्तर आनन्तर्य पाया जाता है परन्तु इन सबकी उत्पत्ति निमित्तभूत कुम्भकार, दण्ड, चक्र व जलादि सामग्री के सहयोग से ही होती है। यही कारण है कि स्थास के पश्चात् ही कोश, कोश के पश्चात् ही कुशूल और कुशूल के पश्चात् ही घट की उत्पत्ति होने का नियम रहने पर भी ऐसा नियम नही है कि स्थास के पश्चात् कोश की, कोश के पश्चात् कुशूल की और कुशूल के पश्चात् घट की उत्पत्ति होती ही है।

इस तरह प० जगन्मोहनलालजी ने जो यह लिखा है कि "निमित्त का विकल्प छोडकर प्रत्येक ससारी जीव को अपने उपादान की ही सम्हाल करनी चाहिये" सो इसमे उपादान की सम्हाल करने की बात तो ठीक है परन्तु ऊपर के कथन से उपादान की सम्हाल करने का सहारा तो निमित्त सामग्री ही सिद्ध होती है अत निमित्त का विकल्प छूट कैसे सकता है?

दूसरी बात यह है कि "उपादान की सम्हाल करनी चाहिये" इस वाक्य का अर्थ परावलम्बनवृत्ति और प्रवृत्ति को समाप्त करके स्वावलम्बनवृत्ति और प्रवृत्ति को अपनाने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? लेकिन इस अर्थ का एक तो उक्त उभय विद्वानो के इस मत के साथ विरोध आता है कि "प्रत्येक वस्तु की त्रैकालिक पर्यायें अपने-अपने समय मे नियत होकर बैठी हुई हैं" दूसरे इससे यह भी सिद्ध होता है कि परावलम्बनवृत्ति को उक्त उभय विद्वान उपचरित अर्थात् कथन मात्र मानने का भले ही आग्रह करते रहे लेकिन यह बात निश्चित है कि वह परावलम्बनवृत्ति जब जीव के वास्तविक ससार का कारण है तो ऐसी स्थिति मे उसे उपचरित (कथनमात्र) कैसे माना जा सकता है ? तीसरे इससे जीव के ससार की सृष्टि मे निमित्तो की आश्रितता सिद्ध हो जाने से "कार्य केवल उपादान के बल पर ही उत्पन्न होता है" इस सिद्धान्त का व्याघात हो जाता है ।

यदि कहा जाय कि जीव का ससार उसकी पर्यायो मे ही रहता है इसलिये वह स्वभावत ही जीव मे विद्यमान रहता है इस तरह उसमे निमित्तो की आश्रितता सिद्ध नही होती है तो ऐसा स्वीकार करने पर "परावलम्बनवृत्ति अपनाने से जीव ससार का पात्र बना रहता है" यह सिद्धान्त व्याहत हो जाता है । एक बात और है कि जब जीव का ससार स्वभावत ही है तो एक तो उसका कभी नाश नही होना चाहिये, दूसरे यदि नाश होता ही है तो उसका वह नाश स्वभावत ही हो जायगा इसलिये उसके नाश के लिये परावलम्बनवृत्ति छोडकर स्वावलम्बनवृत्ति को अपनाने की बात करना असगत ही है,

तीसरे उक्त उभय विद्वानो की दृष्टि मे प्रत्येक वस्तु वास्तव मे जव सर्वदा स्वतन्त्र ही रह रही है क्योकि उनकी मान्यता के अनुसार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य मे कुछ भी परिवर्तन नही कर सकता है जो कुछ भी वस्तु मे परिवर्तन होता है वह स्वभावतः ही होता है तो ऐसी स्थिति मे भी परावलम्वनवृत्ति छोडने की वात करना बेकार है। यदि कहा जाय कि समयसार मे भी एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य द्वारा परिणमन कराने का निपेध किया गया है तो मैं कहूगा कि इसका आशय यह नही है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणमन मे निमित्त भी नही होता है किन्तु उसका आशय यह है कि एकद्रव्य के गुणधर्म दूसरे द्रव्य मे प्रविप्ट नही होते हैं अर्थात् एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कभी तादात्म्य सम्वन्ध नही हो सकता है लेकिन सयोग तो होता है और यहो कारण है कि जहाँ एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध न हो सकने के कारण केवल परप्रत्यय परिणमन का आगम मे निषेध किया गया है वहाँ एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ सयोग होने से स्वपरप्रत्यय परिणमन का वही पर (आगम मे) समर्थन भी किया गया है। तात्पर्य यह है कार्य के प्रति उपादानकारणता तादात्म्य सम्वन्ध के आश्रित है इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य का उपादानकारण तो नही होता है क्योकि उन दो द्रव्यो मे तादात्म्य सम्वन्ध का अभाव है परन्तु कार्य के प्रति निमित्तकारणता सयोग सम्वन्ध के आश्रित है इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य के प्रति निमित्तकारण तो हो ही सकता है क्योकि उन दो द्रव्यो मे तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव होने पर भी सयोग सम्बन्ध का सद्भाव तो हो ही सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि वस्तु का स्वभाव परिणमन करना है क्योकि यदि वस्तु का

स्वभाव परिणमन करना न हो तो न तो उसमें स्वभावत' ही परिणमन हो सकता है और न पर वस्तु ही उसे परिणमित करा सकती है, परन्तु उम परिणमनशील वस्तु का एक परिणमन न तो ऐसा होता है जो स्वभावत ही हुआ करता है जिसे स्वप्रत्यय परिणमन कहते हैं और एक परिणमन ऐसा होता है जो अन्य वस्तु का सहयोग मिलने पर होता है जिसे स्वपरप्रत्यय परिणमन कहते हैं। इस तरह स्वपरप्रत्यय परिणमन मे स्व अर्थात् उपादानकारण के साथ पर अर्थात् निमित्त कारण की भी नियामकता सिद्ध हो जाती है। अर्थात् परिणमन स्वप्रत्यय अथवा स्वपर प्रत्यय तो होता है लेकिन परप्रत्यय कदापि नही होता है।

६–प० जमन्मोहनलाल जी ने अपने प्राक्कथन के प्रथम पृष्ठ पर लिखा है कि "यह तो आगम, अनुभव और युक्ति से ही सिद्ध है कि ससार मे जड और चेतन जितने भी पदार्थ है वे सब स्वतत्र है। जो शरीर ससारी जीव के साथ वाह्य दृष्टि से एक क्षेत्रावगाही हो रहा है वह भी पृथक है। वस्तुत इस सनातन सत्य का बोध न होने के कारण ही यह जोव अपने को भूला हुआ है। उसके दु ख का निदान भी यही है। यद्यपि यह ससारी जीव दु ख से मुक्ति चाहता है, परन्तु जब तक आत्मा-अनात्मा का भेद विज्ञान होकर इसे ठीक तरह से अपने आत्म् स्वरूप की उपलब्धि नही होती तब तक इसका दु ख से निवृत्त होना असभव है। सब से पहले इसे यह जानना जरूरी है कि मेरे ज्ञान-दर्शन स्वभाव आत्मा से भिन्न अन्य जितने जड-चेतन पदार्थ हैं वे पर हैं। उनका परिणमन उनमे होता है और आत्मा का परिणमन आत्मा मे होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को बलात् नही परिणमा मकता है। यद्यपि काकतालीयन्याय से कभी

ऐसा भी प्रसंग उपस्थित हो जाता है कि हम पदार्थ का जैसा परिणमन चाहते है और उसके लिये प्रयत्न करते है, पदार्थ का वैसा परिणमन होता हुआ देखा जाता है, इसलिये हम मान लेते हैं कि इसे हमने परिणमाया, अन्यथा इसका ऐसा परिणमन न होता। किन्तु यह मानना कोरा भ्रम है और यही भ्रम ससार की जड है। अतएव सबसे पहले इस ससारी जोव को अपने आत्मस्वरूप को पहिचान के साथ इसी भ्रम को दूर करना है। इसके दूर होते ही इसके स्वावलम्बन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। स्वावलम्बन का मार्ग कहो या मुक्ति मार्ग कहो, दोनो कथनो का एक ही अभिप्राय है। अतीत काल मे जो तीर्थंकर सन्त महापुरुष हो गये है वे स्वय इस मार्ग पर चल कर मुक्ति के पात्र तो हुए ही, दूसरे ससारी प्राणियो को भी उन्होने अपनी चर्चा और उपदेश द्वारा इस मार्ग के दर्शन कराये।"

प० जगन्मोहन लाल जी ने यह जो कुछ लिखा है वह वहाँ तक ठीक लिखा है जहाँ तक दृष्टि भेद नही है परन्तु दृष्टि भेद के कारण इसका महत्व समाप्त हो जाता है। आगे इसी बात को स्पष्ट किया जा रहा है।

इसमे सदेह नही कि ससार मे जड और चेतन जितने पदार्थ हैं वे सब स्वतत्र हैं परन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि पदार्थ मे परतत्रता का अभाव है। आगम, अनुभव और युक्ति से जिस प्रकार पदार्थ की स्वतत्रता सिद्ध होती है उसी प्रकार उसकी परतत्रता भी सिद्ध होती है इसलिये विचारणीय बात यह है कि पदार्थ क्यो तो स्वतत्र है और क्यो परतत्र है।

मैं पूर्व में वतला चुका हू कि ससार मे छै प्रकार के पदार्थ हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमे भी जीव नाम के पदार्थ अनन्तानन्त सख्या मे है, पुद्गल नाम के पदार्थ भी अनन्तानन्त हैं, धर्म, अधर्म और आकाश नाम के पदार्थो की सख्या एक-एक है तथा काल नाम के पदार्थों की सख्या अख्यात है। इन सब पदार्थो की स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थ मे अपने-अपने पृथक्-पृथक् स्वत सिद्ध अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व और प्रमेयत्व नाम के छै गुण पाये जाते है। ये गुण जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल मे तो पृथक्-पृथक् हैं ही, परन्तु अनन्तानन्त जीवो मे से प्रत्येक जीव मे, अनन्तानन्त पुद्गलो मे से प्रत्येक पुद्गल मे और असख्यात कालो मे से प्रत्येक काल मे भी पृथक्-पृथक् ही हैं। इसका फलितार्थ यह है कि इन अनन्तान्त पदार्थों मे से कोई भी पदार्थ कभी दूसरे पदार्थ का रूप धारण नही करता है और न कर सकता है इसलिये इनकी सख्या मे न तो कभी कमी हो सकती है और न वढोत्री ही हो सकती है। इसी तरह उपर्युक्त गुणो की स्वत सिद्धता के कारण न तो किसी पदार्थ की कभी उत्पत्ति हुई है और न किसी पदार्थ का कभी नाश ही हो सकता है। अर्थात् सभी पदार्थ अनादिकाल से ससार मे विद्यमान है और अनन्त काल तक विद्यमान रहेगे।

प्रत्येक पदार्थ मे अपने-अपने पृथक्-पृथक् स्वत सिद्ध उक्त छै गुण पाये जाते हैं—इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थ का अपना निजी अस्तित्व अर्थात् स्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ का अपना निजी वस्तुत्व अर्थात् सार्थकत्व है यानि कोई भी पदार्थ निरुपयोगी नही है। प्रत्येक पदार्थ मे अपनी निजी

द्रव्यत्व है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। प्रत्येक पदार्थ मे अपना निजी अगुरुलघुत्व है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ परिणमन-शील तो है परन्तु वह परिणमन प्रत्येक पदार्थ के अपने निजी स्वभाव के दायरे मे ही हुआ करता है यानि कोई भी पदार्थ परिणमन करते हुए भी अपने रूप अथवा स्वरूप को न तो सर्वथा समाप्त ही करता है और न अपने रूप अथवा स्वरूप को छोडकर किसी अन्य पदार्थ के रूप अथवा स्वरूप को ही प्राप्त होता है। प्रत्येक पदार्थ का अपना निजी प्रदेशवत्व है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने निजी कुछ न कुछ आकार वाला है। इसी तरह प्रत्येक पदार्थ मे अपना निजी प्रमेयत्व अर्थात् प्रमाण-विषयत्व है यानि ऐसा ससार मे एक भी पदार्थ नही है जो प्रमाण द्वारा जाना न जाताहो।

उपर्युक्त विवेचन पदार्थ की स्वतन्त्रता का है। प्रत्येक पदार्थ मे परतन्त्रता भी पायो जाती है। अर्थात् उपर्युक्त सभी पदार्थों मे ऐसा एक भी पदार्थ नही है जो दूसरे पदार्थों के साथ सयुक्त न हो। आकाश दूसरे सभी पदार्थों के साथ सयुक्त हो रहा है। यही कारण है कि उसमे दूसरे सभी पदार्थों के साथ अवगाह्य-अवगाहकभाव और व्याप्य-व्यापकभाव पाया जाता है। अर्थात् आकाश दूसरे सभी पदार्थों का अवगाहक और उनको व्याप्त कर रहने वाला है तथा दूसरे सभी पदार्थ आकाश के अवगाह्य और व्याप्य हैं। इसो तरह सभी पदार्थों की प्रदेशवत्ता (आकृति) का सीमित्तरूप आकाश पर आधारित है और चूंकि आकाश की प्रदेशवत्ता (आकृति) को सीमित रूप देने वाला कोई अन्य पदार्थ नही है इसलिये वह असीमित है। काल नाम के पदार्थों की वृत्ति (मौजूदगी) स्वत सिद्ध है लेकिन अन्य

सभी पदार्थों को वृत्ति (मौजूदगी) के आधार काल नाम के पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ मे जो भूतता, वर्तमानता और भविष्यता पायी जाती है उसके आधार कालद्रव्य ही हैं। यह विभाजन जीवो और पुद्गलो मे ही सभव है कारण कि पुद्गल ता अणुरूप हैं और सक्रिय हैं तथा जीव यद्यपि समस्त काल पदार्थों के बराबर असख्यात प्रदेशी हैं परन्तु यथायोग्य छोटे-बडे शरीरो के आधार पर सकोच विस्तार वाले है और सक्रिय है इसलिये ये नियत काल द्रव्यो से कभी सयुक्त नही रहते हैं तो जब जिन काल पदार्थो से ये पुद्गल और जीव सयुक्त रहते है उनकी अपेक्षा उनमे वर्तमानता रहती है, जिन काल पदार्थों से उनका सयोग विच्छिन्न होता है उनकी अपेक्षा उनमे भूतता रहती है और जिन काल पदार्थो के साथ उनका आगे सयोग होने वाला हो उनकी अपेक्षा उनमे भविष्यत्ता रहती है। चूकि आकाश, धर्म और अधर्म निष्क्रिय पदार्थ है और काल भी निष्क्रिय पदार्थ है तथा आकाश, धर्म और अधर्म का सतत सभी काल पदार्थों के साथ सयोग रहता है अत इनमे भूतता, वर्तमानता और भविष्यत्ता का उक्त प्रकार का विभाजन नही होता है अर्थात् इनमे काल पदार्थो के सयोग के आधार पर सतत वृत्ति (मौजूदगी) ही रहा करती है। चूकि सभी पदार्थ परिणमनशील हैं और काल पदार्थ भी परिणमनशील है, लेकिन काल पदार्थो की पर्यायो का विभाजन अणुरूप पुद्गल की अत्यन्त मन्दगति के आधार पर होता है और अन्य सभी पदार्थों की पर्यायो का विभाजन काल पदार्थों की पर्यायो के आधार पर होता है, इसलिये यदि पर्यायो के आधार पर भूतता, वतमानता और भविष्यत्ता को ग्रहण किया जाय तो सभी पदार्थों की पर्यायो मे भूतता, वर्तमानता और भविष्यत्ता सिद्ध होती है।

काल पदार्थों की अखण्ड एक पर्याय को समय कहते है और नाना समयो के समूह को आवली, घडी मुहूर्त, सेकड, मिनट, घण्टा, प्रहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि कहते है। इस तरह पदार्थो की पर्यायो को दो भागो मे विभक्त कर दिया है—एक अति सूक्ष्म पर्याय और दूसरी स्थूल पर्याय। अति सूक्ष्म पर्याय का नाम अर्थपर्याय है और स्थूल पर्याय का नाम व्यञ्जन पर्याय है। जैसे जीव की मनुष्य पर्याय तो स्थूल पर्याय है और उसमे जो क्षण-क्षण का परिणमन है वह अति सूक्ष्म पर्याय है। प्रत्येक पदार्थ के ये परिणमन स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो प्रकार के होते हैं लेकिन उन परिणमनो का विभाजन एक के पश्चात् एक के रूप मे काल पदार्थों की पर्यायो के आधार पर होता है। ठहरे हुए क्रियाशील जीवो और पुद्गलो का जो गमन होता है उसके लिए धर्म पदार्थ अवलम्वन देता है और वे जीव और पुद्गल उस धर्म पदार्थ के अवलम्वन पर गमन करते है। इसी तरह चलते हुए वे जीव और पुद्गल जव ठहरते हैं तब उनके उस ठहरने के लिये अधर्म पदार्थ अवलम्वन होता है और वे जीव और पुद्गल उस अधर्म द्रव्य के अवलम्वन पर ही ठहरते है। जीव पदार्थ सभी पदार्थो को जानने वाले है और सभी पदार्थ जीव पदार्थों के ज्ञेय हैं। इसी प्रकार सभी पुद्गल एक दूसरे पुद्गल के साथ मिलते और विछुडते रहते हैं यानि अणु मे स्कन्ध और स्कन्ध से अणु का रूप धारण करते रहते है। इस तरह सभी पदार्थ परतन्त्र भी सिद्ध होते है।

जिस प्रकार पुद्गल पुद्गल के साथ मिलते हैं उसी प्रकार जीव भी अनादिकाल से पुद्गलो के साथ मिलकर

(बद्ध होकर) रहते आये है । जीवो और पुद्गलो के वन्ध मे पुद्गलो और पुद्गलो के वन्ध की अपेक्षा यह विशेषता पायी जाती है कि पुद्गल परस्पर जहाँ हमेशा मिलते और बिछुडते रहते हैं वहाँ जीवो की पुद्गलो के साथ मिलावट है तो अनादिकाल से, परन्तु जिस जीव की पुद्गल के साथ विद्यमान वह मिलावट एकवार समाप्त हो जाती है तो फिर कभी नही होती है और न हो ही सकती है । जीव और पुद्गल को मिलावट का नाम ससार कहलाता है और उसके नष्ट हो जाने यानि जीव और पुद्गल के पृथक्-पृथक् हो जाने का नाम मोक्ष है ।

जड और चेतन सम्पूर्ण पदार्थ परिणमन स्वभाव वाले होने के कारण जहाँ अपनी स्वतन्त्रता के आधार पर क्षणमात्रवर्ती स्वप्रत्यय परिणमन सतत करते रहते हैं वहाँ वे सभी पदार्थ परिणमन स्वभाव वाले होने के कारण ही यथासम्भव स्पृष्टता या बद्धता के आधार पर यथायोग्य क्षणमात्रवर्ती और नानाक्षणवर्ती स्वपरप्रत्यय परिणमन भी सतत करते रहते हैं । इसी आधार पर नाना वस्तुओ मे आधाराधेयभाव व निमित्तनैमित्तिकभाव की सिद्धि होती है। ये सम्वन्ध यद्यपि नाना वस्तुओ के आधार पर होने के कारण व्यवहारनय के विषय सिद्ध होते हैं फिर भी ये वास्तविक हैं गधे के सीग या वन्ध्या पुत्र के समान अवास्तविक, असत्य या कथनमात्र नही हैं ।

यद्यपि प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने उक्त स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमन उल्लिखित उभय विद्वानो के समान आगम समर्थित होने के कारण हम लोगो की मान्यता के

अनुसार भी उस-उस पदार्थ के अन्दर ही हुआ करते है, अर्थात् जो परिणमन जिस पदार्थ मे होता है वह उसी पदार्थ का है ऐसा नही है कि एक पदार्थ का कोई परिणमन किसी अन्य पदार्थ मे प्रविष्ट हो जाता हो, फिर भी प्रत्येक पदार्थ के स्वपरप्रत्यय परिणमन मे स्व के साथ परपदार्थ की सहायता की अपेक्षा रहने क कारण परपदार्थ की कारणता का निषेध किसी भी हालत मे नही किया जा सकता है।

माना कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को बलात् नही परिणमा सकता है अर्थात् परिणमन करने वाले पदाथ का वह परिणमन स्व की योग्यता के अभाव मे परपदार्थ द्वारा नही कराया जा सकता है जैसा कि पूर्व मे घटादि दृष्टान्तो के आधार पर विस्तार के साथ कहा जा चुका है, परन्तु क्या यह निर्विवाद नही है कि मिट्टी का घटरूप परिणमन मिट्टी मे तदनुकूल योग्यता के रहते हुए भी कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि के सहयोग से हुआ करता है अन्यथा नही। इसलिये "एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को बलात् नही परिणमा सकता" इस वाक्य का यह अर्थ—कि एक पदार्थ मे जो भी परिणमन होता है वह केवल उसके अपने परिणमन स्वभाव के आधार पर ही हो जाया करता है उसमे अन्य पदार्थ का सहयोग अपेक्षित नही रहा करता है वह तो वहाँ अकिंचित्कर ही बना रहता है स्वीकार करना भ्रान्त धारणा के अतिरिक्त कुछ भी नही है। इसमे घटादि दृष्टान्तो के साथ यह दृष्टान्त भी जोडा जा सकता है कि गार्ड द्वारा हरी झण्डी बताने पर ही ड्राइवर रेलगाडी का चलाता है और सिगनल के जरिये जब तक उसे सकेत प्राप्त नही होता तब तक वह उसे स्टेशन के क्षेत्र मे नही

ले जाता है। यदि कदाचित् कोई ड्राइवर जाने-अनजाने उक्त व्यवस्था का उल्लघन करता है तो भयकर दुर्घटनायें भी हो जाया करती है। यह सब एक पदार्थ के सहयोग से दूसरे पदार्थ मे परिणमन होने की बात नही तो फिर क्या है ?

बात वास्तव मे यह है कि एक पदार्थ के परिणमन मे दूसरे पदार्थ के साथ निमित्तनैमित्तिक भावरूप कार्यकारणभाव की आवश्यकता लोक मे प्रत्येक व्यक्ति के सामने सतत रहा करती है। क्या यह कहा जा सकता है कि जितनी लोक सचालन और जीवन सचालन की व्यवस्थायें बनी हुई हैं या बनायी जाती हैं या जो परमार्थ से सम्बन्ध रखने वाली धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, नीति-अनीति आदि की व्यवस्थायें बनायी गयी हैं वे सब उपादानकारण के अधीन होकर भी निमित्तकारण के अधीन नही है ? मैं प० फूलचन्द्रजी और पं० जगन्मोहनलालजी से पूछना चाहता हूँ कि जीव की परिणति जो क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि रूप हुआ करती है अथवा उसकी जो हिंसा आदि पापरूप प्रवृत्ति हुआ करती है इन सब मे क्या पुद्गल कर्म तथा नोकर्म निमित्त नही हुआ करते हैं ? और क्या इन्हे जीव की केवल स्वाभाविक अर्थात् केवल स्वप्रत्यय परिणतियो का रूप ही मान लिया जावे ? यदि दोनो विद्वान इन्हे केवल स्वप्रत्यय परिणतियाँ ही मानते हैं तो उनकी यह भ्रान्त धारणा है। एक बात यह भी विचारणीय है कि जीव का सचेतन-अचेतन विविध प्रकार के पदार्थों मे जो अहकार या ममकार होता है उसका अवलम्बन ये सब पदार्थ ही हुआ करते हैं। उक्त दोनो विद्वानो का इन बातो पर लक्ष्य नही पहुँच रहा है—यह महान आश्चर्य और दु ख की बात है।

प० जगन्मोहनलालजी ने अपने उपर्युक्त कथन में जो यह लिखा है कि "एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को बलात् नही परिणमा सकता। यद्यपि काकतालीयन्याय से कभी ऐसा प्रसग उपस्थित हो जाता है कि हम पदार्थ का जैसा परिणमन चाहते है और उसके लिये प्रयत्न करते हैं पदार्थ का वैसा परिणमन होता हुआ देखा जाता है इसलिये हम मान लेते है कि इसे हमने परिणमाया, अन्यथा इसका ऐसा परिणमन नही होता, किन्तु यह मानना कोरा भ्रम है।"

इस विषय मे मैं पडित जी से पूछना चाहता हूँ कि मिट्टी आदि पदार्थो से घट आदि पदार्थो का निर्माण कुम्भकार आदि के तदनुकूल व्यापार करने पर ही होता हुआ देखा जाता है, अब यदि ऐसी घटनाओ को काकतालीयन्याय के अनुसार होती हुई ही माना जाय तो घट निर्माण के उद्देश्य से कुम्भकार द्वारा खानि से बुद्धिपूर्वक मिट्टी को खोदकर लाया जाना, उसे घटनिर्माण के योग्य बनाया जाना, फिर दण्ड, चक्र आदि साधन सामग्री के सहारे पर बुद्धिपूर्वक किये गये अपने व्यापार से ही मिट्टी मे घटनिर्माण की क्रिया उत्पन्न होने सम्बन्धी अनुभव के आधार पर उस प्रकार का व्यापार किया जाना आदि सब प्रकार का प्रयत्न क्या मूर्खता का ही कार्य समझ लिया जाना चाहिये ? और यदि ऐसा है तो फिर प्रत्येक बुद्धिमान और विवेकी-व्यक्ति का घट प्राप्ति के लिये कुम्भकार के घर दौडा जाना कहाँ तक बुद्धि सगत माना जा सकेगा ? जब कि इस प्रकार के प्रयत्न से कुम्भकार के घर पर घट की प्राप्ति होने की अनुभूत बात लोक मे सगत मानी जाती है। इसी तरह प० फूलचन्द्र जी के अन्त करण मे 'जैनतत्त्वमीमासा' पुस्तक लिखने की भावना जाग्रत होना, तदनुसार उसके लिखने

मे उनके द्वारा अपनी बुद्धि का उपयोग किया जाना तथा स्याही, कागज, कलम आदि के सहारे पर हस्त द्वारा लेखन कार्य किया जाना आदि यदि पुस्तक निर्माण मे अनुपयोगी ही रहे, उनके सहयोग से पुस्तक का निर्माण होते हुए भी इसके बिना पुस्तक अपने उपादान से अपने आप ही काकतालीयन्याय से निर्मित हो गयो व प० जगन्मोहनलालजी का प्राक्कथन भी उनके सकल्प, बुद्धि के प्रयोग तथा हस्तादि के व्यापार करने पर भी काकतालीयन्याय से अपने आप लेख के रूप मे तैयार हो गया तो ऐसी समझ रखने वाले उक्त दोनो विद्वानो का उक्त प्रकार का सकल्प, बुद्धि का प्रयोग तथा हस्तादि का व्यापार आदि सब उनके अज्ञान का ही कार्य माना जाना चाहिये तथा ऐसी हालत मे प० जगन्मोहनलालजी द्वारा प० फूलचन्द्रजी की प्रशसा किया जाना व इसके लिये प० फूलचन्द्र जी द्वारा प० जगन्मोहनलाल जी के प्रति कृतज्ञता प्रगट किया जाना आदि सब केवल बातूनी जमा-खर्च ही माना जाना चाहिये। क्या दोनो विद्वान समयसार को आचार्य श्री कुन्दकुन्द की रचना नही मानते हैं ? और वे कानजी स्वामी को अभूतपूर्व तत्त्व का उपस्कर्ता व लोकोपकार नही मानते हैं ? यदि ऐसा है तो फिर वे अपने लेखन मे तथा भाषणो मे यह सब प्रगट करते हुए क्यो नही अघाते हैं ? मैं तो उनके ऐसे आचरणो को देखकर इसी निर्णय पर पहुँचा हूँ कि वे दोनो ही विद्वान "हाथी के खाने के दात और व दिखाने के और" वाली कहावत को ही चरितार्थ कर रहे है। इस तरह मैं यही कहूँगा कि दोनो ही विद्वान सत्य को समझते हुए भी उसकी उपेक्षा कर रहे हैं और यदि उनकी विचारधारा को ही तत्त्वप्ररूपक विचारधारा मान लिया जाय तो फिर लोक मे बुद्धिमान व समझदार व्यक्ति

अपने जीवन की दृष्टि से, सार्वजनिक दृष्टि से और पारमार्थिक दृष्टि से भी जो सकल्प करता है, उसकी पूर्ति के लिये जो मार्ग निश्चित करता है तथा जो उस पर चलता है—तो इन सब बातो का औचित्य कैसे सिद्ध हो सकता है ? इतना ही नही, एक बात यह भी है कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनो ही प्रकार के जीव कार्य के लिये सकल्प करते है, मार्ग निश्चित करते है और मार्ग पर चलते है और उनके वे सकल्प समान रूप से मन के सहारे पर होते हैं, निर्णय समान रूप से मस्तिष्क के सहारे पर होता है और चलना समान रूप से शरीर के सहारे पर होता है—इस तरह सम्यग्दृष्टि को इन बातो का भी औचित्य कैसे सिद्ध हो सकता है ?

इस प्रकार उपर्युक्त सभी विवेचन हमे इस निर्णय पर पहुँचा देता है कि विवक्षित स्थलो पर निमित्त को अकिंचित्कर मान कर निमित्त नैमित्तिक भाव रूप कार्यकारणभाव की उपेक्षा करना अशक्य ही है, लेकिन इतने पर भी यदि कोई व्यक्ति उसकी उपेक्षा करता है तो उसे कृतघ्न ही माना जा सकता है, साथ मे यह भी कहा जा सकता है कि वह अपने अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और आगम—सभी का अपलाप करता है। प० फूलचन्द्र जी और प० जगन्मोहनलाल जी को इस पर ध्यान देना चाहिये।

यदि कहा जाय कि लौकिक कार्यो मे विद्यमान निमित्त नैमित्तिक भाव रूप कार्यकारणभाव का निषेध जैनतत्त्वमीमासा मे नही किया गया है केवल इतनी बात है कि मुक्ति पाने के लिये जीव को निमित्त सामग्री की आवश्यकता नही है और न निमित्त सामग्री की अपेक्षा रखने वाला जीव कभी मुक्ति पा

हो सकता है इस तरह केवल मुक्ति पाने की दृष्टि से ही जैनतत्त्व-मीमासा पुस्तक लिखी गई है, तो इस सम्बन्ध मे भी मेरा यह कहना है कि निमित्त को अकिंचित्कर सिद्ध करने के विषय मे जो कुछ जैनतत्त्वमीमासा मे लिखा गया है उसमे लौकिक और पारमार्थिक दृष्टियो का भेद दिखलाने का कही प्रयत्न नही किया गया है। दूसरी बात यह है कि मुक्ति के सम्बन्ध मे निमित्त नैमित्तिक भाव रूप कार्यकारणभाव के विचार की आवश्यकता नही है—इस बात का निषेध पूर्व मे किया जा चुका है और आगे भी किया जायगा। इसलिये यहाँ पर मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि मुक्ति भी जीव की स्वपरप्रत्यय पर्याय है अत उसकी प्राप्ति के लिये भी निमित्त नैमित्तिक भाव रूप कार्यकारणभाव पर दृष्टि रखना अनिवार्य हो जाता है। तीसरी बात यह है कि जहाँ तक कार्यकारणभाव की व्यवस्था का सम्बन्ध है वहाँ तक उसमे लौकिक और पारमार्थिक कार्यों का भेद नही किया जा सकता है, अन्यथा पारमार्थिक मान्यताओ के सम्बन्ध मे सर्वत्र जो लौकिक दृष्टान्तो का उपयोग आगम मे किया गया है उसका फिर क्या प्रयोजन रह जायगा ? इस तरह उपादान की कार्य रूप परिणति मे निमित्त के सहयोग की अनिवार्य आवश्यकता रहा करती है—इस सिद्धान्त को प० फूलचन्द्र जी और प० जगन्मोहनलाल जी द्वारा भ्रम पूर्ण बतलाया जाना दोनो विद्वानो की भूल ही है, अन्यथा पाच लब्धियो को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे कारण मानना भी असगत हो जायगा।

७—पं० फूलचन्द्र जी ने जैनतत्त्वमीमासा के निश्चय व्यवहारमीमासा प्रकरण मे पृष्ठ २५२ पर लिखा है—

"इस जीव को निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति होने पर व्यवहाररत्नत्रय होता ही है। उसे प्राप्त करने के लिये अलग से प्रयत्न नही करना पडता है। व्यवहाररत्नत्रय स्वय धर्म नही है। निश्चयरत्नत्रय के सद्भाव मे उसमें धर्म का आरोप होता है–इतना अवश्य है। इसी प्रकार रूढिवश जो जिस कार्य का निमित्त कहा जाता है उसके सद्भाव मे भी तब तक कार्य की सिद्धि नही होती जब तक जिस कार्य का वह निमित्त कहा जाता है उसके अनुकूल उपादान की तैयारी न हो। अतएव कार्य सिद्धि मे निमित्तो का होना अकिञ्चित्कर है।"

प० जी के उक्त कथन से स्पष्ट मालूम पडता है कि निमित्त को कार्य सिद्धि के प्रति अकिंचित्कर सिद्ध करने के लिये ही उन्होने उक्त कथन मे निश्चयरत्नत्रय के साथ तैयार उपादान की अर्थात् कार्य से अव्यवहित पूर्व समयवर्तीपर्याय विशिष्ट द्रव्य समर्थ उपादान की तथा व्यवहाररत्नत्रय के साथ निमित्त की तुलना की है और इस तरह वे बतला देना चाहते हैं कि मुक्ति रूप कार्य मे कारणता की दृष्टि से जो स्थिति निश्चय रत्नत्रय की होती है वही स्थिति प्रत्येक कार्य मे कारणता की दृष्टि से समर्थ उपादान की होती है तथा मुक्ति रूप काय मे कारणता की दृष्टि से जो स्थिति व्यवहार रत्नत्रय की होती है वही स्थिति प्रत्येक कार्य मे कारणता की दृष्टि से निमित्त की होती है। वह स्थिति क्या है? उसे उन्होने अपने उक्त कथन मे स्वय ही स्पष्ट किया है। वे कहते है कि व्यवहार रत्नत्रय स्वय धर्म नही है केवल निश्चय रत्नत्रय के सद्भाव मे उसमे धर्म का आरोप होता है। इसी प्रकार की बात वे निमित्त के विषय मे भी कहना चाहते है कि कार्य के प्रति निमित्त मे कारणता तो नही है लेकिन कार्य सिद्धि के अनुकूल उपादान की तैयारी होने पर

उसमे कारणता का आरोप मात्र किया जाता है। इस प्रसग मे उन्होने एक बात यह भी उक्त कथन मे प्रतिपादित की है कि निश्चयरत्नत्रय को प्राप्ति हो जाने पर वहा व्यवहाररत्नत्रय होता ही है उसे प्राप्त करने के लिये अलग से प्रयत्न नही करना पडता है। इसी प्रकार निमित्त के विषय मे भी वे कहना चाहते है कि उपादान की कार्य सिद्धि के अनुकूल तैयारी होने पर निमित्त वहाँ उपस्थित रहता ही है उसे जुटाने के लिये अलग से प्रयत्न नही करना पडता है। आगे इसकी मीमासा की जा रही है।

कार्य सिद्धि के प्रति निमित्त की अकिंचित्करता के विरोध और कार्यकारिता के समर्थन मे पर्याप्त लिखा जा चुका है। इसी प्रकार व्यवहाररत्नत्रय की धर्मरूपता या मोक्ष कारणता के समर्थन मे भी लिखा जा चुका है फिर भी प्रसगवश पुन लिख रहा हू।

निमित्तकारण की अकिंचित्करता के विरोध और कार्यकारिता के समर्थन मे मैंने लिखा है कि आचार्य विद्यानन्दी ने अष्ट सहस्री मे "तदसामर्थ्यमखण्यद किंचित्करं किं सहकारिकारण स्यात्" वचन द्वारा तथा आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमल मार्तण्ड मे "यच्चोच्यते शक्तिर्नित्या अनित्याचेत्यादि, तत्र किमय द्रव्यशक्तौ पर्याय शक्तौ वा प्रश्न. स्यात्" इत्यादि वचन द्वारा निमित्त कारण की अकिंचित्करता के विरोध और कार्यकारिता के समर्थन मे ही अपना अभिमत प्रगट किया है। इससे यह बात निर्णीत होती है कि कार्य यद्यपि उपादानगत योग्यता के आधार पर ही होता है परन्तु निमित्त कारण के

सहयोग से ही होता है । अतएव कार्योत्पत्ति मे निमित्त अकिचित्कर न होकर कार्यकारी ही होता है । इस कथन से मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हू कि प० जगन्मोहन लाल जी अपने पूर्वोद्धृत "एक कार्य के लिये जो निमित्त सामग्री बाधक हो वह दूसरे कार्य के लिये साधक हो जाती है" इस कथन के आधार पर यदि यह बात स्वीकार कर लें कि स्वपरप्रत्यय कार्य उपादानगत निजी योग्यता के आधार पर होते हुए भी निमित्त कारण के सहयोग से होता है तो फिर उनके उक्त कथन का आगम के साथ कोई विरोध नही रह जाता है ।

व्यवहाररत्नत्रय की धर्म रूपता या मोक्ष कारणता के समर्थन मे भी मेरा यह कहना है कि यद्यपि निश्चय रत्नत्रय से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु उसे निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति व्यवहाररत्नत्रय के आधार पर ही होती है जैसा कि पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है । इस तरह मोक्ष के साक्षात् कारणभूत निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति का कारण होने से व्यवहाररत्नत्रय मे भी परम्परया मोक्ष कारणता सिद्ध हो जाती है । अत मोक्ष कार्य के प्रति व्यवहार रत्नत्रय भी अकिंचित्कर न होकर कार्यकारी ही सिद्ध होता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार निश्चयरत्नत्रय मोक्ष का कारण होने से धर्म है उसी प्रकार व्यवहाररत्नत्रय भी मोक्ष का कारण होने से धर्म है । केवल यह विशेपता है कि निश्चयरत्नत्रय मोक्ष का साक्षात् कारण होने से जहाँ निश्चय धर्म है वहा व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष का परम्परया अर्थात् निश्चयरत्नत्रय का कारण होकर कारण होने से व्यवहार धर्म है ।

इस विवेचन के आधार पर मेरा कहना है कि प० फूलचन्द्र जी, प० जगन्मोहनलाल जी और उनके सपक्षीजन

उपादान मे उत्पन्न होने वाले कार्य मे निमित्त को तथा निश्चय-रत्नत्रय मे प्राप्त होने वाले मोक्ष मे व्यवहाररत्नत्रय को जो अकिंचित्कर मानते है और इसके आधार पर ही वे जो निमित्त कारण को कार्योत्पत्ति मे उपचरित कारण तथा व्यवहार रत्नत्रय को मोक्ष प्राप्ति मे उपचरित धर्म मानते है सो उनकी ये दोनो मान्यतायें भ्रमपूर्ण ही है। इन लोगो के ऐसा मानने से तो यह समझ मे आता है कि ये लोग निमित्तकारण और व्यवहाररत्नत्रय के स्वरूप से ही अनभिज्ञ हो रहे है। अत यहाँ पर निमित्तकारण और उदादानकारण तथा व्यवहाररत्नत्रय और निश्चयरत्नत्रय के स्वरूप को वतलाया जा रहा है।

निमित्त कारण के स्वरूप को समझने मे पूर्वोद्धृत अष्ट-सहस्री का "तदसामर्थ्यमखण्डयत्" इत्यादि वचन और प्रमेय कमल मार्तण्ड का "यच्चोच्यते" इत्यादि वचन ही पर्याप्त सहायक होते हैं क्योकि इनका आशय यह है कि जो उपादान की कार्य परिणति मे उपादान का सहायक होता है वह निमित्त कहलाता है। उपादान कारण का स्वरूप समयसार की निम्न-लिखित गाथा मे प्रतिपादित है।

ज भाव सुहमसुह करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
त तस्स होदि कम्म सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०६।

अर्थ—जिस शुभ या अशुभ भाव रूप आत्मा परिणत होता है उस भाव का वह कर्ता (उपादान कर्ता) कहलाता है और वह भाव उसका कर्म कहलाता है तथा उसका वेदक (अनु-भोक्ता) वही (आत्मा) होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार के कलश पद्य ५१ मे भी उपादान कर्त्तारूपकारण का यही स्वरूप बतलाया है। यथा–

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणति क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया ॥

इसमे स्पष्ट बतलाया गया है कि जो कार्य रूप परिणत होता है वह कर्ता (उपादान कर्ता) कहलाता है।

उपादान और निमित्त शब्दो के व्युत्पत्त्यर्थ पर यदि ध्यान दिया जाय तो इससे भी समझ मे आ जाता है कि जो कार्यरूप परिणित होता है वह उपादान कहलाता है और जो उपादान की कार्य परिणति मे उस उपादान की सहायता करता है वह निमित्त कहलाता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि 'उप' उपसर्गपूर्वक आदानार्थक 'आ' उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ यही होता है कि जो परिणमन को ग्रहण करे अर्थात् जो कार्यरूप परिणत हो वह उपादान है। इसी तरह 'नि' उपसर्गपूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द निष्पन्न हुआ है। मित्र शब्द भी इसी 'मिद्' धातु से 'क्र' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार जो मित्र के समान उपादान के कार्यरूप परिणत होने मे उस उपादान का स्नेहन करता है अर्थात् उसको (उपादान को) सहायता पहुचाता है वह निमित्त है।

व्यवहाररत्नत्रय और निश्चयरत्नत्रय के स्वरूप को समझने के लिये श्रद्धेय प० दौलतराम जी कृत छहढाला की

तीसरी ढाल से छठी ढाल तक का अवलोकन करना चाहिये। निश्चयरत्नत्रय का स्वरूप तीसरी ढाल मे निम्न प्रकार बतलाया गया है—

परद्रव्यन तें भिन्न आप मे रुचि सम्यक्त्व भला है।
आप रूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है॥
आप रूप मे लीन रहे थिर सम्यक् चारित सोई।
अब ववहार मोरवमग सुनिये हेतु नियत को होई॥३-२॥

इसका अर्थ स्पष्ट है। इसमे ऊपर के तीन चरणो मे प० जी ने निश्चयरत्नत्रय का स्वरूप बतलाया है तथा चतुर्थ चरण मे सकेत किया है कि इससे आगे सम्पूर्ण तीसरी ढाल मे व चौथी, पाचवी और छठी ढालो मे व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप बतलाया जायगा। इस तरह उन्होने उक्त सभी ढालो मे व्यवहाररत्नत्रय विस्तार से स्वरूप बतला दिया है।

पचास्तिकाय की १६१ वी गाथा[1] मे निश्चयरत्नत्रय का और १६० वी गाथा[2] मे व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप छहढाला के अनुरूप ही बतलाया गया है। इसी पञ्चास्तिकाय की १६० वी गाथा की टीका[3] मे आचार्य जयसेन ने निश्चय और व्यवहार दोनो ही प्रकार के रत्नत्रयो मे मोक्ष की कारणता का

---

(१) णिच्छयणयेण भणि दो तिहिं तेहि समाहि दो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णा ण मुयदि सो मोक्ख मग्गोत्ति॥१६१॥

(२) धम्मादी सद्दहणं सम्मत्त णाणभगपुव्वगद।
चेट्ठा तव हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति॥१६॥

(३) निश्चय व्यवहार मोक्ष कारणे सति मोक्षकार्यं स भवति।

समर्थन किया है तथा इसी १६० वी गाथा की टीका[1] मे आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त दोनो रत्नत्रयो मे साध्य साधक भाव बतला कर १६२ और १६३ वी गाथाओ की टीकाओ[2] मे उस साध्य साधक भाव को इस प्रकार घटित किया है कि व्यवहाररत्नत्रय साधक है और निश्चयरत्नत्रय साध्य है ।

इस प्रकार उक्त आगम वचनो के आधार पर निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयो का इस प्रकार स्वरूप निर्धारित होता है कि जीव की वस्तुतत्त्व व्यवस्था के प्रति "यह ऐसा ही है" इस तरह की आस्था हो जाना ही व्यवहार सम्यग्दर्शन है और इसके आधार पर उसकी आत्मकल्याण मे रुचि जाग्रत हो जाना निश्चय सम्यग्दर्शन है । इसी तरह जीव को वस्तुतत्त्व के प्रतिपादक आगम का ज्ञान हो जाना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और इसके आधार पर आत्मा को ज्ञान हो जाना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और इसी तरह उक्त सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक[3] निश्चय सम्यक्चारित्र के कारणभूत परालम्वन के त्यागरूप पुरुपार्थ की प्रक्रिया को जीव द्वारा अपना लिया जाना व्यवहार

---

(१) निश्चय व्यवहारयो साध्य साधन भावत्वात् ।

(२) निश्चय मोक्ष मार्ग साधन भावेन पूर्वो द्दिष्ट
व्यवहार मोक्षमार्ग निर्देशोऽयम् ।
व्यवहार मोक्ष मार्ग साध्य भावेन निश्चय
मोक्ष मार्गो पन्यासोऽयम् ॥

(३) मोहतिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्त सज्ञान ।
रागद्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु ॥४७॥
(रत्नकरण्ड श्रा०)

सम्यक् चारित्र है और परावलम्वन के त्याग की पूर्णता हो जाने पर जीव मे स्वावलम्वन की स्थिति का विकास हो जाना निश्चय सम्यक्चारित्र है।

यहा इतना विशेष समझना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी वही जीव कहलाता है जिसने अनन्तानुवन्धी कषाय का उपशम या क्षय अथवा उसके वर्तमानकाल मे उदय आने योग्य निषेको का उदयाभावी क्षय और आगामी काल मे उदय आने योग्य निषेको का सदवस्थारूप उपशम हो जाने पर क्रोधादि कषायरूपवृत्ति और हिसादि सकल्पी पापरूप प्रवृत्ति को अपने जीवन से निकाल दिया हो—जैसा कि पूर्व मे बतला दिया गया है। इस तरह जो जीव सकल्पी पापो के त्याग के अनन्तर आरम्भी पापो के त्याग की प्रक्रिया अपना लेता है वह व्यवहार सम्यक् चारित्री कहलाने लगता है तथा ऐसा जीव धीरे-धीरे आरम्भी पापो के उस त्याग मे वृद्धि करता हुआ अन्त मे जव सम्पूर्ण आरम्भी पापो का त्यागी हो जाता है तब उसके व्यवहार सम्यक्चारित्र की पूर्णता होती है और उसके अनन्तर ही उसे स्वावलम्वन की स्थितिरूप निश्चय सम्यक्-चारित्र की प्राप्ति होती है। यह सब भी पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है तथा आगे भी स्पष्ट किया जायगा।

निमित्तकारण और उपादानकारण तथा व्यवहाररत्नत्रय और निश्चयरत्नत्रय के स्वरूप का विवेचन करने वाले इस कथन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि आगम मे निमित्तकारण को जो उपचरित कारण बतलाया है वह कार्य के प्रति अकिंचित्कर होने के आधार पर नही बतलाया है प्रत्युत उपादान की कार्य परिणति मे उपादान का सहायक होने के आधार पर ही बतलाया है। इसी प्रकार आगम मे व्यवहाररत्नत्रय को जो उपचरित धर्म बतलाया है वह मोक्षरूप

कार्य के प्रति अकिंचित्कर होने के आधार पर नही बतलाया है प्रत्युत मोक्षकार्य के प्रति साक्षात् कारणभूत निश्चयरत्नत्रय का कारण होने से परम्परया मोक्ष का कारण होने के आधार पर ही बतलाया है। इस तरह प० फूलचन्द्रजी का यह सब कथन कि "व्यवहाररत्नत्रय स्वय धर्म नही है। निश्चयरत्नत्रय के सद्भाव मे उसमे धर्म का आरोप होता है—इतना अवश्य है। इसी प्रकार रूढिवश जो जिस कार्य का निमित्त कहा जाता है उसके सद्भाव में भी तब तक कार्य की सिद्धि नही होती है जब तक जिस कार्य का वह निमित्त कहा जाता है उसके अनुकूल उपादान की तैयारी न हो, अतएव कार्यसिद्धि मे निमित्तो का होना अकिंचित्कर है।" मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष और तर्क भी इस बात को सूचित करते हैं कि कार्यसिद्धि के लिये प्रत्येक व्यक्ति उपादान पर तो लक्ष्य रखता है परन्तु यदि निमित्त पर लक्ष्य नही रक्खा जावे अर्थात् उपादान की विवक्षित कार्यरूप परिणति के लिये निमित्त सामग्री का उपयोग नही किया जावे तो वह उपादान उस कायरूप परिणत होने मे तब तक असमर्थ ही रहेगा जब तक तदनुकूल निमित्त सामग्री का उपयोग नही किया जायगा। जैसे किसी व्यक्ति को यदि भवन का निर्माण करना है तो वह व्यक्ति भवन की उपादानभूत ईट, पत्थर, लकडी, चूना, सीमेट, लोहा आदि का सग्रह करने के साथ निमित्तभूत मिस्त्री, बेलदार, रेजा आदि को व अन्य निमित्त सामग्री को भी जुटाने का प्रयत्न करता है क्योकि वह जानता है कि उक्त उपादान सामग्री स्वय (अपने आप) ही भवनरूप परिणत नहीं होगी किन्तु उक्त निमित्त सामग्री का सहयोग प्राप्त होने पर ही वह भवनरूप परिणत होगी। यही बात

निश्चय और व्यवहाररत्नत्रयों के विषय में भी समझ लेनी चाहिये। अर्थात् निश्चयरत्नत्रय पर आरूढ़ हुआ जीव ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है—यह तो ठीक है, परन्तु निश्चयरत्नत्रय पर आरूढ़ होने के लिये उसे जो भी तदनुकूल पुरुषार्थ करना पड़ता है वह पुरुषार्थ व्यवहाररत्नत्रयरूप ही होता है फिर भले ही पं० फूलचन्द्रजी, पं० जगन्मोहनलालजी और उनके समर्थकजन इस बात को स्वीकार करने के लिये तैयार न हों।

निमित्तकारण और व्यवहाररत्नत्रय की कार्यकारिता के सम्बन्ध में एक बात यह भी कही जा सकती है कि कार्यसिद्धि के सम्बन्ध में आगम में जो निमित्तपरक कथन मिलते हैं व लोक में कार्यसिद्धि के लिये जो निमित्तों का अनिवार्य रूप से उपयोग किया जाता है तथा पं० फूलचन्द्र जी आदि भी जो कार्यसिद्धि की इस प्रक्रिया से अछूते नहीं हैं, इसी तरह मोक्ष प्राप्ति के सम्बन्ध में भी आगम में जो व्यवहाररत्नत्रय का विस्तार के साथ सर्वत्र उल्लेख मिलता है व लोक में उपकार्योपकारकभाव का, ग्रन्थों के लेखन और पठन-पाठन का तथा राग-द्वेषमय वृत्ति और हिंसादि पापरूप प्रवृत्ति के त्याग का जो महत्व प्रस्थापित है व पं० फूलचन्द्र जी आदि भी जो इस प्रक्रिया को अपनाये हुए हैं, तो क्या यह सब मिथ्या ही है? अथवा इसका कोई अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और आगम सम्मत आधार है—इस पर भी पं० फूलचन्द्रजी आदि को विचार करना चाहिये।

व्यवहाररत्नत्रय की उपयोगिता के सम्बन्ध में इस तरह भी विचार किया जा सकता है और जैसा विचार पूर्व में किया भी जा चुका है कि जीव अनादिकाल से काम, क्रोध, मोह आदि रूप जो परिणति कर रहा है वह उसकी विभावपरिणति

हो है और इमका कारण जीव की अनादि काल से ही पौद्गलिक कर्म-नोकर्म के साथ बद्धता व इसका भी कारण मोहकर्म के साथ बद्धता है। समयसार मे निम्नलिखित गाथा द्वारा मोह-कर्म बद्धता को ही इसका कारण प्रतिपादित किया गया है।

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत अण्णाण अविरदि भावो य णादव्वो ॥९६।

अर्थ—पौद्गलिक मोहकर्म के साथ सयुक्त (बद्धता को प्राप्त) हुए जीव के उपयोग का अनादि काल से तीन रूप परि-णमन हो रहा है और उसे मिथ्यात्व, अज्ञान तथा अविरति रूप समझना चाहिये।

जीव मोहकर्म बद्धता के कारण ही ज्ञानावरणादि कर्मों और शरीरादि नोकर्मो से अनादि काल से बद्ध रहता आया है जिसका परिणाम यह हुआ है कि वह अपने से स्पष्ट पृथक् दिखने वाली भोजनादि पर वस्तुओ का अवलम्बी भी अनादि काल से ही हो रहा है। अतएव इस तरह की स्थिति को प्राप्त जीव के सामने मुख्य प्रश्न उक्त कर्मो तथा नोकर्मों से छुटकारा पाना ही है। तत्त्वार्थ सूत्र के दशवे अध्याय के "बन्धहेत्व भाव-निर्जराभ्या कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्ष" सूत्र द्वारा मुक्ति का यही लक्षण प्रतिपादित किया गया है। अर्थात् आगामी कर्म बन्ध के कारणो का प्रतिरोध यानि सवर और बद्ध कर्मो की निर्जरा होने से जो जीव की कर्मों तथा नोकर्मों के साथ बद्धता समूल नष्ट हो जाती है उसी का नाम मोक्ष (मुक्ति) है।

इस मुक्ति की प्राप्ति के लिये जीव को पहले तो दर्शन मोहनीय कर्म की पूर्वोक्त तीन और अनन्तानुबन्धी चारित्र

मोहनीय कर्म की पूर्वोक्त चार प्रकृतियों के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के आधार पर उत्पन्न पूर्वोक्त व्यवहार सम्यग्दर्शन-पूर्वक निश्चय सम्यग्दर्शन तथा पूर्वोक्त व्यवहार सम्यग्ज्ञान-पूर्वक निश्चय सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है व इसके पश्चात् क्रमशः अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कषायों और नव नोकषायों के यथासम्भव अनुदय, उपशम और क्षय के आधार पर उत्पन्न व्यवहार सम्यक्चारित्रपूर्वक निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति आवश्यक है क्योंकि इस प्रक्रिया के आधार पर ही जीव बन्ध योग्य कर्मों का सवर और बद्ध कर्मों की निर्जरा किया करता है।

पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि जीव मे स्वभावत. भाववती और क्रियावती नाम की दो शक्तियां विद्यमान हैं। उनमे से भाववती शक्ति के अनादि काल से तीन रूप हो रहे हैं—एक तो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के आधार पर वीर्यरूप, दूसरा दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम के आधार पर दर्शनरूप और तीसरा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के आधार पर ज्ञानरूप। उपर्युक्तप्रकार भाववती शक्ति की दर्शन मोहनीय कर्म के उदय के आधार पर अनादिकाल से ही मिथ्यात्व और अज्ञानरूप विकृत स्थिति बनी हुई है। इसी तरह क्रियावती शक्ति भी अनादिकाल से मन, वचन और काय की अधीनता मे क्रियाशील होती हुई चारित्र मोहनीयकर्म के उदय के आधार पर राग तथा द्वेष रूप विकार को प्राप्त हो रही है। क्रियावती शक्ति का मन, वचन और काय की अधीनता मे होने वाला क्रिया रूप परिणमन ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का अनादि काल से ही जीव मे आस्रव कराता चला आ रहा है तथा उस क्रिया रूप परिणमन मे यथासभव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के आधार पर जो राग

तथा द्वेष रूप विकार अनादि काल से हो रहा है उसके आधार पर उन ज्ञानावरणादि आठो कर्मों का जीव के साथ स्थिति और अनुभागरूप वन्ध होता आ रहा है।

मन, वचन और काय की अधीनता मे होने वाले क्रियावती शक्ति के क्रियारूप परिणमन का नाम योग[1] है। इसे आगम मे आस्रव[2] नाम दिया गया है क्योकि इससे कर्मों का आस्रव (आना) होता है। यह दो प्रकार का है—एक तो शुभ रूप और दूसरा अशुभ रूप। शुभ योग वह है जो दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्मों का सातिशय क्षयोपशम तथा पुण्य कर्मों का उदय रहने पर होता[3] है और अशुभयोग वह है जो दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्मो के मन्द क्षयोपशम तथा पाप कर्मों का उदय रहने पर होता है।[4] ये दोनो ही प्रकार के योग जब तक यथासम्भव कषायो के उदय से अनुरंजित रहते है तव तक रागात्मक और द्वेषात्मक मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति (पुरुषार्थ) रूप हुआ करते है, लेकिन दोनो मे इतनी विशेषता है कि यदि शुभ योग कषायो के उदय से अनुरंजित होने के आधार पर रागात्मक और द्वेषात्मक मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति (पुरुषार्थ) रूप होता है तो उसका नाम पुण्याचरण है तथा यदि अशुभयोग यथासम्भव कषायो के उदय से अनुरंजित होने के आधार पर रागात्मक और द्वेषात्मक मान-

---

१. कायवाङ्मन कर्म योग ॥ ६–१॥ त० सू०।

२ स आस्रव ॥ ६–२ ॥ त० सू०।

३,४ शुभ परिणाम निर्वृतो योग शुभः। अशु परिणाम निर्वृतो योगः अशुभ। तत्त्वार्थ सूत्र के सूत्र ६–३ की सर्वार्थ सिद्धि।

सिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति (पुरुषार्थ) रूप होता है तो उसका नाम पापाचरण है। इनमें से पापाचरण तो सामान्यतया पापकर्मों के बन्ध का कारण होता है[1] और पुण्याचरण सामान्यतया पुण्यकर्मों के बन्ध का कारण होता है।[2] यहाँ पर 'सामान्यतया' शब्द हमें इस बात की सूचना देता है कि पापाचरण मुख्य रूप से यद्यपि पाप कर्मों के ही बन्ध का कारण होता है परन्तु पापाचरण रहते हुए भी जीव के यथायोग्य पुण्य कर्मों का भी बन्ध हुआ करता है और पुण्याचरण मुख्य रूप से पुण्य कर्मों के ही बन्ध का कारण होता है परन्तु पुण्याचरण रहते हुए भी जीव के यथायोग्य पाप कर्मों का भी बन्ध हुआ करता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि योग का कार्य ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का आस्रव करना है। चूँकि योग जीव में प्रथम गुणस्थान से लेकर त्रयोदश गुणस्थान तक अपनी सत्ता रखता है अतः जीव के त्रयोदश गुणस्थान तक ज्ञानावरणादि कर्मों में से यथासम्भव कर्मों का आस्रव हुआ करता है और वह योग चूँकि प्रथम गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक यथासंभव कषायों के उदय से अनुरंजित होकर उपर्युक्त प्रकार की प्रवृत्ति (पुरुषार्थ) का रूप पाता है अतः जीव के दशम गुणस्थान तक उन आस्रवित कर्मों का यथायोग्य प्रकार का स्थिति बन्ध और अनुभागबन्ध हुआ करता है। यही कारण कि आगम में कषायों

---

१ इस विषय को तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय में विस्तार से प्रतिपादित किया गया है।

२. इस विषय को भी तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय में विस्तार से प्रतिपादित किया गया है।

को ही स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का कारण स्वीकार किया गया है। यथा—

> पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस भेदा दु चदु विहो बन्धो।
> जोगा पयडिपदेसा ठिदि अणुभागा कषाय दो होंति ॥३३॥
> द्रव्य सग्रह

अर्थ—प्रकृति, प्रदेश,अनुभाग और स्थिति के भेद से बन्ध चार प्रकार का होता है। इनमे से प्रकृति और प्रदेश रूप बन्ध तो योगो के आधार पर होता है और स्थिति तथा अनुभाग रूप बन्ध कषाय के आधार पर होता है।

यहाँ पर कषाय शब्द विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है जिसका आशय यह होता है कि बन्ध का कारण मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है—एक दर्शन मोहनीय और दूसरा चारित्र मोहनीय। इनमे से वास्तव मे देखा जाय तो चारित्र मोहनीय कर्म ही कषाय रूप होने से स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध का साक्षात् कारण होता है तथा दर्शन मोहनीय कर्म कषाय को प्रभावित करता हुआ ही उपर्युक्त बन्धो का कारण होता है। इस तरह वह परम्परया कारण होता है। यह आश्रय पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के निम्नलिखित पद्यो से भी प्रगट होता है।

> येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति
> येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१२॥
> येनांशेन ज्ञान तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति।
> येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१३॥
> येनांशेन चरित्र तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति।
> येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१४॥

इन गाथाओ मे राग शव्द द्वेप का उपलक्षण है इस तरह राग शब्द का अर्थ राग और द्वेप रूप कपाय होता है और इस तरह गाथाओ का अर्थ भी यह होता है कि जिस रूप से जीव मे सम्यग्दर्शन है उस रूप से उसके वन्ध नही होता है और जिस रूप से जीव मे राग तथा द्वेष रूप कपाय है उस रूप से उसके वन्ध होता है। इसी प्रकार जिस रूप से जीव मे सम्यग्ज्ञान है उस रूप से उसके वन्ध नही होता है और जिस रूप से जीव मे राग तथा द्वेप रूप कषाय है उस रूप से उसके वन्ध होता है तथा इसी तरह जिस रूप से जीव मे सम्यक्चारित्र है उस रूप से उसके वन्ध नही है और जिस रूप से जीव मे राग तथा द्वेष रूप कषाय है उस रूप से उसके वन्ध होता है।

द्रव्य सग्रह और पुरुपार्थसिद्ध्युपाय के उपर्युक्त उल्लेखो से यह स्पष्ट हो जाता है कि सासादन सम्यग्दृष्टि, औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवो के जो स्थिति और अनुभाग रूप से कर्म वन्ध होता है उसमे तो कषाय कारण है ही, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व कर्म का, सम्यग्मिथ्या दृष्टि जीव के सम्यग्मिथ्यात्व कर्म का और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यक् प्रकृति कर्म का उदय रहते हुए भी जो स्थिति और अनुभाग रूप से कर्म बन्ध होता है उसमे भी कपाय ही कारण होती है ।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति ये तीनो दर्शन मोहनीय कर्म के भेद हैं और दर्शन मोहनीय कर्म उपर्युक्ताकार ज्ञान को ही सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप से विकृत करता है—यह वात पूर्व मे बतलायी जा

चुकी है। अब इस बात पर ध्यान देना है कि वह उपयुक्ताकार ज्ञान उपर्युक्त प्रकार से विकृत होने पर भी अपने आप मे बन्ध का कारण नही होता है किन्तु चारित्र मोहनीय कर्म से प्रभावित अर्थात् राग व द्वेष रूपता को प्राप्त जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रिया ही बन्ध का कारण होती है। इसका अवश्य है कि दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से विकार को प्राप्त वह उपयुक्ताकार ज्ञान उस क्रिया मे प्रेरक हुआ करता है। जैसे किसी व्यक्ति ने विष को यदि अमृत (औषधि) समझ लिया तो ऐसा समझ लेने मात्र से तब तक उस व्यक्ति को हानि नही होती है जब तक वह व्यक्ति औषधि के रूप मे उसका उपयोग नही करता है लेकिन इतनी बात अवश्य है कि विष को औषधि समझने वाला व्यक्ति उस ज्ञान के आधार पर तत्काल या कभी न कभी उसका औषधि के रूप मे उपयोग कर सकता है। इस तरह जिस प्रकार विष को अमृत (औषधि) समझना परम्परया हानिकर है उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म से विकृत हुआ ज्ञान भी परम्परया बन्ध का कारण होता है लेकिन साक्षात् कारण तो चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से प्रभावित अर्थात् राग तथा द्वेष रूपता को प्राप्त जोव की मानसिक,वाचनिक और कायिक क्रिया ही हुआ करती है।

तात्पर्य यह है और जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि मन, वचन और काय की अधीनता मे होने वाली जीव की क्रिया (योग) तो कर्मो के प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध मे अथवा यो कहिये कि आस्रव मे कारण होती है और वह क्रिया जब तक चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से प्रभावित रहती है यानि राग तथा द्वेष रूपता को प्राप्त रहती है तब तक वह उन आस्रवित

कर्मों के स्थिति और अनुभाग रूप से बन्ध मे कारण होती है। लेकिन इतनी बात अवश्य है कि जीव की क्रिया ज्ञान के अनुसार ही हुआ करती है। इसका आशय यह हुआ कि यदि ज्ञान दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से विकृत हो रहा हो तो क्रिया भी उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकती है, इसलिये जब दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के आधार पर ज्ञान मे से उक्त प्रकार का विकार समाप्त हो जाता है तो जीव की उक्त क्रिया मे भी अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्रादुर्भाव मे दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के साथ ही अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशय या क्षय को अथवा उपशम और क्षय दोनो ही को कारण स्वीकार किया गया है। इससे यह निष्कर्ष भी सहज ही निकल आता है कि जो जीव दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के आधार पर ज्ञान की निर्विकारता को प्राप्त हो जावे उसमे सम्यग्दृष्टि बनने के लिये अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम या क्षय अथवा उपशम और क्षय दोनो के आधार पर संकल्पी पापो का त्याग अवश्य हो जाना चाहिये क्योकि जीव संकल्पी पाप भी करता रहे और सम्यग्दृष्टि भी हो जावे यह व्यवस्था आगम की नही है। इसलिये जो विद्वान् या साधारणजन गोम्मटसार जीवकाण्ड की "णो इन्दियेसुविरदो" इत्यादि गाथा २९ का विपरीत अर्थ करके यह बतलाते हैं कि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अन्याय, अत्याचार, उच्छृङ्खल या अनुचित संकल्पी पाप रूप प्रवृत्ति करते हुए भी सम्यग्दृष्टि बना रहता है वे अपने आगम सम्बन्धी अज्ञान को ही प्रगट करते हैं, क्योकि जीव की उक्त संकल्पी पाप रूप प्रवृत्ति अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय मे ही

हुआ करती है अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कपायो के उदय मे नही, क्योकि इनका कार्य तो क्रमश देशव्रत, महाव्रत तथा यथाख्यात चारित्र को घात करना ही है। अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणादि उक्त कपायें यथायोग्य रूप मे अनिवार्यता को प्राप्त आरम्भी पापो मे ही जीव की प्रवृत्ति कराती है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जीव की क्रियावती शक्ति का मन, वचन (मुख) और काय की अधीनता मे होने वाला पूर्वोक्त प्रकार का शुभ या अशुभरूप क्रियात्मक (योगात्मक) परिणमन तो यथासभव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के प्रकृति-वन्ध और प्रदेश वन्ध का अर्थात् आस्रव का कारण होता है और उसमे जो अनन्तानुवन्धी आदि कषायो का राग अथवा द्वेप रूप अनुरञ्जन रहा करता है वह उन कर्मो के स्थिति वन्ध और अनुभागवन्ध का कारण होता है। दर्शन मोहनीय कर्म का उदय यद्यपि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से विकास को प्राप्त जीव की भाववती शक्ति के उपयोगात्मक ज्ञानरूप परिणमन को ही विकारी वनाता है तथापि उसके साहचर्य मे यथासभव कषायो का उदय अवश्य रहा करता है इसलिए उक्त कर्म वन्ध मे उसे भी कारण माना जाता है।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि मिथ्यात्व कर्म के उदय के साहचर्य मे अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन इन चारो ही कपायो का उदय रहा करता है, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय के साहचर्य मे अनन्तानुवन्धी कपाय को छोडकर शेप तीन कपायो का उदय रहा करता

है तथा सम्यक् प्रकृति कर्म के उदय के साहचर्य मे चौथे गुण-स्थानवर्ती जीव के तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के समान अनन्तानुबन्धी कषाय को छोडकर शेष तीनो ही कषायो का उदय रहा करता है, पचम गुणस्थानवर्ती जीव के अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषायो को छोडकर शेष दो कषायो का उदय रहा करता है व छठे प्रमत्तविरत तथा सातवें स्वस्थानाप्रमत्त-इन दोनो गुणस्थानो मे रहने वाले जीवो के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण—इन तीनो कषायो को छोड कर केवल सज्वलन कषाय का ही उदय रहा करता है। यद्यपि सम्यक् प्रकृति कर्म का उदय समाप्त हो जाने पर अर्थात् सम्पूर्ण दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय हो जाने पर ही जीव श्रेणी माडता है यानि क्रमश अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप आत्म परिणामो मे जीव प्रवृत्त होता है लेकिन अध-करण परिणामो के स्थानभूत सातवें सातिशय अप्रमत्त नामक गुणस्थान मे, अपूर्वकरण परिणामो के स्थानभूत आठवे अपूर्वकरण नामक गुणस्थान मे और अनवृत्तिकरण परिणामो के स्थानभूत नववें अनवृत्तिकरण नामक गुणस्थान मे तथा सूक्ष्मसापराय नामक दशम गुणस्थान मे रहने वाले जीवो के भी सज्वलन कषाय का उत्तरोत्तर मन्द, मन्दतर और मन्दतम उदय रहा करता है। इस तरह यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि उक्त चारो कषाये ही यथा-योग्य गुणस्थानो मे उदय को प्राप्त होती हुई यथासम्भव कर्मो के स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध की कारण होती हैं तथा दर्शन मोहनीय कर्म उक्त कर्म बन्धो का साक्षात् करण न होकर यथास्थान उक्त कषायो को प्रभावित करता हुआ परम्परया ही कारण होता है।

-- पूर्व मे आत्मा की क्रियावती शक्ति की मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रिया रूप योग के शुभ व अशुभ दो भेद और उनके लक्षण बतलाते हुए मैं कह आया हूँ कि यदि शुभ योग यथासम्भव कषायो के उदय से अनुरजित होने के आधार पर रागात्मक और द्वेषात्मक मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति (पुरुषार्थ) रूप हो तो उसका नाम पुण्याचरण है व यदि अशुभयोग यथासम्भव कपायो के उदय से अनुरजित होने के आधार पर रागात्मक और द्वेषात्मक मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति (पुरुषार्थ) रूप हो तो उसका नाम पापाचरण है। इनमे से पापाचरण दो प्रकार का होता है—एक तो सकल्पी पाप रूप और दूसरा आरम्भी पाप रूप। सकल्पी पाप रूप पापाचरण अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय मे होता है और आरम्भी पाप रूप पापाचरण अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कषायो के उदय मे होता है। इस तरह प्रथम और द्वितीय गुणस्थानो मे तो अप्रत्याख्यानावरणादि तीनो कषायो के साथ अनन्तानुबन्धी कपाय का भी उदय रहा करता है अत. इन गुणस्थानो मे रहने वाला जीव अविरत तथा उच्छृङ्खल प्रवृति वाला होता है लेकिन तृतीय गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न रहने के कारण जीव उच्छृङ्खल प्रवृति वाला तो नही होता फिर भी अप्रत्याख्यानावरणादि तीन कषायो का उदय रहने के आधार पर अविरत सम्यग्मिथ्यादृष्टि हुआ करता है। इसी तरह चतुर्थ गुणस्थान मे दर्शनमोहनीयकर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के साथ अनन्तानुबन्धी कषाय का भी उपशम या क्षय अथवा क्षय और उपशम दोनो रहने के कारण जीव उच्छृङ्खल प्रवृत्ति वाला न होता हुआ अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो का उदय रहने के

आधार पर अविरत सम्यग्दृष्टि रहा करता है। तात्पर्य यह है कि प्रथम और द्वितीय गुणस्थानो में रहने वाले जीवो के अनन्तानुबन्धी आदि चारो कषायो का उदय रहा करता है इसलिए उन जीवो के अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहने के कारण तो सकल्पी पाप रूप पापाचरण होता है और अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो का उदय रहने के कारण आरम्भी पाप रूप पापाचरण होता है। इन दोनो गुणस्थानवर्ती जीवो मे विशेषता यह है कि प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव तो मिथ्यात्व कर्म का उदय रहने के कारण मिथ्यादृष्टि कहलाता है जब कि द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव दर्शनमोहनीयकर्म की किसी भी प्रकृति का उदय न रहने के कारण सासादनसम्यग्दृष्टि कहलाता है। इसी तरह तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवो के अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न रहने के कारण सकल्पी पाप रूप पापाचरण तो नही होता है लेकिन अप्रत्याख्यानावरणादि तीनो कषायो का उदय रहने के कारण आरम्भी पाप रूप पापाचरण तो होता ही है। इन दोनो गुणस्थानवर्ती जीवो मे भी यह विशेषता है कि तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म का उदय रहने के कारण सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहलाता है लेकिन चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम रहने के कारण सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

पचम गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थानो मे रहने वाले जीव दर्शन मोहनीय कर्म का यथायोग्य रूप मे अभाव रहने के कारण सम्यग्दृष्टि और अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव रहने के कारण सकल्पी पाप रूप पापाचरण रहित तो होते ही

है साथ मे पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव के चूकि अप्रत्याख्याना-वरण कषाय का अनुदय (आगामी काल मे उदय आने योग्य निषेको का सदवस्थारूप उपशम और वर्तमान काल मे उदय आने योग्य निषेको का उदयाभावी क्षय) भी हो जाता है अतः वह जीव आरम्भी पाप रूप पापाचरण का भी एक देश त्याग हो जाने के कारण देशव्रती कहलाने लगता है। इसी तरह षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय के साथ चूँकि प्रत्याख्यानावरण कषाय का भी अनुदय हो जाया करता है अत आरम्भी पाप रूप पापाचरण का नियमित विशेप रूप मे त्याग हो जाने के कारण वह जीव सर्वव्रती या महाव्रती कहलाने लगता है।

षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव की जो सर्वव्रत या महाव्रत रूप स्थिति हो जाती है वह आगे के गुणस्थानो मे रहने वाले जीवो के भी रहा करती है लेकिन उन जीवो मे इतनी विशेषता समझना चाहिये कि सप्तम गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक के जीवो के सज्वलन कषाय का उत्तरोत्तर मन्द, मन्दतर और मन्दतम उदय रहने के कारण आरम्भी पाप रूप पापा-चरण के त्याग की विशेषता होती जाती है और दशम गुण-स्थान के अन्त समय मे तो सज्वलन कषाय का भी पूर्णतया उपशम या क्षय हो जाने के कारण समस्त आरम्भी पाप रूप पापाचरण का सर्वथा अभाव हो जाता है अत. एकादश गुण-स्थान से लेकर चतुर्दश गुणस्थान तक के जीव यथाख्यात चारित्र के धारक निश्चय सम्यक्चारित्री हुआ करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एकादश गुणस्थान से पूर्व यानि पञ्चम गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक के जीव

आरम्भी प पस्प पापाचरण के त्याग रूप मे व्यवहार सम्यक् चारित्रो हुआ करते हैं। क्योंकि उपर्युक्त कथन मे एक तो यह बात निर्णीत होती है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के दर्शनमोहनीय कर्म क साथ अनन्तानुबन्धी कषाय का भी यथायोग्य रूप मे अभाव रहने के कारण यद्यपि सकल्पी पापरूप पापाचरण का अभाव हो जाता है परन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि तीनो कषायो का उदय रहने के कारण उसके आरम्भी पापरूप पापाचरण का अणुमात्र भी त्याग नहीं हो पाता है अतएव वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। दूसरी बात यह निर्णीत होती है कि दशम गुणस्थान के अन्त समय तक कषाय का उदय रहने के कारण यथाख्यात चारित्ररूप निश्चय चारित्र का अभाव ही रहा करता है। इस तरह आरम्भी पापरूप पापाचरण का त्याग अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय के साथ पचम गुणस्थान से ही प्रारब्ध होता है अत व्यवहार सम्यक्चारित्र का प्रारम्भ भी पचम गुणस्थान से ही स्वीकार किया गया है। व्यवहार सम्यक्चारित्र को निश्चय सम्यक्चारित्र का कारण मानने का भी यही अभिप्राय है कि दशम गुणस्थान तक तो जीवो के पूर्वोक्त प्रकार व्यवहार सम्यक्चारित्र ही रहा करता है व दशम गुणस्थान के अनन्तर पश्चात् ही जीव को निश्चय सम्यक्चारित्र की उपलब्धि होती है।

उपर्युक्त कथन से यह बात भी निर्णीत होती है कि पापाचरण सकल्पी और आरम्भी पापो के रूप मे प्रथम और द्वितीय दोनो गुणस्थानो मे ही रहा करता है व तृतीय गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक वह केवल आरम्भी पाप के रूप मे ही रहा करता है। वह वर्णन कषायो के तीव्रोदय,

मन्दादय, मन्दतरोदय और मन्दतमोदय के आधार पर किया गया है। इसमे विशेषता इतनी है कि प्रथम गुणस्थान से लेकर षष्ठ गुणस्थान तक पापाचरण यथासभव अन्तरग और बहिरग प्रवृत्तियो के रूप मे रहा करता है, लेकिन सप्तम गुणस्थान से दशम गुणस्थान तक कषायोदय के आधार पर केवल अन्तरग प्रवृत्ति के रूप मे ही रहा करता है। इसमे यदि पुण्याचरण की दृष्टि से विचार किया जाय तो वास्तव मे पापाचरण षष्ठ गुणस्थान तक ही रहा करता है आगे के गुणस्थानो मे तो पुण्याचरण का रूप ही रहा करता है। यद्यपि आरम्भी पाप रूप पापाचरण का सद्भाव आगम मे पचम गुणस्थान की आरम्भ त्याग प्रतिमा के पूर्व तक ही बतलाया गया है परन्तु जब षष्ठ गुणस्थान मे भी जीव भोजनादिक मे व कमण्डलु व पीछी आदि के उठाने-धरने मे प्रवृत्त होता है तो यह भी तो एक प्रकार की आरम्भ क्रिया ही है। इस तरह इस कथन का समन्वय उस उस दृष्टि से कर लेना चाहिये।

पुण्याचरण देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान के रूप मे ही आगम मे प्रतिपादित किया गया है। यह भी प्रथम गुणस्थान से लेकर षष्ठ गुणस्थान तक अन्तरग और बहिरग प्रवृत्तियो के रूप मे यथासभव दोनो प्रकार का होता है तथा सप्तम गुणस्थान से दशम गुणस्थान तक केवल अन्तरग प्रवृत्ति के रूप मे ही हुआ करता है। यद्यपि एकादश गुणस्थान से त्रयोदश गुणस्थान मे जब तक योग का निरोध नही हो जाता, तब तक भी पुण्याचरण का सद्भाव मानना चाहिये परन्तु वह कषाय रहित केवल योग के रूप मे ही वहाँ रहा करता है। तात्पर्य यह है कि कषाय सहित शुभ योगमय प्रवृति (पुरुषार्थ) का नाम ही पुण्याचरण है और कषाय सहित

अशुभ योगमय प्रवृत्ति (पुरुपार्थ) का नाम ही पापाचरण है इस तरह इस रूप मे इनका सद्भाव यथासभव दशम गुणस्थान तक ही रहा करता है। इसलिये दशम गुणस्थान के आगे शुभ रूप मे केवल योग का ही सद्भाव रहा करता है।

सप्तम गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक जो पुण्याचरण रहता है वह केवल धर्म ध्यान के रूप मे ही रहा करता है और यही कारण है कि दशम गुणस्थान तक धर्म ध्यान का सद्भाव आगम मे स्वीकार किया गया है। इसका भी कारण यह है कि यदि पुण्याचरण का सद्भाव दशम गुणस्थान तक नही माना जाय तो फिर वहाँ कर्मवन्ध का होना असभव ही हो जायगा। यद्यपि सप्तम गुणस्थान की सातिशय अप्रमत्त अवस्था से शुक्ल ध्यान का सद्भाव आगम मे स्वीकार किया गया है परन्तु इसका आधार आत्म विशुद्धि की अध करणादि परिणाम रूपता को ही माना गया है जो कि कर्मो के उपशम अथवा क्षय का कारण होती है क्योकि धर्म ध्यान पुण्याचरण रूप होने से वन्ध का ही कारण होता है। आत्म विशुद्धि की यह अध करणादि परिणामरूपता दर्शन मोहनीय कर्म व अनन्तानुवन्धी कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के लिये आवश्यक होने से सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव के भी हुआ करती है।

इस तरह पापाचरण और पुण्याचरण दोनो ही यथायोग्य प्रकार से वन्ध के कारण होते है और दोनो वन्ध के ही कारण होते हैं। इन दोनो मे विशेषता यह है कि पापाचरण तो जीव को वाह्यरूप मे छोडना पडता है लेकिन अन्तरग रूप मे जैसा-जैसा कपायो का अनुदय अथवा उपशम या क्षय होता जाता है वैसा-वैसा छूटता जाता है। पुण्याचरण

छोडने की यद्यपि जीव को आवश्यकता नही है परन्तु वह जैसा-जैसा दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्मों के यथासभव उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के आधार पर सकल्पी पापो के साथ आरम्भी पापो का भी त्याग करता हुआ आगे-आगे के गुणस्थानो की ओर बढता जाता है वैसा-वैसा उसका रूप परिवर्तित होता जाता है और अन्त मे वह जब सपूर्ण मोहनीय-कर्म का सर्वथा उपशम अथवा क्षय हो जाने पर पापो की आरम्भ रूपता को सर्वथा समाप्त करता हुआ क्रियावती शक्ति के केवल योगात्मक रूप को प्राप्त हो जाता है तब क्रमश. मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा मे होने वाली निष्क्रिया के आधार पर वह स्वयमेव छूट जाता है।

इस विवेचन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि व्यवहार रत्नत्रय को उपचरित रत्नत्रय, उपचरित धर्म या उपचरित मोक्षमार्ग इसलिये नही कहा जाता है कि वह केवल पुण्याचरण रूप ही होता है या मोक्षरूप कार्य की उत्पत्ति मे वह अकिंचित्कर बना रहा है किन्तु इसलिये कहा जाता है कि एक तो वह सकल्पी पापरूप पापाचरण के समाप्त हो जाने पर आरम्भी पापरूप पापाचरण के त्याग के आधार पर होता है और दूसरे मोक्षकार्य की उत्पत्ति मे साक्षात् कारण न होकर भी मोक्ष के साक्षात् कारणभूत निश्चय रत्नत्रय, निश्चय धर्म या निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर कारण होता है।

इसी तरह इस विवेचन से यह बात भी अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि कार्योत्पत्ति मे निमित्तकारण को जो उपचरित कारण कहा जाता है वह इसलिये नही कहा जाता है कि वहाँ पर वह अकिंचित्कर ही रहा करता है किन्तु इसलिये कहा जाता है कि वह वहा पर उपादानकारण की तरह कार्यरूप

परिणत न होकर भी उपादानकारण की कार्यरूप परिणति मे उसकी (उपादानकारण की) सहायता करता है ।

इस तरह प० फूलचन्द्रजी का "निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति जीव को होने पर व्यवहाररत्नत्रय होता ही है उसे उसकी प्राप्ति के लिये अलग से प्रयत्न नही करना पडता है" इत्यादि कथन निरर्थक सिद्ध हो जाता है ।

यहा पर मै प्रसगवश इतना और कह देना चाहता हू कि आगम मे निश्चयरत्नत्रय, निश्चयधर्म या निश्चय मोक्षमार्ग को जो निश्चय, परमार्थ, यथार्थ, सत्यार्थ, भूतार्थ, वास्तविक, अन्तरग और मुख्य आदि नामो से पुकारा जाता है उसका अभिप्राय यही है कि वह मोक्ष की प्राप्ति मे साक्षात् कारण होता है और व्यवहार रत्नत्रय, व्यवहार धर्म या व्यवहार मोक्षमार्ग को जो व्यवहार, अपरमार्थ, अयथार्थ, असत्यार्थ, अभूतार्थ, अवास्तविक, वहिरग और उपचरित आदि नामो से पुकारा जाता है उसका भी अभिप्राय यही है कि वह मोक्ष की प्राप्ति मे साक्षात् कारण न होकर उक्त प्रकार परपरया कारण होता है । इस प्रकार आगम मे उपादानकारण को जो उपादान, निश्चय, परमार्थ, यथार्थ, सत्यार्थ, भूतार्थ, वास्तविक, अन्तरंग और मुख्य आदि नामो से पुकारा जाता है उसका अभिप्राय यही है कि वह कार्यरूप परिणत होता है और निमित्तकारण को जो निमित्त, व्यवहार, अपरमार्थ, अयथार्थ, असत्यार्थ, अभूतार्थ, अवास्तविक, वहिरग और उपचरित आदि नामो से पुकारा जाता है उसका भी अभिप्राय यही है कि वह कार्यरूप परिणत न होकर उपादान के कार्यरूप परिणत होने मे उसकी सहायता करता है ।

इस प्रकार प० फूलचन्द्र जी, प० जगन्मोहनलालजी और

उनके सपक्षीजनो का व्यवहार रत्नत्रय, व्यवहार धर्म या व्यवहार मोक्षमार्ग को अकिंचित्कर रूप मे व्यवहार, अपरमार्थ, अयथार्थ, असत्यार्थ, अभूतार्थ, अवास्तविक, बहिरग, और उपचरित आदि नामो से तथा निमित्तकारण को भी अकिंचित्कररूप मे निमित्त, व्यवहार, अपरमार्थ, अयथार्थ, असत्यार्थ, अभूतार्थ, अवास्तविक, बहिरग और उपचरित आदि नामो से पुकारना मिथ्या है।

वास्तविक बात यह है कि प० फूलचन्द्र जी, प० जगन्मोहनलाल जी और उनके सपक्षीजनो को निमित्त, व्यवहार, अपरमार्थ, अयथार्थ, असत्यार्थ, अभूतार्थ, अवास्तविक, बहिरग और उपचरित आदि शब्दो का अर्थ समझने मे भ्रम उत्पन्न हो गया है जिसके कारण ही उन्हे व्यवहाररत्नत्रय, व्यवहार धम या व्यवहार मोक्षमार्ग को मोक्षरूप कार्य की उत्पत्ति मे तथा निमित्त कारण को उपादान की परिणतिरूप कार्य की उत्पत्ति मे अकिंचित्कर मानने के अतिरिक्त कोई चारा ही नही रह गया है।

यहा इतना ध्यान रखना चाहिये कि निश्चय रत्नत्रय, निश्चय धर्म या निश्चय मोक्षमार्ग मे निश्चय, परमार्थ, यथार्थ, सत्यार्थ, भूतार्थ, वास्तविक, अन्तरग और मुख्य आदि शब्द एकार्थक शब्द है तथा व्यवहाररत्नत्रय, व्यवहार धर्म या व्यवहार मोक्षमार्ग मे व्यवहार, अपरमार्थ, अयथार्थ, असत्यार्थ, अभूतार्थ, अवास्तविक, बहिरग और उपचरित आदि शब्द भी एकार्थक है। इसी तरह उपादान कारण मे भी उपादान निश्चय, परमार्थ, यथार्थ, सत्यार्थ, भूतार्थ, वास्तविक, अन्तरग और मुख्य आदि शब्द एकार्थक हैं तथा निमित्तकारण मे भी निमित्त, व्यवहार, अपरमार्थ, अयथार्थ, असत्यार्थ, अभूतार्थ अवास्तविक

वहिरग और उपचरित्र आदि शव्द एकार्थक हैं अत' यहाँ पर केवल उपचार को लेकर प० फूलचन्द्र जी आदि की प्रकृत विपय सम्बन्धी मान्यता की मीमासा की जा रही है।

प० फूलचन्द्र जी जैनतत्त्वमीमासा के पृष्ठ २ पर उपचार के विपय मे लिखते हैं—

"इस प्रसग मे प्रकृत मे विचार यह करना है कि तीर्थकरो का जो उपदेश चारो अनुयोगो मे सकलित है उसे वचन व्यवहार की दृष्टि से कितने विभागो मे विभक्त किया जा सकता है ? विविध प्रमाणो के प्रकाश मे विचार करने पर मालूम होता है कि उसे हम मुख्य रूप से दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं-उपचरित कथन और अनुपचरित कथन। जिस कथन का प्रतिपाद्य अर्थ तो असत्यार्थ है (जो कहा गया है पदार्थ वैसा नही है) परन्तु उससे परमार्थभूत अर्थ का ज्ञान हो जाता है उसे उपचरित कथन कहते हैं और जिस कथन से जो पदार्थ जैसा है उसका उसी रूप मे ज्ञान होता है उसे अनुचरित कथन कहते है।"

आगे जैनतत्त्वमीमासा के पृष्ठ ८ पर भी प० जी लिखते हैं—

"यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि यदि भिन्न कर्तृ-कर्म आदि रूप व्यवहार उपचरित ही है तो शास्त्रो मे उसका निर्देश क्यो किया गया है ? समाधान यह है कि एक तो निमित्त (व्यवहार हेतु) का ज्ञान कराना इसका मुख्य प्रयोजन है इसलिये यह कथन किया गया है। आलाप पद्धति मे कहा भी है—

सति निमित्ते प्रयोजने च उपचार प्रवर्तते।

निमित्त और प्रयोजन के होने पर उपचार प्रवृत्त होता है।

दूसरे उपचरित अर्थ के प्रतिपादन द्वारा अनुपचरित अर्थ का बोध हो जाता है इसलिये उसका कथन किया गया है। नयचक्र मे कहा भी है—

तह उपयारो जाणह साहणहेऊ अणुवयारे ॥८८॥

उसी प्रकार अनुपचार की सिद्धि का हेतु उपचार को जानो।

प० जी के इन दोनों कथनो द्वारा ऐसा मालूम पडता है कि वे उपचार को केवल वचन परक मानते है जिसका तात्पर्य यह होता है कि ऐसे वचन से अर्थ का प्रतिपादन तो नही होता है क्योकि पदार्थ जैसा है वैसा प्रतिपादन ऐसे कथन से हो नही सकता है परन्तु अनुपचरित (पदार्थ जैसा है वैसे) अर्थ की सिद्धि का वह हेतु होता है। आगे इसकी मीमासा की जाती है।

इस सम्बन्ध मे पहली बात तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि प० जी की मान्यता के अनुसार यदि उपचरित कथन अनुपचरित अर्थ की सिद्धि का कारण है तो वह निरर्थक या कथन-मात्र कैसे हो सकता है ? दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि आगम मे उपचार प्रवृत्ति एक वस्तु या धर्म मे अन्य वस्तु या धर्म की स्वीकृत की गयी है तथा लोक मे भी यही बात प्रचलित है—जैसा कि आगे प्रगट हो जायगा। इसका आशय यह है कि उपचार पदाथ मे होता है और शब्द उस उपचरित अर्थ का प्रतिपादन करता है। इस तरह उपचरित अर्थ का प्रतिपादन करने के आधार पर शब्द भी उपचरित माना जाता है वह केवल निरर्थक या कथन-मात्र नही रहा करता है। लर्थात् उपचरित कथन ऐसा नही होगा कि उसका कोई अर्थ ही न हो। जसे 'बन्ध्या का पुत्र' 'आकाश के फूल' या 'गधे के सीग' आदि वचन न तो वास्तविक

(अनुपचरित) ही हैं और न उपचरित ही है क्योकि इनका कोई अर्थ ही नही है अर्थात् ये वचन निरर्थक या कथन मात्र ही है। चूँकि उपचरित वचन ऐसे निरर्थक या कथनमात्र न होकर उपचरित अथ का प्रतिपादन करते हैं इसलिये ही उन्हे उपचरित कहा जाता है।

उपचरित अर्थ क्या है ? इस प्रश्न का समाधान हा आलाप पद्धति के निम्नलिखित वचन द्वारा होता है। यथा—

"मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचार. प्रवर्तते ।"

अर्थात् मुख्य अर्थ का अभाव रहने पर यदि निमित्त और प्रयोजन का सद्भाव हो तो उपचार की प्रवृत्ति होती है।

तात्पर्य यह है कि लोक मे अथवा आगम मे प्रयुक्त वचन का प्रतिपाद्य अर्थ यदि मुख्यार्थ नही है तो ऐसे सभी वचनो को क्या 'वन्ध्या का पुत्र', 'आकाश के फूल' या 'गधे के सीग'आदि वचनो की तरह निरर्थक ही मान लेना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि ऐसे सभी वचन निरर्थक नही होते हैं। अर्थात् ऐसे वचनो मे से उन वचनो को ही निरर्थक वचन कहा जा सकता है जिनका कोई अर्थ ही नही होता है। जैसे 'वन्ध्या का पुत्र' आदि वचन, इनके अतिरिक्त कोई-कोई वचन ऐसे भी होते है जिनके प्रतिपाद्य अर्थ की निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर सङ्गति बैठ जाती है। इस तरह उन वचनो द्वारा प्रतिपादित अर्थ उपचरित कहलाता है और उस उपचरित अर्थ प्रतिपादक होने के आधार पर वे वचन भी उपचरित कहलाने लगते है। जैसे "अन्न वै प्राणा" (अन्न ही प्राण है) इस वचन द्वारा प्रतिपादित अन्न शब्द का प्राण अर्थ मुख्यार्थ नही

है क्योकि अन्न और प्राण दोनो पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं लेकिन लोक मे अन्न को प्राण कहा तो जाता है इसलिए आलाप पद्धति के उल्लिखित कथन द्वारा यह निर्णीत होता है कि "अन्न वै प्राणा" (अन्न ही प्राण है) इस वचन मे अन्न शब्द का प्राण अर्थ उपचरित अर्थ है और इसका आधार यह है कि एक तो अन्न प्राणो के सरक्षण मे कारण होता है दूसरे इस तरह प्राणो के सरक्षण मे अन्न के उपयोग की महत्ता प्रस्थापित हो जाती है। इस तरह मुख्यार्थ का अभाव रहते हुए निमित्त और प्रयोजन के सद्भाव के आधार पर अन्न का प्राण अर्थ उपचरित सिद्ध होता है और अर्थ के उपचरित सिद्ध हो जाने पर उस अर्थ का प्रतिपादक "अन्न वै प्राणा" (अन्न ही प्राण है) यह वचन भी उपचरित सिद्ध हो जाता है।

इस विवेचन के आधार पर प्रकृत मे उपचार का समन्वय इस प्रकार करना चाहिए कि कुम्भकार व्यक्ति को घटोत्पत्ति के सम्बन्ध मे निमित्तकारण, व्यवहारकारण, अपरमार्थकारण, अयथार्थकारण, असत्यार्थकारण, अभूतार्थकारण, अवास्तविककारण, वहिरङ्गकारण और उपचरितकारण आदि नामो से इसलिए पुकारते है कि वह कुम्भकार व्यक्ति एक ओर तो घटकार्यरूप परिणत नही होता अत. उसमे मुख्यार्थता का अभाव है व दूसरी ओर मिट्टी से घट का निर्माण होने मे कुम्भकार व्यक्ति की सहायता की अपेक्षा रहा करती है अत वह निरर्थक (अकिंचित्कर) भी नही है अतएव ही कुम्भकार व्यक्ति को कुम्भकार शब्द से पुकारा जाता है। इस प्रकार तत्त्वार्थ श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन, अपरमार्थ सम्यग्दर्शन, अयथार्थ सम्यग्दर्शन, असत्यार्थसम्यग्दर्शन, अभूतार्थ सम्यग्दर्शन,

अवास्तविक सम्यग्दर्शन, बहिरङ्ग सम्यग्दर्शन और उपचरित सम्यग्दर्शन आदि नामो से, आगमज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान, अपरमार्थ सम्यग्ज्ञान, अयथार्थ सम्यग्ज्ञान, असत्यार्थ सम्यग्ज्ञान, अभूतार्थसम्यग्ज्ञान, अवास्तविक सम्यग्ज्ञान, बहिरङ्ग सम्यग्ज्ञान और उपचरित सम्यग्ज्ञान आदि नामो से तथा अणुव्रत-महाव्रत आदि को व्यवहार सम्यक्चारित्र, अपरमार्थ सम्यक्‌चारित्र, अयथार्थ सम्यक्चारित्र, असत्यार्थ सम्यक्चारित्र, अभूतार्थ सम्यक्चारित्र, अवास्तविक सम्यक्चारित्र, बहिरङ्ग सम्यक्चारित्र और उपचरित सम्यक्चारित्र आदि नामो से इसलिये पुकारते है कि तत्त्वार्थ श्रद्धान, आगमज्ञान और अणुव्रत-महाव्रत आदि मे एक ओर तो मोक्ष की साक्षात् कारणतारूप मुख्यार्थता का अभाव है व दूसरी ओर मोक्ष के साक्षात् कारणभूत और पूर्वोक्त निश्चय सम्यग्दर्शन, परमार्थ सम्यग्दर्शन, यथार्थ सम्यग्दर्शन, सत्यार्थ सम्यग्दर्शन, भूतार्थ सम्यग्दर्शन, वास्तविक सम्यग्दर्शन, अन्तरङ्ग सम्यग्दर्शन और मुख्य सम्यग्दर्शन आदि नामो से पुकारे जाने वाले आत्म कल्याण की रुचि जागृत होने रूप सम्यग्दर्शन मे तत्त्वार्थ श्रद्धान कारण होता है, इसी तरह मोक्ष के साक्षात् कारणभूत और पूर्वोक्त निश्चय सम्यग्ज्ञान, परमार्थ सम्यग्ज्ञान, यथार्थसम्यग्ज्ञान, सत्यार्थसम्यग्ज्ञान, भूतार्थ सम्यग्ज्ञान, वास्तविक सम्यग्ज्ञान, अतरगसम्यग्ज्ञान और मुख्य सम्यग्ज्ञान आदि नामो से पुकारे जाने वाले आत्मज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान मे आगमज्ञान कारण होता है तथा इसी तरह मोक्ष के साक्षात् कारणभूत और निश्चय सम्यक् चारित्र, परमार्थ सम्यक्चारित्र, यथार्थ सम्यक्चारित्र, सत्यार्थ सम्यक्चारित्र, भूतार्थ सम्यक्चारित्र, वास्तविक सम्यक्चारित्र, अन्तरग सम्यक्चारित्र और मुख्य-

सम्यक्चारित्र आदि नामो से पुकारे जाने वाले आत्मलीनता रूप सम्यक्चारित्र मे अणुव्रत-महाव्रत आदि कारण होते है— इस तरह मोक्ष की परम्परया कारणता का तत्त्वार्थ श्रद्धान, आगमज्ञान व अणुव्रत-महाव्रत आदि मे सद्भाव है अत वे निरर्थक (अकिञ्चित्कर) भी नही है अतएव ही तत्त्वार्थ श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन, आदि नामो से, आगमज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान आदि नामो से और अणुव्रत-महाव्रत आदि को व्यवहार सम्यक्चारित्र आदि नामो से व तीनो को सामूहिक रूप मे व्यवहार रत्नत्रय, व्यवहार धर्म का व्यवहार मोक्षमार्ग आदि नामो से पुकारा जाता है। प० फूलचन्द्रजी, प० जगन्मोहनलालजी और उनके सपक्षीजन कहते है कि "कुम्भकार मिट्टी से निर्मित होने वाले घट के निर्माण मे अकिञ्चित्कर हैं इसलिए निमित्तकारण आदि नामो से पुकारा जाता है। इसी तरह तत्त्वश्रद्धान, आगमज्ञान और अणुव्रत-महाव्रत आदि मोक्ष की उपलब्धि मे अकिञ्चित्कर है इसलिए तत्त्व श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन आदि नामो से, आगमज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान आदि नामो से और अणुव्रत-महाव्रत आदि को व्यवहार सम्यक्चारित्र आदि नामो से तथा सामूहिक रूप मे व्यवहार रत्नत्रय, व्यवहार धर्म या व्यवहार मोक्ष मार्ग आदि नामो से पुकारा जाता है" परन्तु उनका ऐसा मानना मिथ्या है क्योकि मिट्टी से उत्पन्न होने वाले घट के निर्माण मे कुम्भकार के और निश्चय स्वरूप उपर्युक्त रत्नत्रयो से उत्पन्न होने वाले मोक्ष की प्राप्ति मे व्यवहार स्वरूप उपर्युक्त रत्नत्रयो के प० फूलचन्द्रजी की मान्यता के अनुसार अकिञ्चित्कर हो जाने से उनमे उपचार का ऊपर बतलाया गया लक्षण घटित नही होता है।

मैंने ऊपर वतलाया है कि आगम के अनुसार उपचार एक वस्तु या धर्म मे अन्य वस्तु या धर्म का होता है और "अन्न वै प्राणा" (अन्न ही प्राण हैं) के उदाहरण द्वारा उसे स्पष्ट भी किया है, परन्तु इस विपय मे आगम के दृष्टिकोण से भिन्न ही प० फूलचन्द्र जी आदि का दृष्टिकोण है अत इस विपय मे प० फूलचन्द्र जी का दृष्टिकोण क्या है ? इस वात को आगे वतलाया जा रहा है।

प० फूलचन्द्र जी ने जेनतत्त्वमीमासा के विपय प्रवेश प्रकरण मे पृष्ठ ९ पर लिखा है कि "जो वचन स्वय असत्यार्थ होकर भी इष्टार्थ का ज्ञान कराने मे हेतु है वह लोक व्यवहार मे असत्य नही माना जाता" तथा अपने इस कथन का चन्द्रमुखी शब्द के उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने आगे लिखा है कि "यह शब्द ऐसी नारी के लिये प्रयुक्त होता है जिसका मुख मनोज्ञ और आभायुक्त होता है। यह इष्टार्थ है। चन्द्रमुखी शब्द से इस अर्थ का ज्ञान हो जाता है इसलिये लोक व्यवहार मे ऐसा वचन प्रयोग होता है तथा इसी अभिप्राय से शास्त्रो मे भी इसे स्थान दिया गया है, परन्तु इसके स्थान मे यदि कोई इस शब्द के अभिधेयार्थ को ग्रहण कर यह मानने लगे कि अमुक स्त्री का मुख चन्द्रमा ही है तो यह असत्य ही माना जायगा क्योकि किसी भी स्त्री का मुख न तो कभी चन्द्रमा हुआ है और न हो सकता है।"

प० फूलचन्द्र जी के उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि "लोक व्यवहार मे और शास्त्रो मे ऐसे शब्दो का भी प्रयोग देखा जाता है जिनके अभिधेयार्थ को स्वीकार करना असगत है।

इसलिये अपने अभिधेयार्थ को प्रगट नही कर सकने के कारण ऐसे शब्दो को चन्द्रमुखी शब्द की तरह असत्य ही मानना उचित है फिर भी लोक मे ऐसे शब्दो का प्रयोग देखा जाता है। इस का कारण यह है कि इस तरह के प्रयोग से इष्टार्थ का ज्ञान हो जाया करता है। इस तरह प० जी कहना चाहते हैं कि व्यवहार रत्नत्रय मे रत्नत्रयरूपता, धर्मरूपता या मोक्ष कारणता का अभाव रहते हुए भी तथा निमित्त कारणभूत वस्तु मे कारणता का अभाव रहते हुए भी इनके प्रतिपादक जो वचन शास्त्रो मे पाये जाते है वे सब वचन अपने अभिधेयार्थ का प्रतिपादन करने मे असमर्थ होने के कारण यद्यपि सत्य नही है फिर भी उनको जो शास्त्रो मे प्रयुक्त किया गया है उसका कारण यह है कि इस तरह के प्रयोगो से इष्टार्थ का ज्ञान हो जाया करता है।" इस अभिप्राय को प० जी ने स्वय निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त किया है।

"इसमे सदेह नही कि आगम मे व्यवहारनय की अपेक्षा एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता स्वीकार किया गया है, परन्तु यह कथन यहाँ पर अभिधेयार्थ को ध्यान मे रखकर किया गया है या लक्ष्यार्थ को ध्यान मे रखकर किया गया है—इसे समझ-कर ही इष्टार्थ का निर्णय करना चाहिये। प्रकृत मे इष्टार्थ (लक्ष्यार्थ) दो हैं ऐसे वचन द्वारा निश्चयार्थ का ज्ञान कराना यह मुख्य इष्टार्थ है क्योकि यह वास्तविक है और इसके द्वारा निमित्त (व्यवहार हेतु) का ज्ञान कराना यह उपचरित इष्टार्थ है क्योकि इस कथन द्वारा कहाँ कौन निमित्त है—इसका ज्ञान हो जाता है। यदि इन दो अभिप्रायो को ध्यान मे रखकर इस प्रकार का वचन प्रयोग किया जाता है तो उसका अभिधेयाथ

असत्य होने पर भी व्यवहार मे (लक्ष्यार्थ की दृष्टि से) यह असत्य नही माना जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रभृति आचार्यों ने ऐसे शब्द प्रयोगो को असत्य शब्द द्वारा व्यवहृत न कर जो उपचरित कहा है वह इसी अभिप्राय से कहा है।" (जैनतत्त्व-मीमासा विषय प्रवेश प्रकरण पृष्ठ १०-११)

आगे प० जी द्वारा उपचार के विषय मे अपनाये गये इस दृष्टिकोण मे आगम के दृष्टिकोण से क्या अन्तर है? इसे स्पष्ट किया जाता है।

उपचार के सम्बन्ध मे मैंने ऊपर जो कुछ लिखा है और जैनतत्त्वमीमासा के उद्धरण दिये है इससे स्पष्ट है कि आगम मे जहाँ एक वस्तु या धर्म का अन्य वस्तु या धर्म मे निमित्त और प्रयोजन के आधार पर उपचार (आरोप) करके उस उपचरित अर्थ को प्रयोग मे आये हुए शब्द का प्रतिपाद्य अर्थ माना गया है वहाँ प० फूलचन्द्र जी आदि उसको प्रयोग मे आये हुए शब्द का प्रतिपाद्य अर्थ मानने के लिये तैयार नही हैं क्योकि उनके मत से उस प्रकार के शब्द प्रयोग का नाम उपचार है जो किसी भी प्रकार के अर्थ का प्रतिपादक तो नही होता केवल वह इष्टार्थ का ज्ञान कराने मे हेतु मात्र होता है। इस प्रकार (आगम मे उपचार को जहाँ अर्थगत स्वीकार करके शब्द को उसका प्रतिपादक स्वीकार किया गया है वहाँ प० फूलचन्द्र जी उसको केवल शब्दगत यानि जबानी जमा-खर्च मानकर सतुष्ट हो जाना चाहते है कारण कि वे यही तो कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नही होता केवल वचन द्वारा उसका कथन मात्र किया जाता है जब कि इस विषय मे आगम का अभिप्राय

यह है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नही होता, यह एकान्त नियम नही है। अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नही होता—यह भी सत्य है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता होता है—यह भी सत्य है। इतनी बात अवश्य है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नही होता—यह कथन तो निश्चय कर्तृत्व, परमार्थ कर्तृत्व, यथार्थ कर्तृत्व, सत्यार्थ कर्तृत्व, भूतार्थ कर्तृत्व, वास्तविक कर्तृत्व, अन्तरग कर्तृत्व व मुख्य कर्तृत्व रूप उपादान कर्तृत्व की दृष्टि से सत्य है क्योकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप त्रिकाल मे कभी परिणत नही होता है तथा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता होता है—यह कथन व्यवहार कर्तृत्व, अपरमार्थ कर्तृत्व, अयथार्थ कर्तृत्व, असत्यार्थ कर्तृत्व, अभूतार्थ कर्तृत्व, अवास्तविक कर्तृत्व, बहिरग कर्तृत्व व उपचरित कर्तृत्व रूप निमित्त कर्तृत्व की दृष्टि से सत्य है क्योकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य रूप परिणत होने मे आवश्यकतानुसार सहायक अवश्य होता है। जैसे मिट्टी मे जिस प्रकार कुम्भ निर्माण का कर्तृत्व विद्यमान है उसी प्रकार कुम्भकार व्यक्ति मे भी कुम्भ निर्माण का कर्तृत्व विद्यमान है, परन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि मिट्टी कुम्भ की कर्ता इस दृष्टि से है कि वह कुम्भ रूप परिणत होती है और कुम्भकार व्यक्ति कुम्भ का कर्ता इस दृष्टि से है कि वह मिट्टी के कुम्भ रूप परिणत होने मे सहायक होता है।

प० फूलचन्द्रजी आदि कहते हैं कि "कुम्भकार व्यक्ति मे कुम्भ निर्माण का सहायक होने रूप कर्तृत्व भी विद्यमान नही है केवल उसे (कुम्भकार व्यक्ति को) कुम्भ निर्माण का कर्ता कहा मात्र जाता है। अर्थात् मिट्टी स्वय (अपने आप) ही स्वकाल आने पर कुम्भ रूप परिणत हो जाया करती है कुम्भ-

कार व्यक्ति तो वहाँ पर सर्वथा अकिञ्चित्कर ही बना रहता है।" परन्तु उनका ऐसा कहना मिथ्या है क्योकि यदि प० फूलचन्द्रजी आदि की इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय तो मिट्टी से उत्पन्न होने वाले कुम्भ के निर्माण मे कुम्भकार व्यक्ति की तरह तन्तुवाय (जुलाहे) को भी कुम्भकार शब्द से कहने का प्रसग उपस्थित हो जायगा। इसलिए वास्तविक बात यह है कि कुम्भकार व्यक्ति मे कुम्भ-निर्माण का कर्तृत्व तो है परन्तु उसका वह कर्तृत्व मिट्टी की तरह कुम्भरूप से परिणत होने रूप निश्चय कर्तृत्व, परमार्थ कर्तृत्व, यथार्थ कर्तृत्व, सत्यार्थ कर्तृत्व, भूतार्थ कर्तृत्व, वास्तविक कर्तृत्व, अन्तरग कर्तृत्व या मुख्यकर्तृत्व अर्थात् उपादान कर्तृत्व नही है अपितु उसका वह कर्तृत्व मिट्टी से निर्मित होने वाले कुम्भ-निर्माण मे सहायक होने रूप व्यवहार कर्तृत्व, अपरमार्थ कर्तृत्व, अयथार्थ कर्तृत्व, असत्यार्थ कर्तृत्व, अभूतार्थकर्तृत्व, बहिरगकर्तृत्व या उपचरित कर्तृत्व अर्थात् निमित्त कर्तृत्व है।

इस कथन का आशय यह है कि कर्तृत्व दो प्रकार का होता है—एक तो निश्चय कर्तृत्व आदि नामो से कहा जाने वाला कार्यरूप से परिणत होनेरूप उपादान कर्तृत्व और दूसरा व्यवहारकर्तृत्व आदि नामो से कहा जाने वाला कार्यरूप से परिणत होने वाली वस्तु के उस परिणमन मे सहायक होने रूप निमित्त कर्तृत्व। इनमे से मिट्टी मे तो कुम्भ निर्माण का पहला कर्तृत्व रहता है और कुम्भकार व्यक्ति मे कुम्भ निर्माण का दूसरा कर्तृत्व रहता है। इस तरह मिट्टी और कुम्भकार दोनो शब्द कुम्भ निर्माण के प्रति क्रमश मिट्टी और कुम्भकार व्यक्ति मे विद्यमान उस-उस कर्तृत्व का ही प्रतिपादन करते है।

प० फूलचन्द्र जी आदि कहते है कि "मिट्टी शब्द तो कुम्भ निर्माण के प्रति मिट्टी के कर्तृत्व का प्रतिपादन करता है क्योकि मिट्टी मे कुम्भरूप से परिणत होनेरूप कर्तृत्व विद्यमान रहता है परन्तु कुम्भकार शब्द कुम्भ निर्माण के प्रति कुम्भकार व्यक्ति के कर्तृत्व का प्रतिपादन नही करता है क्योकि कुम्भकार व्यक्ति मे मिट्टी से निर्मित होने वाले कुम्भ के निर्माण मे सहायक होनेरूप कर्तृत्व विद्यमान ही नही रहता है। अर्थात् मिट्टी स्वय (अपने आप) ही स्वकाल आने पर कुम्भरूप परिणत हो जाया करती है कुम्भकार व्यक्ति तो वहाँ पर सर्वथा अकिञ्चित्कर ही बना रहता है।" परन्तु उनका ऐसा कहना पूर्वोक्त प्रकार मिथ्या है।

इस कथन से यह निष्कर्ष भी निकल आता है कि प्रकृत मे उपादानकारण को जो निश्चय, परमार्थ, यथार्थ, सत्यार्थ, भूतार्थ, वास्तविक, अन्तरग और मुख्य आदि शब्दो से पुकारा जाता है वह इसलिए पुकारा जाता है कि उपादानकारण कार्यरूप परिणत होता है और निमित्तकारण को जो व्यवहार, अपरमार्थ, अयथार्थ, असत्यार्थ, अभूतार्थ, अवास्तविक, बहिरग और उपचरित आदि शब्दो से पुकारा जाता है वह इसलिए पुकारा जाता है कि निमित्तकारण स्वय (आप) कार्यरूप परिणत न होते हुए भी उपादान के कार्यरूप परिणत होने मे सहायक होता है। प० फूलचन्द्र आदि का कहना है कि "निमित्तकारण उपादानकारण की कायरूप परिणति मे सहायक भी न होकर सर्वथा अकिञ्चित्कर ही वना रहता है इसलिए व्यवहार आदि उक्त शब्दो से पुकारा जाता है।" परन्तु उनका ऐसा कहना पूर्वोक्त प्रकार मिथ्या है।

इस विवेचन का समन्वय निश्चय रत्नत्रय, निश्चय धर्म या निश्चय मोक्ष मार्ग मे तथा व्यवहार रत्नत्रय, व्यवहार धर्म या व्यवहार मोक्षमार्ग मे भी अनुकूलता के साथ कर लेना चाहिये। अर्थात् आत्मकल्याण के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाने रूप सम्यग्दर्शन,आत्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान और आत्मलीनता रूप सम्यक्चारित्र को जो निश्चय आदि शब्दो से पुकारा जाता है वह इसलिए पुकारा जाता है कि ये सब मोक्ष के साक्षात् कारण होते हैं और तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, आगम ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और अणुव्रत-महाव्रत आदि सम्यक् चारित्र को जो व्यवहार आदि शब्दो से पुकारा जाता है वह इसलिए पुकारा जाता है कि ये सब मोक्ष के परम्परया अर्थात् उक्त निश्चय रत्नत्रय, निश्चय धर्म या निश्चय मोक्षमार्ग के कारण होकर कारण होते है। पं० फूलचन्द्रजी आदि का कहना है कि "जैसे व्यवहाररत्नत्रय, व्यवहार धर्म या व्यवहार मोक्ष मार्ग कहते हैं वह मोक्ष की प्राप्ति मे निश्चय रत्नत्रय, निश्चय धर्म या निश्चय मोक्ष मार्ग का भी कारण न होकर सर्वथा अकिंचित्कर हो बना रहता है इसलिये व्यवहार आदि शब्दो से पुकारा जाता है।" परन्तु उनका ऐसा कहना पूर्वोक्त प्रकार मिथ्या है।

बात वास्तव मे यह है कि अर्थ पाच प्रकार का होता है—एक मुख्यार्थ, दूसरा उपचरित अर्थ, तीसरा लक्ष्यार्थ, चौथा व्यग्यार्थ और पाँचवा मिथ्या अर्थ। इनमे से मुख्यार्थ वह है जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए शब्दनिष्ठ अभिधावृत्ति के आधार पर शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है। जैसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आम,

नीम, इमली, नीबू, वस्त्र आदि अर्थ। उपचरित अर्थ वह है जो अपनी पराश्रित सत्ता रखते हुए अर्थात् निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर आरोपित होकर अभिधावृत्ति के आधार पर शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है। जैसे कुम्भकार अध्यापक, पाचक (रसोइया) आदि रूप अर्थ। ये अर्थ उपचरित इसलिये हैं कि ये स्वय तो कार्य रूप परिणत नही होते परन्तु अन्य पदार्थ की कार्य रूप परिणति मे सहायक अवश्य होते हैं। अर्थात् मिट्टी ही कुम्भरूप परिणत होती है कुम्भकार तो मिट्टी की उस परिणति मे सहायक मात्र होता है, इसी तरह विद्यार्थी ही पढता है अध्यापक तो पढाता है अर्थात् उसके पढने मे सहायक मात्र होता है और इसी तरह आटा, दाल, चावल आदि ही रसोई रूप परिणत होते हैं पाचक (रसोइया) तो रसोई को बनाता है अर्थात् आटा आदि के रसोई रूप परिणमन मे सहायक मात्र होता है। लक्ष्यार्थ वह है जो उपचार प्रवृत्ति का निमित्त होता है और शब्दनिष्ठ लक्षणावृत्ति के आधार पर शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है। जैसे "मञ्चा क्रोशन्ति" यहाँ पर मञ्च और मञ्चो पर बैठे पुरुषो मे विद्यमान आधाराधेय सम्बन्ध तथा 'धनुर्धावति" यहाँ पर धनुर् और धनुर्धारी पुरुष मे विद्यमान सयोग सम्बन्ध या स्वस्वामिभाव सम्बन्ध। व्यग्यार्थ वह है जो उपचार प्रवृत्ति का प्रयोजन होता है और शब्द निष्ठ व्यजना-वृत्ति के आधार पर शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है। जैसे "अन्न वै प्राणा" यहाँ पर प्राणो के सरक्षण के लिये अन्न को उपयोग की महत्ता की प्रस्थापना तथा "गगायाँ घोष" यहाँ पर शैत्य व पावनत्वादि की प्रतीति। मिथ्या अर्थ वह है जो सशय, विपर्यय या अनध्यवसित रूप मिथ्या अभिधेय के रूप मे शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है। जैसे शीप में "यह शीप है या

चाँदी" इस वचन से प्रतिपादित सशय रूप अर्थ, शीप मे "यह चाँदी है" इस वचन से प्रतिपादित विपर्यय रूप अर्थ और किसी भी वस्तु मे "कुछ है" इस वचन से प्रतिपादित अनध्यवसित रूप अर्थ। यत अर्थ उपर्युक्त प्रकार से पाँच प्रकार का होता है अत उस-उस अर्थ का प्रतिपादन करने के आधार पर शब्द भी पाँच प्रकार का हो जाता है। अर्थात् मुख्यार्थ का प्रतिपादन करने वाला मुख्य शब्द, उपचरित अर्थ का प्रतिपादन करने वाला उपचरित शब्द, लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन करने वाला लाक्षणिक शब्द, व्यग्यार्थ का प्रतिपादन करने वाला व्यजक शब्द और सशय, विपर्यय या अनध्यवसित रूप मिथ्या अर्थ का प्रतिपादन करने वाले क्रमश सशय, विपर्यय या अनध्यवाय रूप मिथ्या शब्द।

यहाँ पर इतना विशेष जानना चाहिये कि जिस प्रकार उपर्युक्त पाँच प्रकार के अर्थ का प्रतिपादन करने के आधार पर शब्द पाँच प्रकार का होता है उसी प्रकार एक शब्द ऐसा भी होता है जिसका कोई अर्थ ही नही होता है अर्थात् शब्द निरर्थक भी हुआ करते हैं। जैसे "वन्ध्या का पुत्र", "आकाश के फूल" और "गधे के सीग" आदि। ये वचन न तो मुख्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं, और न उपर्युक्त उपचरित, लक्ष्य, व्यग्य या सशय, विपर्यय अथवा अनध्यवसित रूप मिथ्या अर्थों मे से किसी भी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं क्योकि न तो वन्ध्या का पुत्र होता है, न आकाश के फूल होते हैं और न गधे के सीग होते हैं तथा न तो यहाँ पर कोई लक्ष्यार्थ है और न व्यग्यार्थ ही है। इसी तरह निमित्तभूत लक्ष्यार्थ और प्रयोजन भूत व्यग्यार्थ का अभाव होने से उपचरित अर्थ का भी अभाव यहाँ

पर है। इतना ही नही सशय, विपर्यय या अनध्यवसित रूप मिथ्या अर्थ का भी अभाव यहाँ पर है। इस तरह उक्त पाँच प्रकार के अर्थों मे से किसी भी प्रकार के अर्थ का प्रतिपादन न कर सकने के कारण "बन्ध्या का पुत्र", "आकाश के फूल", तथा "गधे के सीग" ये तीनो वचन निरर्थक ही सिद्ध होते हैं।

यहाँ इतना विशेष और जानना चाहिये कि यदि कोई बन्ध्या किसी अन्य के पुत्र को गोद ले ले, इसी प्रकार सभी वस्तुएँ आकाश पर आधारित होने से आकाश को फूलो का भी आधार मान लिया जावे तथा इसी प्रकार गधे के सिर पर सीग बाँध दिये जावे तो निमित्त तथा प्रयोजन का सद्भाव सिद्ध हो जाने से "बन्ध्या का पुत्र", "आकाश के फूल" तथा "गधे के सीग" ये तीनो वचन फिर निरर्थक न रहकर उपचरित अर्थ के प्रतिपादक सिद्ध हो जाते हैं।

प० फूलचन्द्र जी का कहना है कि "जो वचन अपने अभिधेय अर्थ का प्रतिपादन करता है वह तो सत्यार्थ है और जो वचन अपने अभिधेय अर्थ का प्रतिपादन नही करता वह असत्यार्थ है", परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि उपचरित शब्द की असत्यार्थता इसलिये नही है कि वह अपने अभिधेयार्थ का प्रतिपादन नही करके निरर्थक ही है अपितु उसकी असत्यार्थता इसलिये है कि वह मुख्य अभिधेय का प्रतिपादन करके उपचरित अभिधेय का ही प्रतिपादन करता है। इसी तरह लाक्षणिक शब्द को भी इसलिए असत्यार्थ मानना चाहिये कि उसका प्रतिपाद्य अर्थ अभिधेय न होकर

उपचार मे कारणभूत लक्ष्यार्थ होता है और इसी तरह व्यञ्जक शब्द को भी इसलिए असत्यार्थ मानना चाहिये कि उसका प्रतिपाद्य अर्थ भी अभिधेय न होकर उपचार का प्रयोजनभूत व्यग्यार्थ होता है तथा इसी तरह सशय, विपर्यय अनध्यवसित रूप शब्दो को भी असत्यार्थ इसलिए मानना चाहिये कि उनका प्रतिपाद्य अर्थ सम्यक् अभिधेय न होकर सशय, विपर्यय और अनध्यवसित रूप मिथ्या अभिधेय होता है। इनके अतिरिक्त "वन्ध्या का पुत्र" आदि निरर्थक शब्दो की असत्यार्थता इसलिए मानना चाहिये कि वे उपर्युक्त पाच प्रकार के अर्थो मे से किसी भी प्रकार के अर्थ का प्रतिपादन न करने के कारण निरर्थक माने गये हैं। इस प्रकार प० फूलचन्द्र जी आदि का उपचरित अर्थ को सर्वथा असत्यार्थ तथा उसके प्रतिपादक शब्द को भी सर्वथा असत्यार्थ अर्थात् निरर्थक या कथन मात्र मानना मिथ्या है।

यह बात मैं पूर्व में बतला चुका हूँ कि यदि उपचरित शब्द निरर्थक ही होता है तो फिर उससे इष्टार्थ का बोध कैसे हो सकता है। यही कारण है कि "अन्न वै प्राणा." इस वचन के प्रतिपाद्य रूप से निमित्त और प्रयोजन के आधार पर अन्न मे प्राण रूप अभिधेय अर्थ की स्थापना की गयी है जैसी कि पत्थर की मूर्ति मे निमित्त और प्रयोजन के आधार पर भगवान की स्थापना की जाती है। इससे भी यह आशय निकलता है कि उपचार अर्थगत ही होता है शब्द तो उपचरित अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण उपचरित कहलाता है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उपचरित अर्थ की सिद्धि के लिये निमित्तो और प्रयोजनो की विविधता पायी जाती है इसलिये उपचरित अर्थ भी विविध प्रकार के हो जाते

हैं। जैसे "अन्नं वै प्राणा" यहाँ पर अन्न का प्राणरूप जो उपचरित अर्थ है वह अन्न मे प्राण सरक्षण की कारणता का सद्भाव रहने के आधार पर है, कुम्भकार शब्द का कुम्भ-निर्माण कर्तृत्व रूप जो उपचरित अर्थ है वह कुम्भ निर्माण में मिट्टी का सहायक होने के आधार पर है, यही व्ययस्था अध्यापक, पाचक (रसोइया) आदि शब्दो के उपचरित अर्थ के विषय मे भी समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार व्यवहार रत्नत्रय, व्यवहार धर्म और व्यवहार मोक्ष मार्ग शब्दो से कहे जाने वाले व्यवहार-सम्यग्दर्शनादि का मोक्ष कारणता रूप जो उपचरित उपचरित अर्थ हैं वह परम्परया कारण होने के आधार पर है और इसी प्रकार "ओ लकडी" व "ओ तागा" आदि स्थलो मे लकडी शब्द का लकडीवाला व तांगा शब्द का तागावाला रूप जो उपचरित अर्थ है वह आधाराधेयभाव व स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्धो के आधार पर है। यही बात "गगाया घोष.", "मञ्चा क्रोशन्ति" और 'धनुर्धावति" आदि स्थलो मे भी जान लेना चाहिये। अर्थात् 'गगाया घोष" यहाँ पर गङ्गा शब्द का गङ्गा तट रूप उपचरित अर्थ गङ्गा और घोष मे विद्यमान समीपतारूप सम्बन्ध के आधार पर है, "मञ्चा क्रोशन्ति" यहाँ पर मञ्च शब्द का मञ्चस्थ पुरुष रूप उपचरित अर्थ मञ्च और पुरुष में विद्यमान आधाराधेयभाव सम्बन्ध के आधार पर है और "धनुर्धावति" यहाँ पर धनुर् शब्द का धनुर्धारी रूप उपचरित अर्थ धनुर् और पुरुष मे विद्यमान सयोग सम्बन्ध के आधार पर है। इन सब स्थलो मे निमित्तो के आधार पर उपचरित अर्थ का स्पष्टीकरण किया है इसी तरह प्रयोजन के आधार पर उपचरित अर्थ का स्पष्टीकरण यथासम्भव इन्ही स्थलो मे तथा अन्य स्थलो में भी समझ लेना चाहिये।

यहाँ इतनी विशेषता समझ लेनी चाहिये कि कही-कही तो उपचरित अर्थ की सिद्धि के लिए निमित्त और प्रयोजन दोनो ही उपयोगी होते है लेकिन कही-कही केवल निमित्त ही उपचरित अर्थ की सिद्धि के लिए उपयोगी होता है। जैसे— "गङ्गाया घोष" यहाँ पर तो उपचरित अर्थ की सिद्धि के लिए निमित्त और प्रयोजन दोनो ही उपयोगी हैं लेकिन "मञ्चा. क्रोशन्ति" व "धनुर्धावति" इन स्थलो मे उपचरित अर्थ की सिद्धि के लिये केवल निमित्त ही उपयोगी है। निमित्त और प्रयोजन दोनो मे से निमित्त तो शब्द का लक्ष्यार्थ होता है और वह शब्द निष्ठ लक्षणावृति के आधार पर शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है लेकिन प्रयोजन शब्द का व्यग्यार्थ होता है और वह शब्द निष्ठ व्यञ्जना वृत्ति के आधार पर शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है। इससे यह बात निश्चित होती है कि लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ ही उपचरित अर्थ की स्थापना (सिद्धि) मे कारण होते हैं। इस तरह आलाप पद्धति के "मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचार प्रवर्तते" वचन का क्या अभिप्राय है? यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है।

प० फूलचन्द्र जी का कहना है कि जो वचन अपने अभिधेय अर्थ का प्रतिपादन नही करता है वह असत्यार्थ माना जाता है और इस प्रकार असत्यार्थ होकर भी जो वचन इष्टार्थ का ज्ञान कराने मे हेतु होता है उसे उपचरित वचन कहना चाहिये। इसकी मीमासा मे यह बात तो ऊपर बतला दी गयी है कि आगम के अनुसार उपचरित वचन वही कहलाता है जो उपचरित अर्थ का प्रतिपादन करता है इसलिये उपचरित वचन इस रूप मे असत्यार्थ नही होता है कि उसका कोई अर्थ ही नही

हो केवल कथनमात्र रूप ही वह हो, अपितु इस रूप मे ही वह असत्यार्थ होता है कि वह मुख्य अर्थ का प्रतिपादन नही करके उपचरित अर्थ का ही प्रतिपादन करता है।

यहाँ पर अब प० जी के इस अभिप्राय की मीमासा की जाती है कि वे उपचरित अर्थ को शब्द का प्रतिपाद्य अभिधेय रूप मे नही मानना चाहते हैं जब कि आगम मे शब्द के प्रतिपाद्य मुख्य अर्थ को जिस प्रकार अभिधेय रूप मे स्वीकार किया गया है उसी प्रकार शब्द के प्रतिपाद्य उपचरित अर्थ को भी अभिधेय रूप मे ही स्वीकार किया गया है। मैं प० जी से पूछना चाहूँगा कि कुम्भकार, अध्यापक और पाचक शब्दो का प्रतिपाद्य कोई अर्थ है या नही ? यदि नही है तो क्या ये शब्द बन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम व शशशृङ्ग के समान सर्वथा निरर्थक या कथन मात्र हैं ? तो कहना पडता है कि प० जी कुम्भकार, अध्यापक और पाचक शब्दो को बन्ध्यापुत्र आदि शब्दो की तरह सर्वथा निरर्थक तो नही मानते हैं क्योकि उनका कहना है कि ये शब्द इष्टार्थ का बोध कराते है इसलिये उपचरित शब्द से व्यवहृत किये जाते है। अब मेरा कहना यह है कि प० फूलचन्द्र जी को यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि कुम्भकार शब्द का अर्थ कुम्भ कर्तृव्य है, अध्यापक शब्द का अर्थ शिक्षण कर्तृत्व है और पाचक शब्द का अर्थ पाक कर्तृत्व है ऐसा तो वे कह नही सकते कि ये शब्द निरर्थक ही हैं अर्थात् इनका कोई अर्थ ही नही है। केवल वे इतना ही कह सकते है कि कुम्भकार शब्द का कुम्भकर्तृव्य, अध्यापक शब्द का शिक्षण कर्तृव्य और पाचक शब्द का पाककर्तृत्व ये तीनो अर्थ उपचरित अर्थ हैं मुख्य अर्थ नही है। अब मैं उनसे यह भी पूछना चाहूगा कि ये तीनो अर्थ जो

क्रमश कुम्भकार, अध्यापक और पाचक शब्द से प्रतिपादित होते है तो वे शब्दनिष्ठ कौन सी वृति के आधार पर प्रतिपादित होते हैं ? लक्षणा और व्यजना वृत्ति के आधार पर तो प्रतिपादित होते नही हैं क्योकि कुम्भ कर्तृत्व, शिक्षण कर्तृत्व और पाककर्तृव्य इन तीनो मे से कोई भी अर्थ न लक्ष्यार्थ है और न व्यग्यार्थ ही है क्योकि पूर्व मे उपचरित अर्थ से भिन्न ही लक्ष्यार्थं और व्यग्यार्थ को सिद्ध किया जा चुका है इतना ही नही वह पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि लक्ष्यार्थ और और व्यग्यार्थ उपचरित अर्थ की सिद्धि के कारण होते हैं। यत शब्द में अर्थ प्रतिपादन की दृष्टि से अभिधावृत्ति, लक्षणावृत्ति और व्यजनावृत्ति नाम की तीन ही वृत्तिया मानी गयी हैं अत यही मानना होगा कि उपचरित अर्थ का प्रतिपादन शब्दनिष्ठ अभिधावृत्ति के आधार ही होता है। इतना ही नही, जितना भी सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप मिथ्या अर्थ है वह भी शब्द निष्ठ अभिधावृत्ति के आधार पर ही शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है। क्या यह मानना उचित होगा कि उपचरित या सशय, विपयय या अनध्यवसाय रूप मिथ्या अर्थ कोई अर्थ ही नही है ? यदि ऐसा माना जायगा तो कुम्भकार, अध्यापक और पाचक रूप उपचरित शब्दो और सशय विपर्यय तथा अनध्यवसित रूप मिथ्या शब्दो मे बन्ध्यापुत्र आदि शब्दो से क्या भेद रह जायगा ? इसलिये यही मानना पडता है कि कुम्भकार आदि उपचरित तथा सशय आदि मिथ्या शब्द भी वन्ध्यापुत्र आदि शब्दो की तरह निरर्थक नही है किन्तु अर्थ का प्रतिपादन करने वाले हैं। क्या कोई यह कह सकता है कि कि शीप के विषय मे "यह शीप है या चादी" अथवा "यह चाँदी है" या "यह कुछ है" इस प्रकार के शब्द प्रयोगो का कोई

अर्थ ही नही है ? यह बात दूसरी कि पहला शब्द प्रयोग सशय रूप मिथ्या अर्थ का प्रतिपादन करता है, दूसरा शब्द प्रयोग विपर्ययरूप मिथ्या अर्थ का प्रतिपादन करता है और तीसरा शब्द प्रयोग अनध्यवसित रूप मिथ्या अर्थ का प्रतिपादन करता है। इनमे से कोई शब्द प्रयोग 'बन्ध्यापुत्र' शब्द प्रयोग की तरह निरर्थक या कथन मात्र नही है। यही बात उपचरित शब्द प्रयोग के विषय मे भी जान लेना चाहिये। इस तरह अर्थ प्रति-पादन की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो निरर्थक बन्ध्यापुत्र आदि शब्दो को छोडकर उपचरित और सशयादि रूप सभी शब्द अपने-अपने अभिधेयार्थ का प्रतिपादन करने के कारण सत्यार्थ (सार्थक) ही सिद्ध होते हैं असत्यार्थ (निरर्थक) नही। यह बात दूसरी है कि उपचरित शब्द उपचरित अर्थ का प्रतिपादन करते हैं और सशय आदि शब्द अपने-अपने मिथ्या अर्थ का प्रतिपादन करते हैं व मुख्यार्थ का प्रतिपादन नही करते हैं इसलिये असत्यार्थ है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि अभिधेयरूप अर्थ तीन प्रकार का होता है—एक तो मुख्यरूप, दूसरा उपचरित रूप और तीसरा मिथ्यारूप। और इन सब का प्रतिपादन उस-उस शब्द द्वारा उस-उस शब्द निष्ठ उस-उस प्रकार की अभिधावृत्ति के आधार पर होता है।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि मुख्य रूप जो अभिधेय है वह भी विवक्षित और अविवक्षित के भेद से दो प्रकार का हो जाता है। जैसे "सैन्धवमानय" इस वचन मे सैन्धय का अर्थ भोजन के समय नमक रूप ही विवक्षित है और घोडारूप अविवक्षित है। इसी तरह युद्ध की तैयारी मे या कही

वाहर जाने की तैयारी मे घोडा रूप अर्थ हो विवक्षित है तथा नमक रूप अर्थ अविवक्षित है लेकिन सैन्धव शब्द के दोनो ही अर्थ अभिधेय है। इसी तरह एक ही शब्द नाना भाषाओ मे भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है तो वहाँ पर भी भाषा भेद के आधार विवक्षित और अविवक्षित का भेद अभिधेय मे कर लेना चाहिये।

इस तरह प० फूलचन्द्र जी का उपचरित अर्थ को शब्द द्वारा अनभिधेय मान कर असत्यार्थ मानना मिथ्या है-इसी तरह उपचरित शब्द को निरर्थकता के आधार पर असत्यार्थ मानना भी मिथ्या है तथा आगमानुसार उपचरित अर्थ का प्रतिपादन करने के आधार पर असत्यार्थ मानना ही सम्यक् है। असत्यार्थता की यही स्थिति सशय आदि मिथ्या अर्थ के प्रतिपादक शब्दो मे भी समझ लेना चाहिये।

आगम मे जो नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप निक्षेप बतलाये गये हैं उन्हें अर्थगत ही स्वीकार किया गया है तथा अर्थगत उस-उस निक्षेप का प्रतिपादन करने के आधार पर शब्द को भी नामादि रूप मे विभक्त कर दिया गया है। इनमे से नाम, स्थापना और द्रव्य रूप निक्षेप तो उपचरित अर्थ है तथा भावरूप निक्षेप अनुपचरित अर्थ है। इसी तरह जो शब्द नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप निक्षेपो मे से भावरूप निक्षेप का प्रतिपादन करता है-वह तो अनुपचरित शब्द है और जो नाम, स्थापना और द्रव्य रूप निक्षेपो मे से किसी एक निक्षेप का प्रतिपादन करता है वह उपचरित शब्द है।

इन चारो को इस तरह समझा जा सकता है कि जैन शब्द का अर्थ यदि मोक्षमार्गी जीव माना जाय तो जो सम्यग-

दर्शनादि मोक्षमार्गरूप परिणत हो रहा है वह जीव भावनिक्षेप स्वरूप निश्चय, परमार्थ, यथार्थ, सत्यार्थ, भूतार्थ, वास्तविक, अन्तरग या अनुपचरित जैन है तथा जो सम्यग्दर्शनादि-मोक्ष-मार्ग रूप परिणत न होता हुआ भी आगे उस रूप परिणत होने वाला हो वह जीव द्रव्य निक्षेप स्वरूप व्यवहार, अपरमार्थ, अयथार्थ, असत्यार्थ, अभूतार्थ, अवास्तविक, बहिरग या उप-चरित जैन है। इसी प्रकार जो सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग रूप परिणत न होता हुआ भी उस जैसा निर्दोप वाह्य रूप धारण किये हुए हो वह जीव स्थापना निक्षेप स्वरूप व्यवहार, अपर-मार्थ, अयथार्थ, असत्यार्थ, अभूतार्थ, अवास्तविक, बहिरग या उपचरित जैन है और इसी प्रकार जो जैन कुल मे उत्पन्न होकर उम कुल के अनुकूल आचरण कर रहा हो वह जीव नाम निक्षेप रूप व्यवहार, अपरमार्थ, अयथार्थ, असत्यार्थ, अभूतार्थ, अवास्तविक, बहिरग या उपचरित जैन है।

इससे भी सिद्ध होता है कि उपचार तो अर्थगत ही होता है तथा उसके प्रतिपादन के आधार पर शब्द को भी उपचरित मानना श्रेयस्कर है जिसका तात्पर्य यह होता है कि उपचरित शब्द निरर्थक नही होता और उसका जो भी अर्थ होता है वह अभिधेय रूप मे ही उस शब्द का प्रतिपाद्य होता है।

प० फूलचन्द्र जी ने अपने कथन मे 'चन्द्रमुखी' शब्द को जो मुख्यार्थ का प्रतिपादक न मानकर उपचरित अर्थ का प्रतिपादक माना है वह भी मिथ्या हैं कारण कि 'चन्द्रमुखी' शब्द समस्त शब्द है। अर्थात् मध्यम पदलोपी बहुव्रीहि समास होकर ही इस शब्द की निष्पत्ति हुई है इस तरह "चन्द्र इव

मुख यस्या सा" इस विग्रह के आधार पर चन्द्रमा के समान मनोज्ञ और आभायुक्त मुखवाली नारी चन्द्रमुखी शब्द का मुख्यार्थ ही निश्चित होता है। इसे उपचरित, लक्ष्य या व्यग्य अर्थ किसी भी हालत मे नही माना जा सकता है। इतना अवश्य है कि उत्प्रेक्षा लकार मे "अमुक नारी का मुख मानो चन्द्रमा ही है" या रूपकालकार मे "निरखत मुखचन्द्र" इत्यादि शब्द प्रयोग भी देखे जाते हैं, तो इन स्थलो मे निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर मुख मे चन्द्रमा का आरोप करके उसे उपचरित अर्थ मानना भी असगत नही है। यहा पर मुख मे चन्द्रमा का आरोप करने के लिये मुख और चन्द्रमा दोनो मे विद्यमान मनोज्ञता और आभायुक्तता का सादृय रूप लक्ष्यार्थ तो निमित्त है तथा मुख के देखने वालो का आकृष्ट होते रूप व्यग्यार्थ उसका प्रयोजन है।

प० फूलचन्द्रजी ने आरोप के विषय मे "गगाया घोष", "मञ्चा क्रोशन्ति' और "धनुर्धावति" इन तीन उदाहरणो को उपस्थित करके जो इन्हे उपचरित कहा है—यह तो ठीक है परन्तु यहा यह बात ध्यान मे रखने की है कि आरोपित (उपचरित) अर्थ लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ से अलग ही अपना अस्तित्व रखता है। लक्ष्यार्थ व व्यग्यार्थ के साथ आरोपित अर्थ का भेद दिखलाने के लिये यह भी कहा जा सकता है कि आरोप के उद्भव मे लक्ष्यार्थ को निमित्त का व व्यग्यार्थ को प्रयोजन का ही स्थान मिला हुआ है। एक अन्य बात यह भी कही जा सकती है कि एक वस्तु या धर्म मे अन्य वस्तु या धर्म का आरोप होने पर उसके अभिधेय बन जाने पर शब्द निष्ठ अभिधावृत्ति के आधार पर ही उसका प्रतिपादन होता है जब कि शब्द निष्ठ

लक्षणा और व्यजना वृत्तियो के आधार पर ही क्रमश· लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ का प्रतिपादन हुआ करता है। इसके भी अतिरिक्त एक अन्य बात यह भी कही जा सकती है कि जहा निमित्त और प्रयोजन आरोप प्रवृत्ति के आधार के रूप मे विद्यमान रहेगे वही पर आरोप प्रवृत्ति का उद्भव हो सकता है अन्यत्र नही। लेकिन इसमे इतनी विशेषता समझ लेनी चाहिये कि आरोपित अर्थ की सिद्धि के लिये कही तो लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ दोनो ही उपयोगी रहा करते है तथा कही केवल लक्ष्यार्थ ही उपयोगी रहा करता है। जैसे 'गगाया घोष.' यहा पर तो आरोपित अर्थ की सिद्धि के लिये निमित्तभूत लक्ष्यार्थ और प्रयोजन भूत व्यग्यार्थ दोनो ही उपयोगी है लेकिन "मञ्चा क्रोशन्ति" व "धनुर्धावति" स्थलो मे केवल निमित्तभूत लक्ष्यार्थ ही उपयोगी है, क्योकि प्रयोजनभूत व्यग्यार्थ का वहाँ पर अभाव ही है।

प० फूलचन्द्र जी ने जो यह लिखा है कि "इसमे सदेह नही कि आगम मे व्यवहारनय की अपेक्षा एक द्रव्य का कर्ता आदि कहा गया है परन्तु वहा पर यह कथन अभिधेयार्थ को ध्यान मे रख कर किया गया है या लक्ष्यार्थ को ध्यान मे रख-कर किया गया है इसे समझकर हो इष्टार्थ का निर्णय करना चाहिये" और इसके अनन्तर जो यह लिखा है कि "प्रकृत में इष्टार्थ (लक्ष्यार्थ) दो हैं—ऐसे कथन द्वारा निश्चयार्थ का ज्ञान कराना यह मुख्य इष्टार्थ है, क्योकि यह वास्तविक है और इस द्वारा निमित्त (व्यवहार हेतु) का ज्ञान कराना यह उपचरित इष्टार्थ है, क्योकि इस कथन द्वारा कहाँ कौन निमित्त है इसका ज्ञान हो जाता है।"

इस विषय मे मेरा कहना है कि और जैसा पूर्व मे वत-लाया भी चुका है कि मुख्यार्थ की तरह उपचरित अर्थ भी शब्द का अभिधेय हुआ करता है केवल बात यह है कि मुख्यार्थ तो स्वत सिद्ध रहता है और उपचरित अर्थ निमित्तभूत लक्ष्यार्थ के आधार पर निष्पन्न होता है। जैसे कुम्भकार व्यक्ति मे जो कुम्भकर्त्तव्य है वह कुम्भकार शब्द का अभिधेय तो है परन्तु उपचरित रूप मे अभिधेय है, क्योकि कुम्भकार व्यक्ति मे कुम्भ कर्तृत्व की सिद्धि उसके घटोत्पत्ति मे सहायक होने रूप लक्ष्यार्थ के आधार पर ही होती है। इस तरह कुम्भकार शब्द दो अर्थो का प्रतिपादन करता है एक तो अभिधावृत्ति के आधार पर कुम्भ कर्तृत्व रूप उपचरित अर्थ का प्रतिपादन करता है और दूसरे लक्षणावृत्ति के आधार पर घटोत्पत्ति मे सहायक होने रूप लक्ष्यार्थ का भी प्रतिपादन करता है।

मेरे इस विवेचन से प० फूलचन्द्र जी का यह लिखना कि "प्रकृत मे इष्टार्थ (लक्ष्यार्थ) दो हैं—ऐसे कथन द्वारा निश्च-यार्थ का ज्ञान कराना यह मुख्य इष्टार्थ है, क्योकि यह वास्त-विक है और इस द्वारा निमित्त (व्यवहार हेतु) का ज्ञान कराना उपचरित इष्टार्थ है, क्योकि इस कथन द्वारा कहा कौन निमित्त है इसका ज्ञान हो जाता है" व्यर्थ हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि कुम्भकार शब्द से कुम्भकार व्यक्ति मे जो कुम्भकर्तृत्व का वोध होता है यह भी अनुभवगम्य है और उसका वह कर्तृत्व उसके घटोत्पत्ति मे सहायक होने के आधार पर निर्णीत होता है यह भी अनुभवगम्य है। यद्यपि इस वात को अस्वीकृत करते हुए प० फूलचन्द जी का कहना है कि

"ऐसे कथन द्वारा निश्चयार्थ का ज्ञान कराना यह मुख्य इष्टार्थ है, क्योकि यह वास्तविक है और इस द्वारा निमित्त (व्यवहार हेतु) का ज्ञान कराना यह उपचरित इष्टार्थ है क्योकि इस कथन द्वारा कहा कौन निमित्त है इसका ज्ञान हो जाता है" परन्तु इससे वे क्या अभिप्राय लेना चाहते हैं इसे उन्होने स्पष्ट नही किया है। यदि कहा जाय कि ऐसे कथन से निश्चय स्वरूप उपादान कर्ता रूप इष्टार्थ का बोध होता है तो यह भी असगत है क्योकि यह अनुभवगम्य नही है और यदि इस तरह उपादान कर्त्ता का बोध होने लग जावे तो फिर उपादान का अलग से कथन करने की क्या आवश्यकता रह जाती है ? दूसरी बात यह है कि ऐसा कोई नियम नही कि उक्त प्रकार निमित्त परक कथन से निश्चय स्वरूप उपादान कर्ता रूप इष्टार्थ का बोध कराना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इस प्रकार यही मानना श्रेयस्कर है कि कुम्भकार शब्द लक्ष्यार्थ से समन्वित निमित्त कर्तृत्व (सहायक कर्तृत्व) रूप अपने अभिधेयार्थ का ही प्रतिपादन करता है और बोध भी इसी का होता है। इस प्रकार कुम्भ के निर्माण मे कुम्भकार के निमित्त कर्तृत्व की उतनी उपयोगिता सिद्ध हो जाती है जितनी कि मिट्टी के उपादान कर्तृत्व की सिद्धि होती है कारण कि कुम्भकार के निमित्त हुये बिना मिट्टी का घटरूप परिणमन होना असम्भव ही रहा करता है और यह अनुभवगम्य ही है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कुम्भकार मे मिट्टी की तरह घट का उपादान कर्तृत्व तो नही है फिर भी घट के निर्माण मे सहयोग रूप निमित्त कर्तृत्व तो है ही। इस तरह प० फूलचन्द्र जी का निमित्त कर्तृत्व को कल्पित अर्थात् अभावरूप मानकर उसके प्रतिपादक वचन को निरर्थक (कथनमात्र) मानना असगत ही है।

एक वात और है कि प० फूलचन्द्र जी एक ओर तो यह कहते है कि "व्यवहार रत्नत्रय स्वय धर्म नही है निश्चय रत्न-त्रय के सद्भाव मे उसमे धर्म का आरोप होता है—यह वात अवश्य है। इसी प्रकार रूढिवश जो जिस कार्य का निमित्त कहा जाता है उसके सद्भाव मे भी तब तक कार्य की सिद्धि नही होती है जब तक जिस कार्य का वह निमित्त कहा जाता है उसके अनुरूप उपादान की तैयारी न हो अतएव कार्य की सिद्धि मे निमित्त अकिंचित्कर है।" (जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ २५२) व दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि "साधारण नियम यह है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मे ये पाँच कारण नियम से होते हैं—स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म (परपदार्थ व्यवस्था)" (जैनतत्त्वमीमांसा पृष्ठ ६५)।

प० फूलचन्द्र जी के इन दोनो कथनो पर एक साथ दृष्टि डालने से स्पष्ट मालूम होता है कि कार्योत्पत्ति मे निमित्तो की कारणता के विषय मे उनकी परस्पर विरुद्ध दो मान्यताएँ हैं। अर्थात् जहाँ पहले कथन से वे यह प्रगट करना चाहते हैं कि कार्य की सिद्धि केवल उपादान के तैयार हो जाने पर यानि उपादानकारणभूत वस्तु के कार्य से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय मे पहुँच जाने पर नियम से हो जाया करती है निमित्तो का कार्य की सिद्धि मे कोई उपयोग नही होता वे तो सदा अकिंचित्कर ही बने रहते हैं वहाँ दूसरे कथन से पहली मान्यता के ठीक विपरीत वे यह भी प्रगट कर रहे हैं कि कार्य की सिद्धि स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म इन पाँचो का सम-वाय हो जाने पर ही हुआ करती है। इतना ही नही, उक्त

दूसरे कथन के प्रसंग में आगे वही पर वे गोम्मटसार कर्मकाण्ड के आधार का उल्लेख करते हुए यह भी कह रहे हैं कि जो व्यक्ति इन पाँचो कारणो में से किसी एक से ही कार्य की उत्पत्ति मानता है वह मिथ्यादृष्टि है और जो इन पाँचो के समवाय से कार्योत्पत्ति मानता है वह सम्यग्दृष्टि है। अपने इस कथन मे पं० जी ने कार्योत्पत्ति मे जिन स्वभाव आदि पाँच के समवाय को कारण माना है उनमे पठित कर्म शब्द का अर्थ भी उन्होने निमित्त किया है। जैसे वे लिखते है कि "यहाँ स्वभाव से द्रव्य की स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया है, पुरुषार्थ से उसका बल-वीर्य लिया गया है, काल से स्वकाल का ग्रहण किया है, नियति से समर्थ उपादान या निश्चय की मुख्यता बतलाई गई है और कर्म से निमित्त का ग्रहण किया है।" (जैनतत्त्वमीमासा पृष्ठ ६५) इस तरह देखने में आ रहा है कि एक जगह निमित्तो को कार्य सिद्धि मे अकिंचित्कर मानते हुए भी दूसरी जगह प० फूलचन्द्र जी कार्य सिद्धि के प्रति उन्ही निमित्तो की अनिवार्य कारणता को आप स्वय स्वीकार कर रहे हैं।

प० जी ने कार्योत्पत्ति मे निमित्तो की अकिंचित्करता के विषय मे जैनतत्त्वमीमासा मे जो कुछ लिखा है उसकी मीमासा पूर्व मे विस्तार के साथ की जा चुकी है, इसलिये इस विषय मे कुछ न लिखकर यहाँ पर मैं यह कहना चाहता हूँ कि कार्य की उत्पत्ति मे प० जी ने जो स्वभाव आदि पाँच के समवाय को कारण माना है उनकी इस मान्यता के विषय मे तो मेरा साधारणतया कोई विरोध नही है, फिर भी जो विरोध है वह यह है कि सभी कार्यो की उत्पत्ति मे प० फूलचन्द्र जी द्वारा

उक्त स्वभाव आदि सभी के समवाय को कारण मानना असगत है क्योकि प्रत्येक द्रव्य का प्रतिक्षण जो षड्गुण हानि वृद्धि रूप स्वप्रत्यय परिणमन हो रहा है उसमे निमित्तो को कारणता प्राप्त नही है। यदि उस परिणमन मे भी निमित्तो को कारण माना जाय तो फिर उसका स्वप्रत्ययपना ही समाप्त हो जायगा जिससे आगम मे प्रदर्शित परिणमन के स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो भेदो की व्यवस्था ही भग हो जायगी। अर्थात् तब सभी परिणमन स्वपरप्रत्यय ही सिद्ध होगे कोई भी परिणमन स्वप्रत्यय सिद्ध नही होगा।

यद्यपि प० फूलचन्द्र जी ने जैनतत्त्वमीमासा के निमित्त कारण की स्वीकृति नामक प्रकरण मे पृष्ठ ४२ पर यह बतलाया है कि "वस्तु की शुद्ध पर्याय परनिरपेक्ष (केवल स्वप्रत्यय) होते हुए भी काल निमित्तक तो वह है ही" परन्तु इस विषय मे मैं पहले बतला चुका हूँ कि काल किसी भी वस्तु के किसी भी परिणमन मे निमित्त नही होता है। अर्थात् परिणमन तो वस्तु का अपने-अपने प्रतिनियत कारणो के बल पर ही होता है केवल इतना अवश्य है कि काल उस परिणमन का समय, आवली, मुहूर्त, घडी, घण्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदि के रूप मे विभाजन मात्र करता रहता है और यदि किसी कार्य के साथ काल का अन्वय व्यतिरेक घटित होता हो तो उस कार्य की उत्पत्ति मे काल को निमित्त मानने मे कोई आपत्ति नही है परन्तु स्वप्रत्यय परिणमन मे काल के अन्वय-व्यतिरेक के घटित होने की कभी सम्भावना नही है। इस विषय पर आगे विस्तार के साथ प्रकाश डाला जायगा।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे क्रियावादी मिथ्या दृष्टियो की गणना करते हुए आचार्य श्री नेमिचन्द्र ने काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव इनमे से एक-एक आधार से कार्योत्पत्ति मानने वाले मिथ्यादृष्टियो का कथन किया है। इस पर से प० फूलचन्द्र जी द्वारा यह सिद्धान्त स्थिर किया गया मालूम होता है कि यदि ईश्वर आदि पाँच मे से एक-एक से कार्योत्पत्ति मानने वाले मिथ्यादृष्टि है तो इनके समवाय से कार्योत्पत्ति मानने का सिद्धान्त सत्य है क्योंकि उन्होने उक्त स्वभाव आदि के समवाय को कार्योत्पत्ति मे कारण माना है और चू कि जैन-दर्शन मे ईश्वर को कर्ता नही माना गया है अत उन्होने ईश्वर के स्थान पर कर्म को कारण मानकर उसका अर्थ निमित्त कर दिया है तथा आत्मा समस्त वस्तुओ के समस्त परिणमनो मे जैन-दर्शन के अनुसार कारण नही होता है अत· उसके स्थान पर पुरुषार्थ को कारण मानकर उसका अथ प्रत्येक वस्तु का बल-वीर्य कर दिया है, परन्तु एक तो मैं पूर्व मे बतला चुका हूँ कि वस्तु के स्वप्रत्यय परिणमनो मे निमित्त की कारणता अपेक्षित नही रहा करती हैं, दूसरे अब मैं यह भी बतला देना चाहता हूँ कि प० फूलचन्द्र जी कर्म का अर्थ भले ही निमित्त मान लें व पुरुषार्थ का अर्थ भी वस्तु का बल-वीर्य मान ले, तो भी प० प्रवर बनारसी दास जी के—

> **"पद स्वभाव पूरव उदै निहचै उद्यम काल।**
> **पच्छपात मिथ्यात तज सरवगी शिव चाल॥"**

इस पद्य मे पठित "पूरव उदै" शब्द का वे सामान्य रूप मे निमित्त अर्थ कैसे करेंगे ? इसी तरह उद्यम भी चित्शक्ति

।

विशिष्ट आत्मा मे ही सम्भव है अचेतन पदार्थों मे उद्यम की कल्पना करना असम्भव है। तीसरी बात इस विषय मे मैं यह कहना चाहूँगा कि यदि गोम्मटसार कर्मकाण्ड से कथन के आधार पर प० फूलचन्द्र जी स्वभाव आदि पाँच के समवाय को कारण मानते हैं तो फिर गो० कर्मकाण्ड मे ही अलग से पौरुषवाद, दैववाद, सयोगवाद, तथा लोकवाद का कथन करते हुए नेमिचन्द्राचार्य ने अन्त मे गाथा ८९४ द्वारा जो यह कहा है कि "जितने वचन के प्रकार सम्भव हो उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हों उतने ही पर समय हैं" इसके रहते हुए केवल स्वभावादि पाँच के समवाय मे कार्योत्पत्ति के प्रति कारणता को सीमित करना कहाँ तक तर्क सगत है ?

इस विवेचन का सार यह है कि उक्त कथन मे आचार्य श्री नेमिचन्द्र की दृष्टि यह नही रही है कि ईश्वर आदि एक-एक के आश्रय से कार्योत्पत्ति मानने वाले मिथ्यादृष्टि हैं और इनके समवाय से कार्योत्पत्ति मानने वाले सम्यग्दृष्टि हैं। उनकी दृष्टि तो उसमे केवल इतनी ही रही है कि कौन परसमयवादी किस आधार पर कार्योत्पत्ति मानता है और उसकी वह मान्यता सत्य है अथवा असत्य है। एक बात और हैं कि यदि आचार्य नेमिचन्द्र की दृष्टि ईश्वर आदि के समवाय से कार्योत्पत्ति स्वीकार करने की होती तो वे अपने उक्त कथन मे ईश्वरवाद या आत्मवाद को किसी भी प्रकार स्थान नही दे सकते थे क्योकि मैं कह चुका हूँ कि जैन दर्शन मे न तो ईश्वर को कार्योत्पत्ति का कर्ता माना गया है और न समस्त कार्यों मे आत्मा को ही कारण माना गया है। इसके अतिरिक्त इस विषय मे मेरा कहना यह भी है कि स्वभाव आदि पाच मे

स्वभाव से नित्य उपादान और नियति से क्षणिक उपादान का अर्थ ग्रहण करने का कोई आधार पं० फूलचन्द्र जी ने जैनतत्त्वमीमासा मे नही प्रस्तुत किया है जब कि आचार्य श्री नेमिचन्द्र ने स्वभाववाद का अर्थ कर्मकाण्ड गाथा ८८३ मे और नियतिवाद का अर्थ गाथा ८८२ मे प० फूलचन्द्र के अभिप्राय से भिन्न ही किया है। इसी प्रकार पुरुषार्थ का अर्थ भी गाथा ८९० मे आचार्य श्री ने आत्मा द्वारा अपने मे उत्पन्न उत्साह के सहारे प्रयत्न करने रूप ही किया है। पुरुषार्थ का अर्थ करने मे उनकी दृष्टि वस्तु सामान्य के बल-वीर्य की ओर नही रही है। इतना ही नही, काल शब्द का अर्थ स्वकाल करके भी प० जी ने यह बतलाने का प्रयत्न नही किया है कि वह स्वकाल क्या है? और फिर मैं उनसे (प० जी से) यह भी कहना चाहूँगा कि कर्मकाण्ड मे स्थित नियति का लक्षण देखते हुए उसमे आपके द्वारा स्वीकृत काल का अन्तर्भाव क्यो नही हो सकता है? इसका भी स्पष्टीकरण उन्हे करना चाहिये था।

मैं कह आया हू कि कार्य के प्रति स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियत्ति और कर्म (निमित्त) के समवाय को कारण मानने मे मेरा साधारणतया विरोध नही है, लेकिन यहाँ पर स्वभाव से मेरा अभिप्राय आगमानुसार वस्तु की स्वतःसिद्ध परिणमन शक्ति का है अर्थात् परिणमन के लिये वस्तु मे परिणमन करने की स्वत सिद्ध योग्यता का अस्तित्व होना आवश्यक है। यदि यह योग्यता वस्तु मे स्वत सिद्ध न हो तो फिर अन्य कोई वस्तु उसमे परिणमन नही करा सकती है। इसी प्रकार वस्तु के परिणमन प्रतिनियत ही हुआ करते है। यह असम्भव है कि मिट्टी से कभी जुलाहा आदि के सहयोग से

घट भी तैयार हो सकता है। अर्थात् मिट्टी मे जब भी परिणमन होगा तो वह अनुकूल निमित्तो के सहयोग से घट अथवा सकोरा आदि प्रतिनियत रूप ही होगा। इतना ही नियति का अभिप्राय यहाँ लेना चाहिये। काल के विषय मे भी मेरा कहना यह है कि मिट्टी मे अनुकूल निमित्तो के सहयोग से जब भी घट की उत्पत्ति होगी तो वह स्थास, कोश, कुशूल आदि के क्रम से ही होगी। यह नहीं हो सकता है कि इस क्रम मे कभी व्यतिक्रम भी हो जावे। इस तरह इस नियत क्रम की सूचना देने वाला काल को मानना चाहिये। इसी तरह वस्तु मे जितने स्वपरप्रत्यय परिणमन होते हैं साधारणतया अनुकूल निमित्तो के सहयोग से ही हुआ करते हैं और उनमे भी कोई परिणमन ऐसे भी हुआ करते हैं जिनमे साधारण निमित्तो के साथ-साथ प्राणियो द्वारा किया गया प्रयत्न (पुरुषार्थ) भी कारण होता है। इस प्रकार यह व्यवस्था निश्चित होती है कि जितने भी स्वप्रत्यय परिणमन है वे सब वस्तु मे पाये जाने वाले स्वभाव, नियति और क्रमानुसार होते हैं तथा जो स्वपरप्रत्यय परिणमन है वे सब स्वभाव, नियति और क्रमानुसार होते हुए भी सामान्य अनुकूल निमित्तो के सहयोग से अथवा इनके साथ-साथ पुरुषकृत प्रयत्न से हुआ करते हैं।

प० फूलचन्द्र जी कहते हैं कि उपादान की तैयारी हो जाने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है और मैं भी कह देना चाहता हूँ कि प० जी की इस मान्यता से मेरा कोई विरोध नही है क्योंकि मैं मानता हूँ कि स्थास के अनन्तर ही कोश बनता है और कोश के अनन्तर ही कुशूल बनता है तब कही कुशूल के अनन्तर ही घट की उत्पत्ति होती है, परन्तु साथ मे यह

भी बात है कि घट का उपादान जो स्थूल रूप से कुशूल है उसकी उत्पत्ति भी तो अनुकूल निमित्तो के सहयोग से ही हुआ करती है। इसी प्रकार कुशूल का उपादान जो कोश है और कोश का उपादान जो स्थास है इनकी उत्पत्ति भी अनुकूल निमित्तो के सहयोग से ही हुआ करती है। यही व्यवस्था क्षण-वर्ती पर्यायों के विषय मे भी समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि स्वपरप्रत्यय परिणमनो मे जो एक का उपादान है वही दूसरे का कार्य है। अर्थात् प्रत्येक वर्तमान पर्याय जहाँ पूर्ववर्ती अनुकूल पर्याय का कार्य है वही वह उत्तरवर्ती अनुकूल पर्याय का कारण भी है। इसलिए उपादान की तैयारी मे भी निमित्तो का सह-योग अपेक्षणीय रहा करता है—यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है। उपादान की तैयारी सम्बन्धी इस कथन का प० फूलचन्द्र जी की विचार धारा के साथ कहा तक मेल बिठलाया जा सकता है—इस दृष्टि से यह विवेचन किया है, परन्तु वास्त-विकता यही है कि उपादान हमेशा द्रव्य ही हुआ करता है। वह पर्याय विशिष्ट ही होता है—यह बात दूसरी है लेकिन पर्याय तो कार्य मे ही अन्तर्भूत होती है वह उपादान कभी नही होती। इसका कारण यह है कि पूर्व पर्याय का विनाश होने पर ही उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है जब कि उपादान को कार्य मे हमेशा अनुस्यूत ही रहना चाहिये। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि जहाँ भी कार्यकारण भाव का निर्धारण करना हो तो वहाँ पर अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही करना चाहिए।

श्रीमद्भट्टाकलङ्क देव ने अपने ग्रन्थ अष्टशती मे आप्त-मीमासा की ८६ वी कारिका की टीका करते हुए निम्नलिखित

पद्य का उद्धरण दिया है—

"तादृशी जायते बुद्धि र्व्यवसायश्च तादृश ।
सहायास्तदृश. सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥"

श्रीमद्भट्टाकलङ्क देव का वल पाकर इस पद्य का उद्धरण प० फूलचन्द्र जी ने भी अपने "कार्य की सिद्धि केवल समर्थ उपादान से ही हो जाया करती है निमित्त तो वहा पर अकिंचित्कर हो रहा करते हैं।" इस पक्ष की पुष्टि के लिये जैनतत्त्वमीमासा के पृष्ठ ६६ पर दिया है और इसका अर्थ भी उन्होने वही पर यह किया है कि "जिस जीव की जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हा जाया करती है, वह प्रयत्न भी उसी प्रकार का करता है और उसे सहायक भी उसी प्रकार के मिलते हैं।"

इस पद्य को लेकर मुझे यहाँ पर इन वातो का विचार करना है कि श्रीअकलङ्क देव ने उक्त पद्य का उद्धरण अपने ग्रन्थ मे किस आशय से दिया है तथा जैन-दर्शन मे मान्य कारण व्यवस्था के साथ उसका एक तो मेल वैठता ही नही है और यदि मेल वैठता भी है तो किस तरह वैठता है ? इतना ही नही, इसके साथ मुझे इस वात का भी विचार करना है कि उसकी सहायता से प० फूलचन्द्र जी कारण व्यवस्था सम्बन्धी अपने पक्ष की पुष्टि करने मे कहाँ तक सफल हो सके है ?

स्वामी समन्तभद्र ने अपनी कृति आप्तमीमासा मे आप्त की मीमासा के प्रसङ्ग को लेकर जिनशासन मे मान्य अनेकान्तात्मक तत्त्व व्यवस्था की पुष्टि की है। और इसी प्रसङ्ग मे

उन्होने यह बात भी मान्य की है कि प्राणियो की अर्थ सिद्धि दैव और पुरुषार्थ दोनो कारणो के परस्पर सहयोग से ही हुआ करती है।

अर्थ सिद्धि के विषय मे इसके अतिरिक्त परस्पर विलक्षण विविध प्रकार की ऐकान्तिक मान्यताये भी लोक मे प्रचलित हैं जो निम्न प्रकार है—

कोई दर्शन प्राणियो की अर्थ सिद्धि पुरुषार्थ के बिना केवल दैव से ही मानता है। इसके विपरीत कोई दर्शन यह कहता है कि प्राणियो की अर्थ सिद्धि दैव के बिना केवल पुरुषार्थ से ही हो जाया करती है। यही नही, कोई दर्शन यह भी कहता है कि प्राणियो की कोई अर्थ सिद्धि तो पुरुषार्थ-विहीन केवल दैव से होती है और कोई अर्थ सिद्धि दैवविहीन केवल पुरुषार्थ से होती है। एक चौथा दर्शन भी लोक मे पाया जाता है जो कहता है कि प्राणियो की अर्थ सिद्धि न तो केवल दैव से होती है, न केवल पुरुषार्थ से होती है और न पृथक्-पृथक् अथवा सयुक्त रूप से दैव और पुरुषार्थ दोनो से होती है—इस तरह अर्थ सिद्धि के विषय मे कारणता की दृष्टि से अवक्तव्य विकल्प को छोड कर अन्य कोई विकल्प उसके मत मे स्वीकृत करने योग्य नही है।

इन सब अथवा इसी तरह के ऐकान्तिक पक्षो के प्रति अनास्था प्रगट करते हुये आप्त मीमासा की ८८ से ९१ तक की कारिकाओ द्वारा स्वामी समन्तभद्र ने यह सिद्ध किया है कि प्राणियो की अर्थ सिद्धि न केवल दैव से होती है, न केवल पुरुषार्थ से होती है और न पृथक्-पृथक् दैव और पुरुषार्थ से ही होती है

तथा न दैव और पुरुषार्थ दोनो के बिना ही अर्थ सिद्धि होती है, अपितु दैव और पुरुषार्थ दोनो के परस्पर सहयोग से ही अर्थ सिद्धि हुआ करती है।

इसमे यह निर्णीत होता है कि यदि कोई व्यक्ति कार्य सिद्धि के लिये पुरुषार्थ कर रहा हो और वहाँ पर दैव की अनुकूलता रहने के कारण कार्य की सिद्धि भी हो रही हो लेकिन दैव दुर्लक्षित हो रहा हो तो यह नही समझना चाहिये कि वह काय सिद्धि केवल पुरुषार्थ द्वारा ही हो गयी है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की कार्य सिद्धि के लिये दैव की अनुकूलता हो और पुरुषाथ की अनुकूलता के कारण कार्य की सिद्धि भी हो रही हो लेकिन पुरुषार्थ दुर्लक्षित हो रहा हो तो यह नही समझना चाहिये कि वह कार्य सिद्धि केवल दैव द्वारा ही हो गयी है किन्तु ऐसा समझना चाहिये कि वह कार्य सिद्धि दैव और पुरुषार्थ दोनो के परस्पर सहयोग से ही हुई है। इस प्रकार कारणो की खोज किये जाने पर यही फलित होता है कि प्राणियो की अर्थ सिद्धि दैव और पुरुषार्थ दोनो के परस्पर सहयोग से ही हुआ करती है। इसकी पुष्टि स्वामी समन्तभद्र के श्रीमद्अकलकदेव के और आचार्य विद्यानन्दी के उन कथनो से होती है जो उन्होने क्रमश आप्त मीमासा मे अष्टशती मे और अष्ट सहस्री मे किये है। आचार्य विद्यानन्दी ने अष्ट सहस्री पृष्ठ २५८ पर भी लिखा है—

"तथापेक्षानपाये परस्पर सहायत्वेन
दैव पौरुषाभ्यामर्थ सिद्धि"

इसका अर्थ यह है कि चूँकि प्राणियो की अर्थ सिद्धि मे कारणभूत दैव पुरुषार्थ की अपेक्षा रखता है और पुरुषाथ

दैव की अपेक्षा रखता है अत. परस्पर की अपेक्षा रखने के कारण दैव और पुरुषार्थ दोनो ही अर्थ सिद्धि के कारण हुआ करते है। इस तरह इससे ऊपर के कथन की पुष्टि होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि "तादृशी जायते बुद्धि." इत्यादि रूप मे ग्रथित उक्त पद्य प० फूलचन्द्र जी द्वारा प्रतिपादित (उल्लिखित अर्थ के आधार पर प्राणियो की अर्थ सिद्धि के विषय मे जैन-दर्शन द्वारा मान्य दैव और पुरुषार्थ की सम्मिलित कारणता का प्रतिरोध ही करता है, कारण कि उक्त पद्य के उक्त अर्थ से यही ध्वनित होता है कि "प्राणियो की अर्थ सिद्धि केवल भवितव्य के अधीन है और यदि उस अर्थ सिद्धि मे प्राणियो की बुद्धि, व्यवसाय तथा अल्प सहायक कारणो की अपेक्षा रहती भी हो तो वे बुद्धि, व्यवसायादि सभी कारण भी उक्त पद्य के उक्त अर्थ के अनुसार भवितव्यता की अधीनता मे ही प्राप्त हुआ करते हैं।" यत यह व्यवस्था जैन-दर्शन मे मान्य नही की गयी है क्योकि जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार प्राणियो के अर्थ की सिद्धि मे दैव और पुरुषार्थ दोनो ही परस्पर सहयोगी बनकर समान रूप मे कारण हुआ करते हैं अत उक्त पद्य की जैन-दर्शन की मान्यता के साथ विरोध की स्थिति निर्विवाद हो जाती है। इससे यह बात भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जैन दर्शन की मान्यता के विरुद्ध होने के कारण इस पद्य को प० फूलचन्द्र जी द्वारा अपने पक्ष की पुष्टि मे प्रमाण रूप से उपस्थित किया जाना अनुचित ही है। श्री भट्टाकलंकदेव ने उक्त पद्य का जो उद्धरण आप्तमीमासा की ८९ वी कारिका की अष्टशती मे दिया है उसमे उनका आशय इससे साक्षात् अपने पक्ष की पुष्टि का न होकर केवल पुरुषार्थ से अर्थ सिद्धि मानने

वाले दर्शन के खण्डन करने मात्र का ही है। यही कारण है कि उक्त पद्य को उन्होने जैन-दर्शन का अग न मानकर केवल लोकोक्ति के रूप मे ही स्वीकार किया है। यह वात उनके (श्री मदकलक देव के) द्वारा उक्त पद्य के पाठ के अनन्तर पठित "इति प्रसिद्धे" वाक्याश द्वारा ज्ञात हो जाती है। तात्पर्य यह है कि श्रीमदकलङ्क देव उन लोगो से—जो दैव की उपेक्षा करके केवल पौरुपमात्र से प्राणियो को अर्थ सिद्धि स्वीकार करते हैं—यह कहना चाहते है कि एक ओर तो तुम दैव के विना केवल पुरुपार्थ से ही अर्थ की सिद्धि मानते हो और दूसरी ओर यह भी कहते हो कि अर्थ सिद्धि मे कारणभूत वुद्धि, व्यवसायादि की उत्पत्ति या सप्राप्ति भवितव्यता से ही हुआ करती है। इस तरह वुद्धि, व्यवसायादि की उत्पत्ति या सप्राप्ति मे दैव (भवितव्यता) को कारणता प्राप्त हो जाने से परस्पर विरोधी मान्यताओ को प्रश्रय प्राप्त हो जाने के कारण "केवल पुरुषार्थ से ही अर्थ सिद्धि होती है"[1] यह मान्यता खण्डित हो जाती है।

एक वात और है कि उक्त पद्य का जो अर्थ प० फूलचन्द्र जी ने किया है वह स्वय ही एक तरह से उनकी इस मान्यता का विरोधी है कि "कार्य केवल भवितव्यता (समर्थ उपादान शक्ति) से ही निष्पन्न हो जाया करते हैं निमित्त तो वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर ही वने रहते हैं।" क्योकि उक्त पद्य से यही ध्वनित होता है कि कोई भी काय भवितव्यता के साथ-साथ वुद्धि, व्यवसायादि कारणो का सहयोग प्राप्त हो जाने पर ही निष्पन्न होता है। केवल इनकी विशेषता जानना चाहिये कि वे वुद्धि, व्यवसायादि सभी दूसरे कारण भवितव्यता के अनुसार

ही प्राप्त हुआ करते हैं। इसलिये उस पद्य को बुद्धि, व्यवसायादि मे अर्थ सिद्धि की विद्यमान कारणता का निषेधक कदापि नही कहा जा सकता है।

यदि कहा जाय कि उक्त पद्य जब उक्त प्रकार से भवितव्यता के साथ-साथ बुद्धि-व्यवसायादि को भी कार्य के प्रति कारण बतलाता है तो फिर इसे जैन-दर्शन मे मान्यकारण व्यवस्था का विरोधी कहना असत्य है तो इस विषय मे मेरा कहना यह है कि पद्य मे कार्य के प्रति भवितव्यता के साथ-साथ जिन बुद्धि, व्यवसायादि की कारणता का समर्थन किया गया है उनकी उत्पत्ति अथवा प्राप्ति को उसी भवितव्यता की दया पर छोड दिया गया है जो कार्य की जननी है और यह बात अयुक्त है कि जो भवितव्यता कार्य की जननी है वही भवितव्यता उस कार्य की कारणभूत बुद्धि आदि की भी जननी है क्योकि यदि ऐसा माना जायगा तो इस तरह अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी। इसका कारण यह है कि कार्य की कारणभूत बुद्धि आदि को भी यदि कार्य की कारणभूत भवितव्यता का ही कार्य माना जायगा तो उनकी उत्पत्ति के लिये अन्य बुद्धि आदि कारणो की आवश्यकता होगी और उनके भी भवितव्यता का कार्य हो जाने से उनकी उत्पत्ति के लिये भी अन्य बुद्धि आदि कारणो की आवश्यकता होगी—इस तरह अनवस्था दोष को टालना असभव हो जायेगा। इसलिये इस अनवस्था दोष को टालने के लिये यदि यह माना जाय कि कार्य मे कारणभूत बुद्धि आदि की उत्पत्ति के लिये अन्य बुद्धि आदि कारणो की अपेक्षा नही रहा करती है—उनकी उत्पत्ति तो केवल कार्य मे कारणभूत भवितव्यता से ही हो जाया

करतो है इसलिये अनवस्था दोष की प्रसक्ति नही होगी, तो इसका परिणाम यह होगा कि ऐसी दशा मे कार्य की उत्पत्ति को भी केवल भवितव्यता से मानने की प्रसक्ति हो जायगी तब इसका भी परिणाम यह होगा कि कार्य की उत्पत्ति मे बुद्धि आदि की अकिंचित्करता प्रसक्त हो जायगी। इस पर यदि प० फूलचन्द्र जी यह कहे कि कार्य तो केवल भवितव्यता के आधार पर ही उत्पन्न हुआ करता है बुद्धि आदि उसमे अकिंचित्कर ही रहा करते हैं तो इस विषय मे भी मेरा कहना यह है कि कार्योत्पत्ति के प्रति बुद्धि आदि को अकिंचित्कर मान लेने पर "तादृशी जायते बुद्धि" इत्यादि पद्य ही निरर्थक हो जायगा। दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि पूर्व मे कार्योत्पत्ति के प्रति निमित्त कारणो की अकिंचिन्करता का खण्डन और कार्यकारिता का समर्थन विस्तार से किया गया है उससे यह निर्णीत हो जाता है कि प० फूलचन्द्र जी का कार्य की उत्पत्ति को केवल भवितव्यता के आधार पर स्वीकार कर उसमे बुद्धि आदि की अकिंचित्करता को मानना मिथ्या है।

इस तरह जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार तो यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि स्वपरप्रत्यय कार्योत्पत्ति मे जिस प्रकार उपादानकारणरूप से स्वत सिद्ध भवितव्यता कारण होती है उसी प्रकार निमित्त कारण रूप से अपने-अपने कारणो से निष्पन्न बुद्धि आदि भी कारण हुआ करते हैं। अपनी-अपनी सत्ता मे भवितव्यता और बुद्धि आदि दोनो ही एक दूसरे के अधीन नही है। इतना अवश्य है कि कार्योत्पत्ति मे दोनो ही एक दूसरे की अधीनता स्वीकार किये हुए है। अर्थात् वस्तु मे कार्योत्पत्ति की योग्यता हो लेकिन बुद्धि आदि का सहयोग उसे प्राप्त न हो

तो कार्योत्पत्ति नही होगी व इसी तरह बुद्धि आदि का सहयोग प्राप्त हो लेकिन भवितव्यता न हो तो भी वस्तु मे कार्योत्पत्ति नही होगी। इसका फलितार्थ यह हुआ कि "तादृशी जायते बुद्धि" इत्यादि पद्य जैन-दर्शन की मान्यता के प्रतिकूल ही है क्योकि जिस भवितव्यता से कार्य की उत्पत्ति होती है उसी भवितव्यता से उस कार्य की उत्पत्ति मे कारणभूत बुद्धि आदि की उत्पत्ति अथवा सप्राप्ति मानना पूर्वोक्त प्रकार जैन-दर्शन की मान्यता के साथ समन्वय को प्राप्त नही होती है।

प० फूलचन्द्र जी ने जैनतत्त्वमीमासा के 'उपादान निमित्त मीमासा' प्रकरण में पृष्ठ ६७ पर अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिये प० प्रवर टोडरमल जी के मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के अधिकार ३ पृष्ठ ८१ का उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि "तादृशी जायते बुद्धि" इस पद्य मे प्रतिपादित कारण व्यवस्था को जैन-दर्शन मे इसी ढग से मान्य किया गया है। उनका वह कथन निम्न प्रकार है—

"सो इनकी सिद्धि होय तौ कपाय उपशमनेतै दु ख दूरि होइ जाइ सुखी होइ। परन्तु इनकी सिद्धि इनके किये उपायनि के आधीन नाही, भवितव्य के आधीन है। जातै अनेक उपाय करते देखिये है अर सिद्धि न हो है। वहुरि उपाय वनना भी अपने आधीन नाही, भवितव्य के आधीन है। जातै अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिये है। वहुरि काकतालीय न्यायकरि भवितव्य ऐसी ही होइ जैसा आपका प्रयोजन होइ तैसा ही उपाय होइ अर तातै कार्य की सिद्धि भी होइ जाइ तौ जिस कार्य सम्वन्धी कोई कपाय का उपशम होइ।"

प० फूलचन्द्र जी ने प० प्रवर टोडरमल जी के इस कथन के विषय मे अपना मन्तव्य भी वही पर यह लिखा है कि "यह पण्डित प्रवर टोडरमल जी का कथन है मालूम पडता है कि उन्होने "तादृशी जायते बुद्धि." इत्यादि श्लोक मे प्रतिपादित तथ्य को ध्यान मे रखकर ही यह कथन किया है इसलिये इसे उक्त अर्थ के समर्थ न मे ही जानना चाहिये।

इस विषय मे मेरा कहना यह कि प० फूलचन्द्र जी प० प्रवर टोडरमल जी के उल्लिखित कथन से जो अर्थ फलित कर रहे है वह ठीक नही है क्योकि मैं वतला आया हूँ कि जैन-दर्शन मे केवल भवितव्य से कार्य सिद्धि न मानकर भवितव्य और पुरुषार्थ दोनो के परस्पर सहयोग से कार्य सिद्धि मानी गयी है। इसलिये जैन-दर्शन की इस मान्यता को ध्यान मे रखकर ही प० प्रवर टोडरमल जो के कथन का आशय निकालना चाहिये।

बात यह है कि प० प्रवर टोडरमल जी के उक्त कथन से यह तो प्रगट होता नही कि कार्य की सिद्धि केवल भवितव्य से ही हो जाती है उसमे पुरुषार्थ अपेक्षित नही रहता है। वे तो अपने उक्त कथन से इतनी ही बात कहना चाहते हैं कि कितने ही उपाय करते जावो यदि भवितव्य अनुकूल नही है तो कार्य की सिद्धि नही हो सकती है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष तो कदापि नही निकाला जा सकता है कि यदि भवितव्य अनुकूल है तो बिना पुरुषार्थ के ही कार्य की सिद्धि हो सकती हैं। जैसे मैं पहले कई स्थलो पर स्पष्ट कर चुका हूँ कि मिट्टी मे पट बनने की योग्यता नही है तो जुलाहा आदि निमित्त सामग्री का कितना ही योग मिलाया जावे उससे पट का निर्माण नही होगा, फिर

भी इससे यह निष्कर्ष तो कदापि नही निकाला जा सकता है कि मिट्टी मे यदि घट के निर्माण की योग्यता हैं तो कदाचित् कुम्भकार आदि निमित्त सामग्री के सहयोग के विना ही घट का निर्माण हो जायगा।

सत्य बात तो यह है कि एक ओर तो मिट्टी मे पटनिर्माण की योग्यता के अभाव मे जुलाहा आदि निमित्त सामग्री का सहयोग उससे पट के निर्माण मे सर्वदा असमर्थ ही रहेगा और दूसरी ओर उस मिट्टी से घट निर्माण की योग्यता के सद्भाव मे भी घट का निर्माण तभी सभव होगा जब कि उसे कुम्भकार आदि निमित्त सामग्री का अनुकूल सहयोग प्राप्त होगा और जब तक उसे कुम्भकार आदि निमित्त सामग्री का सहयोग प्राप्त नही होगा तब तक उससे घट का निर्माण असभव ही रहेगा। यह बात दूसरी है कि उस समय मिट्टी को जैसी अनुकूल निमित्त सामग्री का सहयोग प्राप्त होगा वैसा हो कार्य उस मिट्टी से उस समय उत्पन्न होगा।

प० प्रवर टोडरमलजी के उक्त कथन का यह भी अभिप्राय नही है कि अमुक मिट्टी से चूकि घट का निर्माण होना है अत उसकी प्रेरणा से कुम्भकार तदनुकूल व्यापार करता है, क्योकि यदि ऐसा माना जाय तो व्यक्ति को कभी कार्य मे असफलता नही मिलनी चाहिये, दूसरे यह बात अनुभव के भी विरुद्ध है। इसका कारण यह है कि लोक मे कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य के करते समय यह अनुभव नही करता है कि चू कि अमुक वस्तु से इस समय अमुक कार्य निष्पन्न होना है इसलिये मेरा व्यापार उसके अनुकूल हो रहा है। इसके विपरीत वह तो कार्योत्पत्ति के समय केवल इतना

ही जानता है कि अमुक कार्य मुझे उत्पन्न करना है और वह मेरे प्रयत्न द्वारा अमुक वस्तु मे उत्पन्न हो सकता है इसलिये वह तदनुकूल प्रयत्न करने लगता है। अब यदि उस वस्तु मे उस कार्यरूप परिणत होने की योग्यता है और उसका प्रयत्न भी तदनुकूल हो रहा है तो उसमे उस कार्य की उत्पत्ति पूर्ण निमित्त सामग्री का सहयोग मिलने पर हो जाती है और यदि उस वस्तु मे उस कार्यरूप परिणत होने की योग्यता नहीं हो, या उस व्यक्ति का प्रयत्न उसके अनुकूल न हो अथवा सम्पूर्ण आवश्यक निमित्त सामग्री का सहयोग प्राप्त न हो तो उससे वह कार्य निष्पन्न नही होगा या जैसी योग्यता हो, अथवा जैसा प्रयत्न हो या जैसी निमित्त सामग्री का सहयोग प्राप्त हो वैसा ही कार्य उस वस्तु से होगा। अर्थात् वस्तु की योग्यता, व्यक्ति का प्रयत्न और अन्य निमित्त सामग्री का योग मिलने पर ही विवक्षित कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है। यही कारण है कि वस्तुगत योग्यता का ठीक-ठीक ज्ञान न होने पर अथवा व्यक्ति की अपनी अकुशलता के कारण अथवा अन्य निमित्त सामग्री की अनकूलता के कारण व्यक्ति को अनेको वार विवक्षित कार्य की उत्पत्ति मे असफलता ही हाथ लग जाया करती है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भवितव्यता हो, तदनुकूल उपाय किये जावें और तदनुकूल अन्य निमित्त सामग्री का सहयोग प्राप्त हो तो विवक्षित कार्य की सिद्धि नियम से होगी, अन्यथा तीनो मे से किसी एक भी कारण का यदि अभाव होगा तो विवक्षित काय की सिद्धि नही होगी।

इस विवेचन से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि प० फूलचन्द्रजी प० प्रवर टोडरमल जी के उक्त कथन से जो 'तादृशी

जायते वुद्धि·" इस पद्य का समर्थन करना चाहते है वह उचित नही है ।

यद्यपि प० प्रवर टोडरमल जी ने अपने उल्लिखित कथन मे लिखा है कि "वहुरि उपाय वनना भी अपने आधीन नाही भवितव्य के आधीन है", परन्तु इससे भी प० फूलचन्द्रजी के इस अभिप्राय का समर्थन नही होता है कि "जो भवितव्यता कार्य की जनक है वही भवितव्यता उस कार्य मे कारणभूत वुद्धि और पुरुपार्थ आदि की जनक होती है ।" इसका कारण यह है कि प० प्रवर टोडरमल्जी के कथन मे भवितव्यता शब्द से सामान्यतया चेतन रूप और अचेतन रूप सभी तरह के कार्यो की उपादानशक्ति को नही ग्रहण किया गया है, केवल प्राणियो की अर्थसिद्धि मे कारणभूत भवितव्यता को ही ग्रहण किया गया है, अत. ऐसी भवितव्यता जीव के पारिणामिक भाव भव्यत्व या अभव्यत्व ही हो सकते हैं अथवा कर्म के यथासभव उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से प्राप्त अर्थसिद्धि के अनुकूल जीव की योग्यता हो सकती है। अव यहा पर ध्यान इस वात पर देना है कि मान लीजिये—किसी व्यक्ति मे धनी वनने की योग्यता है, लेकिन वह व्यक्ति केवल योग्यता का सद्भाव होने से ही धनी वन जायगा—यह मान्यता जैनदर्शन की नही है किन्तु जैनदर्शन की तो मान्यता यह है कि उस व्यक्ति को धनी वनने के लिये अपनी वुद्धि का उपयोग करना होगा, तदनुकूल पुरुपार्थ करना होगा तथा उसमे तदनुकूल अन्य सहकारी कारण भी अपेक्षित होंगे। यह जो प० फूलचन्द्रजी के कहे अनुसार सिद्ध होता है कि उस व्यक्ति मे पायी जाने वाली धनी वनने की योग्यता ही "तादृशी जायते वुद्धि"

इत्यादि पद्य के अनुसार बुद्धि, पुरुषार्थ तथा अन्य साधन सामग्री को संग्रहीत कर लेगी, तो यह कथन जैनदर्शन की मान्यता के विपरीत है—यह मैं पूर्व मे स्पष्ट ही कर चुका हूं। इतना होने पर भी मैं यह मानने के लिये तैयार हू कि जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार भी व्यक्ति में बुद्धि का उद्भव तदनुकूल ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से प्रकटता को प्राप्त योग्यता (भवितव्यता) के आधार पर ही होता है और यही बात पुरुषार्थ के उद्भव मे भी समझ लेना चाहिये। इस प्रकार पं० प्रवर टोडरमल जी ने जो यह लिखा है कि "उपाय बनना अपने आधीन नाही भवितव्य के आधीन है" यह न तो असगत है और न जैन-दर्शन के प्रतिकूल ही है, कारण कि प्राणियो को अर्थसिद्धि मे जो भी बुद्धि, पुरुषार्थ आदि उपाय अपेक्षित रहते हैं वे सब अपने-अपने अनुकूल ज्ञानावरणादि कर्मो के क्षयोपशम आदि के आधार पर निष्पन्न भवितव्यता के आधार पर ही हुआ करते हैं।

इस प्रकार यदि यह दृष्टि "तादृशो जायते बुद्धि." इत्यादि पद्य का अर्थ करने मे अपनायी जावे तो फिर इसके साथ भी जैन-दर्शन मे मान्य कारण व्यवस्था का कोई विरोध नही रह जाता है।

अन्त मे मैं पुन· इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यदि हमारे बुद्धि, व्यवसाय आदि उसी भवितव्यता के अनुसार हुआ करते है जो कार्य को जननी होती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा कार्य करने का सकल्प भी उसी भवितव्यता के अनुसार ही होना चाहिये, ऐसी हालत मे कार्य के विषय मे

मनुष्य जैसा चाहता है वैसा ही कार्य नियम से होना चाहिये, इस तरह "मनुष्य चाहता तो कुछ और है और कार्य कुछ होता है" यह स्थिति कदापि नही होनी चाहिये।

एक और भी अर्थ "तादृशी जायते बुद्धि" इत्यादि पद्य का किया जा सकता है, वह यह है कि जिस कार्य के अनुकूल वस्तु मे भवितव्यता (उपादान शक्ति) विद्यमान रहती है उस वस्तु से समझदार व्यक्ति उसी कार्य के उत्पन्न करने की बुद्धि (भावना) करता है और वह पुरुषार्थ भी तदनुकूल ही करता है तथा वहाँ पर तदनुकूल सहायक साधनो का उपयोग होता है। इस तरह पद्य का यदि ऐसा अभिप्राय निकाला जाय तो भी जैन-दर्शन की मान्यता के साथ इसका विरोध नही रह जाता है।

तात्पर्य यह है कि उक्त पद्य का जो भी अर्थ किया जाय उससे प० फूलचन्द्र जी का यह मत पुष्ट नही होता है कि "भवितव्यता (उपादान शक्ति) से ही कार्य उत्पन्न होता है, निमित्त वहाँ अकिंचित्कर ही रहा करते है।"

इस प्रकार "कार्य के प्रति निमित्तो की सार्थकता" नामक इस प्रकरण मे मैंने अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और यथावश्यक आगम के प्रमाणो द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कार्योत्पत्ति के लिये जिस प्रकार वस्तु की निजी योग्यता आवश्यक है उसी प्रकार यदि वह कार्य स्वपरप्रत्यय हो तो वहा सहायक होने रूप से निमित्त सामग्री की भी आवश्यकता है। अर्थात् प्रत्येक स्वपरप्रत्यय कार्य प्रत्येक वस्तु मे उसमे विद्यमान निजी उपादान शक्ति तथा अनुकूल निमित्त

सामग्री के सहयोग से ही हुआ करते है। यानि कार्यरूप परिणत तो उपादान ही होता है लेकिन उसका वह परिणमन अनुकूल निमित्त सामग्री का सहयोग मिलने पर ही होता है। इसके अतिरिक्त जो भी वस्तु के स्वप्रत्यय कार्य हुआ करते है वे निमित्तो के सहयोग के बिना केवल वस्तु की उपादान शक्ति के आधार पर ही कालक्रम से होते रहते हैं। इतना अवश्य है कि कोई भी कार्य केवल परप्रत्यय नही हुआ करते हैं।

यद्यपि इस प्रकरण से जैनतत्त्वमीमासा के प्राय सभी विषय मीमासित हो जाते हैं फिर भी शेष विषयो की मीमासा दूसरे भाग मे यथावश्यक रूप से की जायगी।

॥ इति ॥

आवश्यक शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
५	१५	लिखा जाना	लिखे जाने
७	४	जैनतत्त्वमीमासा प्रारम्भ	जैनतत्त्वमीमासा की मीमासा प्रारम्भ
७	५	तत्त्वमीमासा	जनतत्त्वमीमांसा
७	७	,,	,,
८	२	होना है	होता है
१०	१८	होकर	हाने पर
१२	२०	मतभेद कहा कहा है ?	इस वाक्यको पक्ति २०से अलग करके उपशीर्षक के रूप मे पृथक् पढ़ना चाहिये ।
१६	५	जहां भी प० फूलचन्द्र जी	जहा प० फूलचन्द्र जी
१६	१२	भिन्न रखने वालो	भिन्न मत रखने वालो
१६	२५	कहना है जब	कहना है कि जब
१७	५	निमित्त	निमित्तो
१८	३	,,	,,
१९	९-१०	अस्पष्ट गलत	अस्पष्ट, गलत
२०	४	गाथा १८३	गाथा १८२
२०	६	गाथा १८४	गाथा १८३

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२०	७	होना है	होना है
२१	८,६,१०	आदि लौकिक पद्यों का सहारा लिया है। "तादृशी जायते बुद्धि व्यवसायश्च तादृशः सहायास्तादृशा सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥"	"तादृशी जायते बुद्धि व्यवसायश्च तादृशः । सहायास्तादृशा सन्तिः यादृशी भवितव्यता।" आदि लौकिक पद्यों का सहारा लिया है।
२३	२६	हो जाते हैं।	होते जाते हैं।
२४	२२	अपेक्षा अपेक्षित हो	सहायता अपेक्षित हो
२६	१६	सूयकान्तमणि	सूर्यकान्तमणि
३१	१३	स्वत. सिद्धय्	स्वत. सिद्धम्
३५	६	सख्यानियत	सख्या नियत
३५	१८	पररूपेणापरिणमवाद	पररूपेण परिणम नाद
३७	१४	वरत्वस्ति	वस्त्वस्ति
४०	११	एव च एति	एव च सति
४१	७	घट मौलिसुवर्णार्यो	घटमौलि सुवर्णार्यो
४६	८	भेद कारण	भेद का कारण
५४	११	यकपने	ज्ञायकपने
५७	६	दृष्टान्त	दार्ष्टान्त
५८	२	करण	कारण
५६	७	निमित्त प्रवान	यथावश्यक निमित्त प्रधान
५६	२४	गुण विघादो	गुणु प्याओ
५६	२५	॥ ३७७ ॥	॥ ३७२ ॥
६१	१६	अकित्करता	अकिंचित्करता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
६२	२३,२४	शब्दादीना	शब्दादिना
६४	१५	दोनो	दोनो के
६७	१५	प्रत्येक परिणमन	प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक परिणमन
६७	१६	परिणमन स्वभाव	परिणमन-स्वभाव
६७	२०	आवती	आवली
६८	१५	कथन	कथन करना
६९	२२,२३	स्व सापेक्ष पर निरपेक्ष तथा स्व-परसापेक्ष	(स्वसापेक्ष परनिरपेक्ष तथा स्वपरसापेक्ष)
७०	६	स्वसापेद्य पर-निरपेक्ष	स्वसापेक्षपरनिरपेक्ष
७२	१	तो	तब
७५	३	परपदार्थ व गाहक	परपदार्था व गाहक
७५	२३	मुख—	मुख
८१	२६	यही कारण है	यही कारण है कि
८२	६	अपके	अपने
८४	१७	प्रतिफलनि	प्रतिफलति
८७	१६	पुद्गल द्रव्य	अनन्त पुद्गल द्रव्य
८८	२१	नही नही	नही
८८	३	वर्णन	वर्तन
८८	१४	जीव को	जीव की
८९	३	समस्त प्रतिक्षण	समस्त पदार्थ प्रतिक्षण
८९	१०	एकस्पर्शन	एक स्पर्शन
८९	१२	नासिक	नासिका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
९१	२३	दर्शन को	दर्शन का
९२	१	आगम के	आगम मे
९२	११	प्रतिभास न	प्रतिभासन
९३	२	रहते हुए	रहते हुए भी
९३	६	निर्णित	निर्णीत
९३	२२	पर व्यवसायात्म का	परव्यवसायात्मकता का
९४	१६	दर्शन का सद्भाव	पदार्थ दर्शन का सद्भाव
९५	२	पाँच प्रकार	पाँच प्रकार का
९६	५	जो जिसमे	जिसमे
९७	५	आत्मान परम्	आत्मन· परम्
९७	७	अर्थज्ञान	अर्थ ज्ञान
९७	१३	इन्द्रियो मे किसी इन्द्रिय द्वारा	इन्द्रियो मे से किसी भी इन्द्रिय द्वारा
९७	२५	पदार्थ आकार का	पदार्थ के आकार का
९८	६	होने होने वाले	होने वाले
९८	११	केवय ज्ञान मे	और केवलज्ञान मे
९८	१६	और चूँकि ये तीनो ज्ञान	और ये तीनो ज्ञान
९९	५	पदार्थ दर्शन का सद्भाव	पदार्थ दर्शन का असद्भाव
१००	१०	प्रत्येकज्ञानदर्शनके	प्रत्येक ज्ञान दर्शन के
१०३	१५	उदासीन रूप से निमित्त ही	उदासीन रूप से ही निमित्त
१०४	११	अखण्डता के लिये हुए	अखण्डता को लिये हुए

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१०८	६	यही	यहा
११०	१३-१४	जीव पुद्गल	जीव और पुद्गल
१११	२३	अभव्यतत्व	अभव्यत्व
११४	१५	सम्यग्दर्शन प्राप्ति	सम्यग्दर्शन की प्राप्ति
११७	११	विरोध्वत्	विरोधात्
११७	१७	शुद्धिभाजायात्मना	शुद्धि भाजामात्मना
१२२	४	सादि है	व्यक्ति सादि है
१२२	९	यार तत्र्यस्यानु-भावात्	पार तत्र्यस्यानुभवात्
१२२	१४	अशुद्ध शक्ति	अशुद्धि शक्ति
१२५	२	दृष्टान्त	दार्ष्टान्त
१२५	५	दृष्टान्त के साथ	दार्ष्टान्त के साथ
१२५	११	दृष्टान्त के साथ	दार्ष्टान्त के साथ
१२५	१७	योगान्तिश्रयिते	योगान्निश्रीयते
१२६	६	प्रत्येक जीवो	प्रत्येक जीव
१३०	९	वद्धस्पृष्ट अवद्ध स्पृष्ट	बद्ध स्पृष्ट और अबद्ध स्पृष्ट
१३१	६	बद्ध समाप्त	बद्ध स्थिति समाप्त
१३३	२१	पारिणामकौ	पारिणामिकौ
१३४	१८	अधिक आवश्यक	अत्यन्त आवश्यक
१३५	२२	नोकर्म परिणत	नोकर्म रूप परिणत
१३५	२४	गाथा ८६	गाथा ८०
१३७	१४	नियत रूप रूप से	नियत रूप से
१३८	१८	रूप मे छोडकर	रूप को छोडकर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१४०	१५	एक से अर्थ	एक ही अर्थ
१४०	१६	देशाशो पर	देशाशो
१४४	२२	जो स्वीकार किया गया है तो	जो स्वीकार किया गया है इसका आशय यह है कि
१४६	२४	उनके आकार का होता है तो	उनके आकार का होता है इसका आशय यह है कि
१५०	१०-११	अवस्था निमित्त	अवस्था में निमित्त
१५१	६	स्थान-स्थान उस पर तो	उस पर तो यथास्थान
१५४	४	परिणति सहायक	परिणति मे सहायक
१५७	८	निमित्त नैमित्तिक भाव	निमित्त नैमित्तिक भाव
१५८	१-२	व्यवहारमय	व्यवहारनय
१६०	४	पदार्थों से	पदार्थों मे
१६१	१६	इसको वात अवश्य है एक की	इतनी वात अवश्य है कि एक की
१६१	१७	रहने से निश्चय-नय का	रहने से वह निश्चयनय का
१६१	१६	रहने से व्यवहार-नय का	रहने से वह व्यवहारनय का
१६१	२३	शब्दो द्वारा प्रति-पादन	शब्दो द्वारा अर्थ का प्रति-पादन
१६७	२	भूलार्थ	भूतार्थ
१६७	१२	सम्प्राप्त्रि प्रत्ययौ-पण्य	सम्प्राप्ति प्रत्ययोपण्य
१६६	४	कथचित्	कल्पित

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१६९	६	नयाश्रित	द्वयाश्रित
१७३	११	प्रदेशका प्रदेशवान	प्रदेश और प्रदेश वान
१७७	१-१२	गाथा न० २५,२६ २७, २८,२९, ३०	गाथा न० २०, २१, २२,२३ २४, २५
१७७	५	एव	एय
१७७	१२	सक्का	सत्तो
१७८	१४	पाये जाने वाले	पाये जाने वाले सयोग तथा सयोग के आधार पर पाये जाने वाले
१७८	१६	इनमे केवल इतना ही अन्तर स्वतत्र	केवल तादात्म्य और सयोग मे इतना ही अन्तर है कि
१८७	७	आत्मा कल्याण	आत्मकल्याण
१८७	९	आत्म ज्ञान मे	आगम ज्ञान मे
१९०	२०	मिथ्या का	मिथ्या या
१९४	१५	बद्दशा का	बद्ध दशा
१९६	३	सद्भूत बद्धता सयोग	सद्भूत बद्धता रूप सयोग
१९९	१८	पर अपने आप	पर यह अपने आप
१९९	२०	समाज करने	समाप्त करने
२००	४-५	यथा सभव मे	यथा सभव
२०२	११	पर जीव के	पर होने वाली जीव के
२०४	४	उपयुक्ताकाररूप	उपयुक्ताकार रूप
२१०	१	इसदतन	इरादतन
२१०	२५	मे था क्रम से	मे यथाक्रम से
२१२	१८	व्यवहार आदि सम्यक् चारित्र	व्यवहार सम्यक् चारित्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२२१	२५	पापाचरण व्यवहार	पापाचरण रूप व्यवहार
२२४	७	हेतु को बनाकर	हेतु बनाकर
२२८	२४	जीव केवलज्ञान	जीव के केवल ज्ञान
२२६	५	प्रसत्त	प्रसक्त
२३३	७	हो जाती है	हो जाती हो
२३४	११	कार्माणि वर्गणा रूप	कार्मण वर्गणा रूप
२३४	१६	कार्माण वर्गणा मे	कार्म्मण वर्गणायें
२३७	१२-१३	ते सयमपरिणमते कह तु परिणाम यदि पाणी ॥गा० १२५ का उत्तरार्ध	ते सयमपरिणमते कह णु परिणामयदि चेदा ॥ गा० ११८ का उत्त०
२३७	२२-२३	त सयमपरिणमत कह परिणामएदि कोहत्ता ॥ गा० १२८ का उत्तरार्ध	त सयम परिणमत कह णु परणामयदि कोहो ॥ गा० १२३ का उत्तरार्ध ॥
२३८	२०	कार्य-कर्तव्य	कार्य कर्तृत्व
२४३	८	घटरूप	पटरूप
२५७	१६	युक्त द्रव्य	युक्त
२६३	२	इस वात मे कि	इस वात मे है कि
२८३	११	निरपेक्ष पर निरपेक्ष	निरपेक्ष, परनिरपेक्ष
२६४	१६-१७	पैदा ही नही होता है	पैदा होता है

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२६४	१९	तब वे	जब वे
२६६	५	सकप	सकल्प
२६६	१२	प० जगन्मोहन लाल जी कर	प० जगन्मोहन लाल जी का
२६६	१७	प्रश्न	प्रश्न है
२६६	२५,	निमित्ता नैमित्तिक	निमित्त नैमित्तिक
२६९	१२	केवल त्रान	केवल ज्ञान
२६९	२६	उस हाल मे	उस हालत मे
२७०	७	प्रयात	प्रपात
२७०	१५	उनके समक्षी	सपक्षी
२७०	१५	अतिंचित्कर	अकिंचित्कर
२७४	१८	शब्द से	शब्द मे
२८२	४	परिणमन न तो	परिणमन तो
२९५	७	कहा जाना	कहा जाता
२९५	१४	द्रव्य समर्थ	द्रव्य रूप समर्थ
३००	२३	सभवति	सभवति
३०१	१३	आत्मा को	आत्मा का
३०६	१७	उपयुक्ताकार भाव वर्ती	उपयुक्ताकार ज्ञान रूप भाववती
३०७	९	सातिशय क्षयोपशम	सातिशय क्षयोपशम अथवा क्षय
३०९	१७	यह आश्रय	यह आशय
३११	८	इसका अवश्य है	इतना अवश्य है
३२१	१०	निष्क्रिया	निष्क्रियता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
३२४	१५	अनुचरित	अनुपचरित
३२५	२४	लर्थात्	अर्थात्
३२५	२५	जसे	जैसे
३२६	२१	उपचरित अर्थ	उपचरित अर्थ के
३३४	१५	वरिरग कर्तृत्व	वहिरग कर्तृत्व
३३६	१८	जैसे व्यवहार रत्न-श्रय	जिसे व्यवहार रत्नत्रय
३३७	२२	अन्न क	अन्न के
३३९	२१	प्रतिपादन करके	प्रतिपादन न करके
३४४	८	वह पर	वहाँ पर
३४५	१	यह वात दूसरी	यह वात दूसरी है
३५०	६	कुम्भ कर्तव्य	कुम्भ कर्तृत्व
३६०	३	सहायास्तादृशः	सहायास्तादृशा
३६४	२४	केवल उनकी	केवल इतनी
[illegible]	[illegible]	मेरा कहना यह	मेरा कहना यह है